विषय-सूची

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

—: ० :—

वक्तव्य

भारतीय दर्शनशास्त्र का यह इतिहास एकेडेमी ने सन् १९४१ में प्रकाशित किया था। भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं के क्रम-बद्ध अध्ययन के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

प्रस्तुत संस्करण में इस पुस्तक की रूपरेखा और विषय-वस्तु में बहुत अधिक संशोधन और परिवर्द्धन हो गया है। इसके मूल-लेखक तो डा० देवराज हैं, किन्तु इस संस्करण में डा० रामानन्द तिवारी शास्त्री के सहयोग से विषयवस्तु में पर्याप्त विस्तार हुआ है। रामानुज के परवर्ती वैष्णव-सम्प्रदायों तथा शैव-शाक्त दर्शनों पर दो स्वतन्त्र अध्याय दिये गये हैं और अंत में एक परिशिष्ट जोड़ दिया गया है जिसमें वेदांत के कुछ ऐसे आचार्यों का वर्णन है, जिनका उल्लेख पहले संस्करण में नहीं था। बौद्ध तथा जैन दर्शन के विवेचन में मूल्यवान नई सामग्री का उपयोग हुआ है। न्याय और वैशेषिक दर्शनों का परिचय भी अधिक विस्तृत रूप में दिया गया है।

हमें विश्वास है कि यह संस्करण विद्यार्थियों तथा साधारण पाठकों के लिये पहले की अपेक्षा और अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

धीरेन्द्र वर्मा

मंत्री, हिंदुस्तानी एकेडेमी

लेखकों के सम्मान्य गुरु

श्रद्धेय प्रो० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे

भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

तथा

पूर्वलेखक के पूज्य आचार्य महामहोपाध्याय

स्व० पं० बालकृष्ण मिश्र

भूतपूर्व प्रिंसिपल, ओरियंटल कालिज, काशी विश्वविद्यालय

को

सादर सविनय समर्पित

प्रस्तावना

'भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास' का यह दूसरा संस्करण पाठकों के हाथों में है। प्रायः दो वर्ष पूर्व जब हिंदुस्तानी एकेडेमी ने मुझे सूचना दी कि पुस्तक का दूसरा संस्करण अपेक्षित है तो मैं बड़े असमंजस में पड़ गया। बिना संशोधन-परिवर्धन के पुस्तक छपाना अभीष्ट न था, और वैसा करने का मुझे अवकाश न था। इस संकट में मैंने अपने मित्र डॉ॰ रामानंद तिवारी से प्रार्थना की कि वे पुस्तक को दूसरे संस्करण के लिए तैयार कर दें। तिवारी जी ने उदारता और स्नेहवश स्वीकार कर लिया। इसके लिये मैं उनका चिर-आभारी हूँ।

पुस्तक में संशोधन की अपेक्षा परिवर्धन ही अधिक हुआ है; पूर्व ग्रंथ में महत्वपूर्ण संशोधन प्रस्तुत लेखक ने ही किये हैं। उदाहरण के लिये बौद्ध-दार्शनिक संप्रदायों वाला अध्याय फिर से लिखा गया है, तथा जैन दर्शन में 'स्याद्वाद' पर एवं वैशेषिक में 'सामान्य' पदार्थ पर पूर्वलिखित अंशों में संशोधन किये गये हैं। प्रथम भाग में 'चार्वाक-दर्शन' तथा 'भूमिका' में कई परिवर्धन तिवारी जी द्वारा किये गये हैं। शेष ग्रंथ प्रथम संस्करण की आवृत्ति ही है।

दूसरे भाग में विस्तृत परिवर्धन हुआ है। पूर्व संस्करण में रामानुज के बाद के वैष्णव संप्रदायों पर एक संक्षिप्त-सा परिशिष्ट दे दिया गया था और शैव-शाक्त दर्शनों पर उतना भी नहीं। इस संस्करण में इन विषयों पर दो स्वतंत्र अध्याय दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त न्याय-वैशेषिक दर्शनों का परिचय अधिक विस्तृत कर दिया गया है और उन्हें विशद रूप में अलग-अलग प्रतिपादित किया गया है। सांख्य से अलग योग-दर्शन का विस्तृत निरूपण भी इस संस्करण की विशेषता है। सामान्यतः तिवारी जी की नैतिक-धार्मिक अभिरुचि प्रस्तुत लेखक की विशुद्ध तर्क-दृष्टि की पूरक सिद्ध हुई है, जिससे पुस्तक को लाभ हुआ है।

दोनों लेखकों की दृष्टियों में अनिवार्य अन्तर है; इससे जहाँ ग्रंथ की एकस्वरता अर्थात् मूल्यांकन एवं गौरव की समानता में व्याघात पड़ता है वहाँ यह लाभ भी होता है कि पाठकों को दो भिन्न दृष्टिकोणों का परिचय मिल जाता है। (इसीलिए तिवारी जी तथा अपने द्वारा किये हुए संशोधन-परिवर्धनों का अलग-अलग उल्लेख अपेक्षित हुआ।) जहाँ मैं यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि प्राचीन भारतीय संस्कृति का मुझे किसी से कम गर्व है, अथवा उसमें मुझे किसी से कम ममत्व है, वहाँ मैं मानता हूँ कि आज के युग में हम उस संस्कृति को ही पकड़ कर नहीं बैठे रह सकते। जिस प्रकार कालिदास के प्रेमी होने का यह अर्थ नहीं कि आज हम स्वतंत्र नया काव्य न लिखें, उसी प्रकार प्राचीन दर्शनों तथा अन्य सांस्कृतिक परंपराओं के प्रेम और उचित गर्व का यह मतलब नहीं कि आज हम युगोचित नवीन दर्शनों एवं परंपराओं का निर्माण न करें। सच पूछो तो एक राष्ट्र या जाति के जीवित होने का सबूत ही यह है कि वह प्रत्येक बौद्धिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में नये प्रयोग करती हुई नयी परंपराएँ विकसित करती रहे। इस दृष्टि से योरप के देश वस्तुतः जीवित कहे जा सकते हैं। वहाँ जहाँ इब्सन और बर्नार्डशा ने नाटकों के क्षेत्र में नयी परंपरा को प्रतिष्ठित किया वहां इलियट, मार्सेल प्रू आदि लेखकों ने काव्य तथा उपन्यास क्षेत्रों में क्रांतिकारी प्रयोग किये। इसी प्रकार दर्शन के क्षेत्र में रसेल, विट गैन्स्टाइन आदि ने क्रान्ति उपस्थित की है। बौद्धिक दृष्टि से जीवित जाति पुरानी युक्तियों और मान्यताओं को दुहराती नहीं (जैसा कि काशी की पंडित मंडली सदियों से करती आयी है), इसके विपरीत मानव-जाति के बढ़ते हुए ज्ञान और अनुभव के आलोक में वह नये प्रश्न उठाती और उन पर नये ढंग से विचार करती है। स्पष्ट ही नये प्रयोग करने का अर्थ योरप की त्यक्त या प्रचलित परंपराओं की नकल नहीं है।

रामानुज के कुछ पूर्व से ही हिन्दू दर्शन की प्रगति शिथिल पड़ गयी। इसका एक कारण हमारे देश से बौद्ध धर्म का लोप होना भी

था। बौद्ध विरोधियों के अभाव में हिन्दू विचारकों की तर्क-बुद्धि क्रमशः अपनी सप्राणता खोती गयी। इस दृष्टि से आज.भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान हमारी संस्कृति के लिये श्रेयस्कर सिद्ध हो सकता है। बौद्ध दर्शन वर्तमान "पाज़िटिविज़्म" के भी निकट है।

पुस्तक की भूमिका में दर्शन का सामान्य परिचय पश्चिमी ढंग से दे दिया गया था जिसका औचित्य संदिग्ध था; इस संस्करण में भारतीय दर्शन की विशेषताओं का भी विशद उल्लेख किया गया है। अनिवार्य रूप में पहले संस्करण की छाप प्रस्तुत संस्करण पर रह ही गयी है।

प्रथम संस्करण में महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी का सुंदर प्राक्कथन था जिसमें प्रोत्साहन देनेवाली प्रशंसा के अतिरिक्त पुस्तक की दो-एक कमियों का संकेत भी था। इस संस्करण में उन कमियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। आशा है अपने वर्तमान रूप में यह "इतिहास" विद्वानों को रुचिकर लगेगा।

पूर्व संस्करण तैयार करते समय और उसके बाद डॉ० मंगलदेव शास्त्री, पं० अमरनाथ झा तथा महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज से लेखक को जो प्रोत्साहन मिला था उसके लिये वह उनका चिर कृतज्ञ रहेगा।

पुस्तक की विषय-वस्तु में अब भी जो कमियाँ रह गयी हैं उनका दायित्व प्रस्तुत लेखक पर है; पूर्व संस्करण की अपेक्षा से उसमें ज कुछ अच्छाइयाँ दिखायी देती हैं उनका श्रेय मेरे मित्र तिवारी जी को है। उन्हें धन्यवाद देने के बदले मैं सिर्फ इतना कह दूँ कि उन्हीं के सहयोग से यह दूसरा संस्करण संभव हुआ है।

लखनऊ
२० अगस्त, १९५०

देवराज

प्रथम भाग

भूमिका

दर्शनशास्त्र की आवश्यकता

इस आर्थिक संकट और प्रतिद्वंद्विता के युग में दर्शन जैसे गंभीर विषय पर पुस्तक लिखने वाले से कोई भी व्यावहारिक बुद्धि का मनुष्य यकायक पूछ सकता है, 'इस की आवश्यकता ही क्या थी ?' वास्तव में इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। उत्तर तो बहुत हैं, पर उन का मूल्य प्रश्नकर्ता के अध्ययन और बौद्धिक योग्यता पर निर्भर है। जिसका यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य केवल पशुओं में एक पशु है और उस की आवश्यकताएं भोजन-वस्त्र तथा प्रजनन-कार्य (संतानोत्पत्ति) तक ही सीमित हैं, उस के लिए उक्त प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। परंतु जो मनुष्य को केवल पशु नहीं समझते, जिन्हें मानव-बुद्धि और मानव-हृदय पर गर्व है, जो यह मानते हैं कि मनुष्य केवल रोटी खाकर जीवित नहीं रहता, मनुष्य सोचनेवाला या विचारशील प्राणी है, उन के लिए इस प्रश्न का उत्तर मिलना कठिन नहीं है। वास्तव में वे ऐसा प्रश्न ही नहीं करेंगे। मनुष्य और पशु में सब से बड़ा भेद यह है कि मनुष्य जो कुछ करता है, उस पर विचार करता है, जब कि पशु को इस प्रकार की जिज्ञासा कभी पीड़ित नहीं करती। मनुष्य रोता है और रोने पर कविता लिखता है, हँसता और हँसने के कारणों पर विचार करता है, पत्नी के होठों को चूमता है और फिर प्रश्न करता है, 'यह मोह तो नहीं है ?' पशु और मनुष्य दोनों को दुःख उठाने पड़ते हैं, दोनों की 'मृत्यु' होती है ; परंतु 'दुःख' और 'मृत्यु' पर विचार करना मनुष्य का ही काम है। यह समझना भूल होगी कि दार्शनिक विचारकों को 'दुःख' और 'मृत्यु' से कोई विशेष प्रेम होता है। वास्तव में दार्शनिक 'मृत्यु' और 'दुःख' पर इस लिए विचार करते हैं कि वे जीवन

के अंग हैं। संसार की सारी विद्याएं मनुष्य की जीवन में अभिरुचि की द्योतक हैं, दर्शनशास्त्र का तो मुख्य विषय ही जीवन है। कवि और उपन्यासकार की भाँति दार्शनिक भी जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालना चाहता है। यही नहीं, जीवन की समस्याओं पर जितनी तत्परता से दार्शनिक विचार करता है उतना कोई नहीं करता।

दर्शनशास्त्र क्या है ?

यहां प्रश्न यह उठता है कि यदि दार्शनिक, कवि और उपन्यासकार सभी जीवन पर विचार करते हैं तो फिर कविता, उपन्यास और दर्शन में क्या भेद है? 'दर्शन-शास्त्र' को 'साहित्य' से पृथक् करने वाली क्या चीज़ है? उत्तर यह है कि दर्शन-शास्त्र की शैली साहित्य से भिन्न है। यह मुख्य भेद है। प्रायः कवि और उपन्यासकार जीवन पर विचार करने में किसी नियम का पालन नहीं करते। दार्शनिक चिंतन नियमानुसार होता है। अब यदि कोई आप से पूछे कि दर्शन-शास्त्र क्या है, तो आप कह सकते हैं कि जीवन पर नियमानुसार, किसी विशेष पद्धति से विचार करना 'दर्शन' है। जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन करना ही दर्शनशास्त्र का काम है। लेकिन जब हम जीवन पर नियम-पूर्वक विचार करना आरंभ करते हैं तब हमें मालूम होता है कि जीवन को समझने के लिए केवल जीवन का अध्ययन ही काफ़ी नहीं है। जिस जीवन को हम समझना चाहते हैं वह मनुष्य का या स्वयं अपना जीवन है। परंतु वह जीवन संसार की दूसरी वस्तुओं से संबद्ध है। हम पृथ्वी के ऊपर रहते हैं और आकाश के नीचे, हम हवा में साँस लेते हैं और जल तथा अन्न से निर्वाह करते हैं। हमारे जीवन और पशुओं के जीवन में बहुत बातों में समता है, बहुत में विषमता। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं वह सौर-मंडल का एक भाग है, वह सौर-मंडल भी करोड़ों तारों, ग्रहों और उपग्रहों में एक विशेष स्थान रखता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य जैसा छोटा प्राणी पृथ्वी से हज़ारों गुने सूर्य और सूर्य से लाखों गुने विशाल नक्षत्रों की गति, ताप और परिमाण पर

विचार करता है। इस विराट् ब्रह्मांड में, इस देखने में छोटे, तुच्छ मनुष्य का क्या स्थान है, यह निर्णय करना दर्शनशास्त्र की प्रमुख समस्या है। विश्व-ब्रह्मांड के रंगमंच पर यह रोने, हँसने, सोचने और विचारने वाला मनुष्य नामक प्राणी जो पार्ट खेल रहा है उस का, विश्व-ब्रह्मांड के ही दृष्टि-कोण से, क्या महत्व है, यही दार्शनिक जिज्ञासा का विषय है। संसार के प्राणी पैदा होते हैं और मर जाते हैं। परंतु मरने से पहले मनुष्य तरह-तरह के काम करता है। वह भविष्य की चिंता करता है और अपने बच्चों के लिए धन इकट्ठा करता है; धन-संग्रह करने में वह कभी-कभी बेईमानी और फिर पश्चात्ताप भी करता है; वह नरक से डरता है और स्वर्ग की कामना रखता है; वह कविता लिखता है, कहानी पढ़ता है, स्पीचें देता है, पार्टी-बंदी करता है, अपनी स्वतंत्रता और अधिकारों के लिए लड़ता है; वह मंदिर, मस्जिद और गिर्जे में जाता है तथा अपना परलोक सुधारने का प्रयत्न करता है। मनुष्य की इन सब क्रियाओं का क्या अर्थ है, और उन का क्या मूल्य है? मर कर मनुष्य का और जीवन में उस ने जो प्रयत्न किए हैं उन का क्या होता है? हम जो अच्छे प्रयत्न कर रहे हैं, यश प्राप्त करने में लगे हैं, इस का क्या महत्त्व है? क्या इस जीवन के साथ ही हमारे अरमान, हमारी आशाएँ और आकांक्षाएं, हमारी अच्छे बनने की इच्छा, हमारी दूसरों का भला करने की साध—क्या यह सब मरने के साथ ही नष्ट हो जाते हैं? क्या हम सचमुच मर जाते हैं, हमारा कुछ भी शेष नहीं रहता? संसार के विचारकों ने इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिए हैं। उन उत्तरों पर विचार करने का और नया उत्तर सोचने का भी, आपको अधिकार है। दर्शनशास्त्र ऐसे ही विचार-क्षेत्र में आपका आह्वान करता है।

हम में से बहुतों ने सुन रक्खा है कि दर्शनशास्त्र में 'दुनिया कैसे बनी? दुनिया को किस ने बनाया और क्यों? ईश्वर है या नहीं? क्या बिना ईश्वर के दुनिया बन सकती है? जगत परमाणुओं का बना है या

किसी और चीज़ का ? तत्व पदार्थ कितने हैं ?' इत्यादि प्रश्नों पर बहस की जाती है। यह ठीक है कि दर्शनशास्त्र इन प्रश्नों पर विचार करता है। परंतु वह इन प्रश्नों के विषय में इस लिए सोचता है कि यह प्रश्न 'जीवन क्या है ?' इस बड़े प्रश्न से संबंध रखते हैं। जब आप रेल-द्वारा कहीं जाना चाहते हैं तो आप को स्टेशन तक समय पर जाना, टिकट ख़रीदना आदि अनेक काम करने पड़ते हैं। यह काम आप के उद्देश्य में सहायक हैं, स्वयं उद्दिष्ट नहीं। इसी प्रकार जीवन को समझने के लिए दर्शन-शास्त्र को इधर-उधर के अनेक कामों में फँसना पड़ता है। मनुष्य का असली उद्देश्य जीवन को समझ कर उसे ठीक दिशा में चलाना है। इसी के लिए, जीवन के कल्याण-साधन के लिए ही, उसे ईश्वर तथा अन्य देवी-देवताओं की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार यदि आप वस्तुतः दर्शन-शास्त्र में रुचि उत्पन्न करना चाहते हैं तो आपको चाहिए कि आप उन समस्याओं का जो कि देखने में जीवन से उदासीन प्रतीत होती हैं, जीवन से संबंध जोड़ लें। आप जो किसी संबंधी के मर जाने पर रोते हैं उस का पुनर्जन्म की समस्या से कुछ संबंध है, आप जो अपने मित्रों को प्यार करते हैं उस का जीवन के अंतिम लक्ष्य से कुछ संपर्क हो सकता है; जीवन में आप को निराशा और असफलता होती है जिस से कि कर्म-सिद्धांत और ईश्वर की सत्ता पर प्रभाव पड़ता है; आप का प्रकृति-प्रेम आप में और प्रकृति में किसी गूढ़ संबंध का द्योतक है। इस तरह जीवन पर दृष्टि रख कर विचार करने से आप को दर्शनशास्त्र कभी रूखा नहीं लगेगा।

दर्शनशास्त्र केवल ब्राह्मणों के लिए नहीं है वह ख़ास तौर से न पापियों के लिये है न पुण्यात्माओं के लिए। और चीज़ों की तरह पाप-पुण्य, धर्म और अधर्म पर (निष्पक्ष होकर) विचार करना भी दर्शन-शास्त्र का ही काम है। दर्शनशास्त्र केवल उन के लिए है जो जीवन को समझना चाहते हैं। परंतु प्रायः जो जीवन पर विचार करना चाहते हैं वे साधारण लोगों से कुछ ऊँची कोटि के मनुष्य होते हैं; उन में उच्च-जीवन

की कामना भी होती है। कठिन से कठिन और ऊँचे से ऊँचे विषयों पर दर्शनशास्त्र में विचार होता है, इस लिए दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी की तुच्छ वस्तुओं और प्रश्नों में रुचि होनी कठिन है।

दर्शनशास्त्र और विभिन्न विज्ञान

भौतिक जगत जीवन की रंगभूमि है। भौतिक शरीर और आत्मा कही जाने वाली वस्तु में गंभीर संबंध मालूम होता है। शारीरिक दशाओं और मानसिक दशाओं में भी घनिष्ठ संबंध है। इस संबंध को ठीक-ठीक समझने के लिए भौतिक-तत्वों तथा शरीर की बनावट का अध्ययन भी आवश्यक है। आजकल का कोई भी दार्शनिक भौतिक-विज्ञान और शरीर-विज्ञान के मूल सिद्धांतों की उपेक्षा नहीं कर सकता। प्राचीन-काल में यह शास्त्र इतने उन्नत न थे, इस लिए प्राचीन दार्शनिक भौतिक और प्राणिजगत के विषय में या तो युक्तिपूर्ण कल्पना से काम लेते थे, या उन के प्रति उदासीन रहते थे। परंतु आजकल के दार्शनिक का काम इतना सरल नहीं है। जीवन के विषय में जहाँ से भी कुछ प्रकाश मिल जाय उसे वहां से ले लेना चाहिए। समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि भी मानव-जीवन का अध्ययन करते हैं। इन विषयों का दर्शन से घनिष्ठ संबंध है। इसी प्रकार मनोविज्ञान भी दार्शनिक के लिए बड़े काम की चीज़ है। यदि हम मानव-जीवन को ठीक-ठीक समझना चाहते हैं तो हमें उस का विभिन्न परिस्थितियों में अध्ययन करना पड़ेगा। मानव-जीवन को सामाजिक और भौतिक दो प्रकार के वातावरण में रहना पड़ता है, उसे राजनीतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक परिस्थितियों से गुज़रना पड़ता है। मनोविज्ञान के नियम व्यक्ति और समाज के व्यवहारों पर शासन करते हैं। इस प्रकार दार्शनिक को थोड़ा-बहुत सभी विद्याओं का ज्ञान आवश्यक है। प्रश्न यह है कि इतने 'शास्त्रों' के रहते हुए 'दर्शनशास्त्र' की अलग क्या आवश्यकता है? इन विज्ञानों और शास्त्रों से अलग दर्शनशास्त्र के अध्ययन का विषय भी क्या हो सकता है?

मान लीजिए कि आप के सामने एक मेज़ रक्खी हुई है। आप अपने कमरे के चार स्थानों से खड़े होकर मेज़ को देखिए, आपको मालूम होगा कि उन चारों स्थानों से मेज़ की शक्ल एक-सी दिखलाई नहीं देती। आप की जगह अगर 'कैमरा' ले ले तो मेज़ के चार भिन्न फ़ोटो तैयार हो जायँगे। जिस जगह खड़े होकर आप मेज़ को देखते हैं वह आप का 'दृष्टिकोण' कहा जाता है। एक ही वस्तु विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रकार की दिखलाई देती है। विभिन्न विज्ञान या शास्त्र जगत् का विशेष दृष्टिकोणों से अध्ययन करते हैं। इस तथ्य को यों भी प्रकट किया जाता है कि प्रत्येक शास्त्र विश्व की घटनाओं में से कुछ को अपने अध्ययन के लिए चुन लेता है। राजनीति का विद्यार्थी शासन-संस्थाओं और उन के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करता है, उत्तरी ध्रुव पर हवा का तापक्रम क्या है इस से उसे कोई मतलब नहीं। परंतु भूगोल के विद्यार्थी के लिये दूसरा प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार खगोलशास्त्र का छात्र तारों के निरीक्षण में मग्न रहता है जब कि शरीर-विज्ञान का विद्यार्थी या डाक्टर तारों से कोई सरोकार नहीं रखता। अर्थशास्त्र के अध्येताओं को मनोविज्ञान से विशेष मतलब नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न शास्त्रों के विद्यार्थियों ने जगत को खंड-खंड कर डाला है। सब अपने-अपने विषय के अध्ययन में लगे हैं, सब जगत को एक विशेष पहलू से देखते हैं, समूचे जगत पर कोई दृष्टि नहीं डालता। परंतु संपूर्ण विश्व पर दृष्टिपात करना उसे समझने के लिए नितांत आवश्यक है। आप किसी युवती के सौंदर्य का माप (तोल) उस के शरीर के अवयवों को अलग-अलग करके देखने से नहीं कर सकते। सिर्फ़ नाक, सिर्फ़ नेत्र, सिर्फ़ मुख, सिर्फ़ हाथों आदि में कुछ सौंदर्य हो सकता है, लेकिन शरीर का पूरा सौंदर्य इन सब के एकत्र होने पर ही प्रकट होता है। इस लिए जब कि विश्व का एकांगी अध्ययन करने वाले भौतिक और सामाजिक शास्त्र आवश्यक हैं, संपूर्ण विश्व पर

Samrendrapratap Singh

एक साथ विचार करने के लिए भी एक शास्त्र की ज़रूरत है। ऐसा शास्त्र दर्शनशास्त्र है। दर्शनशास्त्र समस्त ब्रह्मांड पर एक साथ विचार करता है, इस लिए कि बिना संपूर्ण ब्रह्मांड को देखे जीवन का स्वरूप समझ में नहीं आ सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे कि बिना पूरा मुख देखे 'नाक कितनी सुंदर है' इस का निर्णय नहीं किया जा सकता। इसीलिए दर्शन-शास्त्र में जगत की उत्पत्ति, जगत का उपादान कारण आदि पर विचार किया जाता है। विभिन्न शास्त्रों या साइंसों तथा उन के विषय-वस्तु में क्या संबंध है, तर्क-शास्त्र और तारा-शास्त्र (भूगोल-विद्या), मानस-शास्त्र और भौतिक-शास्त्र के सिद्धांतों में किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है, यह बताना दर्शनशास्त्र का काम है। कहीं-कहीं विभिन्न शास्त्रों के सिद्धांतों में विरोध हो जाता है जिस पर दर्शनशास्त्र को विचार करना पड़ता है। व्यवहार-दर्शन या आचार-शास्त्र का यह मौलिक-सिद्धांत है कि 'मनुष्य जो चाहे वह कर सकता है, वह स्वतंत्र है'; बिना इस को माने दंड और पुरस्कार को व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि मैं कर्म करने में स्वतंत्र नहीं हूँ तो मेरे कहे जाने वाले कर्मों का उत्तरदायित्व मुझ पर नहीं हो सकता और मुझे पापों की सज़ा नहीं मिलनी चाहिए। परंतु भौतिक-शास्त्र और मनोविज्ञान बतलाते हैं कि विश्व की सब घटनाएं अटल नियमों के अनुसार होती हैं; कोई चीज़ स्वतंत्र नहीं है, हमारे कर्म भी विश्व के नियमों का पालन करते हैं। आप के मन में एक बुरा विचार उठता है, वह किसी नियम के अनुसार; आप उसे उठने से रोक ही नहीं सकते थे, ठीक जैसे कि आप हवा को नहीं रोक सकते। इसी प्रकार आप की इच्छाएं मनोविज्ञान के नियमों का पालन करती हैं। आप के कर्म आप की इच्छाओं पर निर्भर नहीं हैं और इस तरह आप कर्म करने में स्वतंत्र नहीं हैं। इन शास्त्रों के विरोध पर विचार करके उन में सामंजस्य स्थापित करना दार्शनिक का काम है। 'एक सत्य दूसरे सत्य का विरोधी नहीं हो सकता' यह दर्शनशास्त्र का मूल विश्वास है। यदि दो सिद्धांत एक-

दूसरे को काटते हैं तो दोनों एक साथ सत्य नहीं हो सकते। सत्य एक है, और वह संपूर्ण विश्व में व्याप्त है। दर्शनशास्त्र उसी सत्य की खोज में है।

हम कह सकते हैं कि दर्शनशास्त्र समस्त विश्व को समझने की चेष्टा है। दार्शनिक विश्व के किसी पहलू की उपेक्षा नहीं कर सकता। जानने की इच्छा मनुष्य का स्वभाव है; समस्त विश्व के बारे में कुछ सिद्धांत स्थिर करने की आकांक्षा भी स्वाभाविक है। 'विश्व-ब्रह्मांड में मनुष्य का क्या स्थान है, इस पर प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ मत स्थिर करने की चेष्टा करता है। जो ज्ञान-पूर्वक जीवन की क्रियाओं में भाग लेना चाहते हैं, जो भेड़-बकरियों की तरह नेतृत्व के लिए दूसरों का मुख नहीं देखना चाहते, वे इस प्रकार का मत बनाने की विशेष चेष्टा करते हैं। परंतु मनुष्य के भविष्य और सृष्टि-संचालन के विषय में कोई न कोई मत हर मनुष्य का होता है, इस प्रकार हर मनुष्य दार्शनिक है। प्राणवायु की तरह दर्शन-शास्त्र हमारे शरीर के तत्वों में व्याप्त है। ऐसी दशा में प्रश्न केवल अच्छे और बुरे दार्शनिक बनने का रह जाता है। दर्शन-शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य दूसरे विद्वानों के विचारों से परिचित होता है तथा स्वयं वैज्ञानिक ढंग से विचार करना सीखता है। मनुष्य की विचार-शक्ति और समझने की योग्यता बढ़ाने के लिए दर्शनशास्त्र से बढ़ कर सार्वभौम और व्यापक कोई विषय नहीं है। दर्शनशास्त्र सब विषयों और विद्याओं को छूता है; दर्शन का विद्यार्थी किसी भी दूसरे शास्त्र को सुगमता से समझ सकता है। जो औरों के लिए कठिन है वह दार्शनिक के लिये खेल है। अन्य विषयों के पढ़ने से दार्शनिक अध्ययन में सहायता तो मिलती ही है। दर्शन के अध्ययन के लिए सब से अधिक सतर्क निरीक्षण-शक्ति या जीवन को देखने की क्षमता की आवश्यकता है।

दर्शनशास्त्र की शाखाएं

अध्ययन की सुगमता के लिए आधुनिक-काल के विद्वानों ने दर्शन-शास्त्र को शाखाओं में विभक्त कर दिया है प्राचीन-काल में ऐसी शाखाएँ न थीं। तथापि प्रत्येक दार्शनिक

किसी क्रम से अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करता था। दर्शनशास्त्र की समस्याएं बहुत और विविध हैं, इसी लिए उन के वर्गीकरण की आवश्यकता पड़ती है और उन का अध्ययन अलग-अलग किया जाता है। नीचे हम दर्शन की मुख्य शाखाओं के नाम देते हैं।

१—प्रमाण-शास्त्र तथा प्रमाशास्त्र—अंग्रेज़ी में हम इसे 'एपिस्टोमालोजी' कहते हैं। योरुप के लिए यह नई चीज़ है, परंतु भारत के दार्शनिक इस का महत्व प्राचीन-काल से जानते थे। तत्वज्ञान संभव भी है या नहीं? यदि हां, तो उस की उपलब्धि किन उपायों से हो सकती है? ज्ञान का स्वरूप क्या है? ज्ञान के साधन कितने प्रकार के हैं? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देना इस शास्त्र का काम है।

२—तत्वमीमांसा ('आंटालोजी')—यह शाखा विश्वतत्व का अध्ययन करती है। जगत के मूलतत्व कौन और कितने हैं? क्या ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन तत्वों को मानना चाहिए अथवा इन में से किसी एक को? चार्वाक के मत में प्रकृति ही एक तत्व है जो स्वयं पंचभूतों का समूह है। जैनी जीव और जड़ दो तत्व मानते हैं। वेदांत का कथन है कि तत्व-पदार्थ केवल एक ब्रह्म या आत्मा है। कुछ लोग तत्व को परमाणुमय मानते हैं, कुछ के मत में शून्य ही तत्व है। कुछ बौद्ध-विचारक विज्ञानों (मन की दशाओं जैसे रूप, रस आदि का अनुभव, सुख, दुःख आदि) को ही चरम तत्व मानते हैं।

३—व्यवहार-शास्त्र ('एथिक्स')—इस में कर्तव्याकर्तव्य पर विचार होता है। मनुष्य को अच्छे कर्म क्यों करने चाहिए? हम दूसरों को धोखा देकर क्यों न रहें? सचाई से प्रेम क्यों करें? हिंसा से क्यों बचें? दूसरों का दिल क्यों न दुखाएं? क्या बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है? यदि हां तो वह फल कर्म स्वयं दे लेते हैं या कोई ईश्वर उन का फल देता है? क्या पुनर्जन्म मानना चाहिए? मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है? यदि हम मानव-जीवन का कोई लक्ष्य न मानें तो क्या कोई हर्ज है? कर्म और मोक्ष

में क्या संबंध है ? क्या मोक्ष जैसी कोई चीज़ है ? यदि हां तो वह ज्ञान से मिल सकती है या कर्म से, इत्यादि ।

४—मनोविज्ञान ('साइकालोजी')—प्राचीन काल में यह भी दर्शन-शास्त्र का भाग था । हमारे मन में जो तरह-तरह की विचार-तरंगें उठा करती हैं वे क्या किन्हीं नियमों का पालन करती हैं ? अथवा विचारों का प्रवाह नियम-हीन और उच्छृंखल है ? हमें तरह-तरह के कर्मों में प्रवृत्त कौन करता है ? प्रवृत्ति का हेतु क्या है ? हमारी आकांक्षाओं और मनोवेगों का कोई भौतिक आधार भी है ? क्या शरीर के स्वास्थ्य आदि का मानसिक जीवन पर कोई प्रभाव पड़ता है ?

५—सौंदर्य-शास्त्र ('ईस्थेटिक्स')—यह सिर्फ़ आधुनिक-काल की चीज़ है । प्रकृति और मनुष्य में जो सौंदर्य दिखाई देता है उस का स्वरूप क्या है ? भारतीय दर्शनों ने सौंदर्य पर विशेष विचार नहीं किया है । गीता कहती है कि सुंदर पदार्थ भगवान् की विभूतियाँ हैं, भगवान् की अभिव्यंजक हैं । सांख्य और रामानुज के अनुसार सतोगुण सौंदर्य का अधिष्ठान है । भारतीय दर्शनशास्त्र के सौंदर्य-संबंधी विचारों पर अभी खोज नहीं हुई है । आशा है कोई सहृदय पाठक इसे करने का संकल्प करेंगे ।

इन के अतिरिक्त और भी तरह-तरह की समस्याओं का समाधान दर्शन-शास्त्र में होता है । पाठक आगे 'प्रामाण्यवाद' के विषय में पढ़ेंगे । यह भी प्रमाण और प्रमाशास्त्र का अंग है । ऊपर के कुछ प्रश्नों का उत्तर देने की, संभव है, भारतीय दार्शनिकों ने कोशिश भी न की हो, परंतु जितना उन्हों ने विचार किया है वह किसी को भी विचार-शील व्यक्ति बना देने को पर्याप्त है । यही सब प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य है । पाठकों को याद रखना चाहिए कि दर्शनशास्त्र में किसी प्रश्न का उत्तर जानने की अपेक्षा उस प्रश्न का स्वरूप समझने का अधिक महत्व है । उत्तर तो ग़लत भी हो सकता है । प्रश्न को ठीक-ठीक समझ लेने पर ही आप विभिन्न समाधानों का मूल्य जाँच सकते हैं । जिस के हृदय में आरंभ

से ही पक्षपात है वह न प्रश्न की गंभीरता को समझ सकता है, और न उसके उत्तर की योग्यता के विषय में ही ठीक मत निर्धारित कर सकता है।

भारतीय दर्शन का विकासक्रम

भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास को समझने के लिये उसके विकास की रूपरेखा का परिज्ञान लाभ-प्रद आवश्यक है। भारतीय दर्शन अत्यंत प्राचीन है। फिर भारतीय विचारक बड़े निःस्पृह व्यक्ति थे। उन्हों ने अपने नाम, जीवन-वृत्त और काल का उल्लेख बहुत कम किया है। अतः दर्शनसाहित्य के ग्रंथों के रचयिता और काल का निर्णय बड़ा कठिन हो जाता है। बुद्ध का जन्म-काल (छठी शताब्दी ई० पू०) प्रथम तिथि है जो निश्चित की जा सकती है, तथा बुद्ध के समय से भारतीय चिंतन के इतिहास में एक नये युग का आरंभ माना जा सकता है। बुद्ध के दर्शन और धर्म वैदिक विचार-धारा के विरुद्ध एक क्रांति के प्रतीक थे। अतः इस से पहले के युग को वैदिक युग कहा जा सकता है। बुद्ध के जन्म से आरंभ होने वाला युग विच्छेद और समन्वय का युग था। वैदिक-धर्म और विचार-धारा के विरुद्ध एक स्पष्ट क्रांति का स्वर सुनाई देने लगा, जिस ने बौद्ध और जैन धर्मों का स्वरूप लिया। इस विच्छेद-क्रम के साथ-साथ समन्वय के प्रयास भी चलते रहे। बौद्ध तथा जैन धर्मों की प्रतिक्रिया से आत्म-चेतना प्राप्त कर वैदिक विचार-धारा भी नवीन और समयानुकूल स्रोतों में प्रवाहित होने लगी। किंतु वैदिक विचार-धारा और क्रांतिवादी धर्मों में विरोध बढ़ता ही गया। इस विरोध-क्रम में ही विचार-युद्ध के अस्त्र-रूप न्याय और तर्क का विकास हुआ। सिद्धांत व्यवस्थित किये जाने लगे। पक्ष के मंडन और प्रतिपक्ष के खंडन की तर्क-प्रणालियाँ परिष्कृत होने लगीं। व्यवस्थित दर्शनों का युग आरंभ हो गया।

अस्तु, भारतीय दर्शन का आरंभ वेदों से होता है। वेद भारतवर्ष

वैदिक युग की, और कदाचित् संसार की, प्राचीनतम साहित्यिक संपत्ति हैं। वेद प्राचीनों के जीवन और चिंतन के इतिहास हैं। वेद संख्या में चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेद इन में से सब से प्राचीन तथा महत्वपूर्ण है। इस में उन मंत्रों का संग्रह है जो प्राचीन आर्य-कवियों ने प्रकृति-देवताओं की स्तुति में रचे थे। भारत प्रकृति-देवी का रंगस्थल है। इस प्रभूत प्राकृतिक सौंदर्यों से परिपूर्ण देश में दर्शन का आरंभ प्रकृति-काव्य के रूप में होना स्वाभाविक था। आर्य-जन बड़े भावुक और कल्पनाशील थे। उषा-अरुण, दिवा-रात्रि, आकाश-अंतरिक्ष, पृथ्वी-सागर, सूर्य-चंद्र, तारा-ग्रह, नदी-पर्वत, तरु-पादप, वायु-मेघ, अग्नि-जल, सभी को देवताओं का स्वरूप देकर उन की पूजा करते थे। यज्ञ में उन का आवाहन कर उन की स्तुति में मंत्र-गान करते थे। ऋग्वेद उन्हीं मंत्रों का संग्रह है। यजुर्वेद और सामवेद के बहुत से मंत्र ऋग्वेद से ही लिये गए हैं, किंतु उन के क्रमों और स्वरों में भेद कर दिया गया है। यजुर्वेद में यज्ञों की प्रधानता है। सामवेद संगीत-प्रधान है। अथर्ववेद में मौलिकता अवश्य है, किंतु अनार्य विचार और संस्कृति का प्रभाव भी है। उस में जादू-टोना, मंत्र-तंत्र आदि का बाहुल्य है। फिर भी इस के कुछ भागों में बड़े मूल्यवान् विचार मिलते हैं। वैदिक परंपरा का विकास चार चरणों में हुआ है, जिन्हें वेद के चार भाग कहा जाता है। प्रथम चरण मंत्रभाग या संहिता-भाग कहलाता है। द्वितीय चरण ब्राह्मण-भाग तथा तृतीय चरण आरण्यक कहा जाता है। ये तीनों वेद के कर्म-कांड हैं, क्योंकि इन में कर्म, यज्ञ, दान, संस्कार आदि—की प्रधानता है। चतुर्थ अथवा अंतिम भाग उपनिषद कहलाता है। ज्ञान-प्रधान होने के कारण उपनिषदों को वेदांत भी कहते हैं।

बुद्ध के समय से भारतीय चिंतन में एक नवीन युग का आरंभ

होता है। जैन-धर्म के प्रचारक महावीर भी बुद्ध के समकालीन ही थे।

विच्छेद और समन्वय का युग महावीर और बुद्ध ने वैदिक धर्म के कर्म-कांड के विरुद्ध एक क्रांति की। उस क्रांति ने एक प्रबल धार्मिक और सामाजिक आंदोलन का रूप ग्रहण कर लिया। बुद्ध और जैन धर्म उसी आंदोलन के प्रतीक हैं। इस आंदोलन की प्रमुख विशेषता वेदों की मान्यता का विरोध और वैदिक धर्म का खंडन थी। वेदों को न मानने के कारण जैन और बुद्ध धर्म नास्तिक कहलाते हैं। वेदों के साथ-साथ ये ईश्वर को भी नहीं मानते, अतः दूसरे अर्थ में भी नास्तिक हैं। प्राचीन जैन और बुद्ध धर्म में आचार-शास्त्र की प्रधानता है। कर्म और अहिंसा इन के मूल स्तंभ हैं।

बुद्ध और जैन धर्मों के विरोध ने भारतीय चिंतन में एक नवीन चेतना उत्पन्न कर दी। वैदिक धर्म की अंध-परंपरा सजग हो उठी। चतुर्दिक् खंडन और विरोध ने वैदिक परंपरा के अधिष्ठाताओं को उस के संरक्षण के लिये सचेत कर दिया। बुद्ध और जैन धर्मों का आरंभिक स्वरूप सामाजिक आंदोलन के रूप में था। अतः वैदिक धर्म-तत्व को एक लोकप्रिय स्वरूप में ढालने का प्रयास आवश्यक हो गया। पुराण, महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता और रामायण इसी प्रयास के फ़ल हैं। ये सब वैदिक धर्म की लोकप्रिय परंपरा के प्रतीक हैं। पुराण अनेक हैं जिन में अठारह प्रसिद्ध हैं। प्राचीन इतिहास और कल्पना के आधार पर रचित ये धार्मिक काव्य-ग्रंथ बहुत लोकप्रिय हैं। महाभारत, इतिहास, संस्कृति, धर्म, नीति आदि का सागर है। श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का एक अंश है और उपनिषदों का सार माना जाता है। वेदव्यास इन सब के निर्माता कहे जाते हैं। रामायण एक इतिहास और संस्कृति-मय काव्य है, जिस के रचयिता आदि कवि वाल्मीकि हैं।

बुद्ध और जैन धर्मों का आरंभ सामाजिक तथा नैतिक आंदोलनों

दर्शनों का युग

के रूप में हुआ था। अतः इन के मूल ग्रंथों का स्वरूप लोकप्रिय है। पुराण, महाभारत आदि के रूप में समन्वय के प्रयासों का स्वरूप भी लोकप्रिय ही रहा। किंतु जब विच्छेद और समन्वय के आंदोलन की धाराओं का संघर्ष आरंभ होगया तो विरोध और खंडन-मंडन जनता के अधिकार न रह कर विद्वानों के विषय बन गये। विचार-युद्ध के अस्त्र-रूप न्याय और तर्क का विकास हुआ। सिद्धांत व्यवस्थित किये जाने लगे। पक्ष के मंडन और प्रतिपक्ष के खंडन के लिये तर्क-प्रणालियां परिष्कृत होने लगीं। व्यवस्थित दर्शनों का युग आरंभ होगया।

तर्क-प्रणाली के विकास के फल-स्वरूप वैदिक तथा उस के विरोधी दोनों ही पक्षों में अनेक दर्शनों का उदय हुआ। वैदिक दर्शनों में छः दर्शन अधिक मान्य हैं जो षडदर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन के नाम सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा या वेदांत हैं। इन दर्शनों के मूल ग्रंथ सूत्र कहलाते हैं जो इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हैं और ऋषि-प्रणीत माने जाते हैं। सांख्य-सूत्र, योग-सूत्र, न्याय-सूत्र, वैशेषिक-सूत्र, मीमांसा-सूत्र और वेदांत-सूत्र के रचयिता क्रमशः कपिल, पतंजलि, गौतम, कणाद, जैमिनि और बादरायण व्यास कहे जाते हैं। ये सूत्र अत्यंत सूक्ष्म, संश्लिष्ट और संक्षिप्त शैली की रचनायें हैं। जब इन दर्शनों की जीवित-परंपरा लुप्त हो गई तो इन सूत्रों का समझना कठिन हो गया। इस कारण सूत्रों के विस्तृत भाष्यों की परंपरा का आरंभ हुआ। सांख्यसूत्र पर विज्ञानभिक्षु का, योग-सूत्र पर व्यास का, न्याय-सूत्र पर वात्स्यायन का, वैशेषिकसूत्र पर प्रशस्त-पाद का, मीमांसासूत्र पर शबर का और वेदांतसूत्र पर शंकराचार्य का भाष्य सब से प्राचीन तथा बहुमान्य है।

इन आस्तिक अथवा वैदिक दर्शनों के साथ-साथ नास्तिक दर्शनों का भी विकास हुआ। जैन-धर्म में दिगंबर और श्वेतांबर दो मुख्य

संप्रदाय हैं। जैन-धर्म में न्याय और तर्क का विकास होने पर भी उस में विविध और विरोधी दर्शन-संप्रदाय पल्लवित न हो सके। किंतु बौद्ध-धर्म में अनेक दर्शनों का उदय हुआ जिन में सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक प्रधान हैं। धर्मकीर्ति, दिङ्नाग, वसुबंधु और नागार्जुन इन दर्शन संप्रदायों के प्रवर्त्तक कहे जाते हैं।

इन आस्तिक और नास्तिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध के कारण न्याय तथा तर्क ही का अधिक विकास हुआ। दर्शनों के युग में तार्किकता भारतीय चिंतन की प्रमुख विशेषता बन गई। इस विशेषता से भारतीय चिंतन के विकास को गति अवश्य मिली। सिद्धांतों का स्पष्टीकरण भी हुआ। किंतु इस विरोध के संघर्ष में भारतीय दर्शन की मूल आत्मा कुंठित हो गई! सूक्ष्म तार्किक विरोधों में उस मूल और मुक्त आध्यात्मिकता का लोप हो गया, जो भारतीय दर्शन की प्रधान विशेषता है। इस विचार-विरोध के विक्षुब्ध वातावरण से देश की आत्मा सत्य के लिये व्यग्र होने लगी। दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आकुलता के इस युग में रामकृष्ण-विवेकानंद, रवींद्र-अरविंद, राधाकृष्णन्-कृष्णमूर्ति जैसी विभूतियों ने अनेक-विध क्रांति के मंत्र फूंककर देश की आत्मा को जागरित किया। आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक मुक्ति की पुकार होने लगी। पुनः एक नवयुग का स्वर्ण विहान हुआ। महात्मा गाँधी तो इस नवयुग की सृष्टि के प्रजापति ही थे।

भारतीय दर्शन की विशेषताएँ

दार्शनिक चिंतन का मूल जीवन की प्रेरणाओं तथा जगत् के रहस्यों में है। मानव-जीवन की मूल प्रेरणायें तथा प्राकृतिक जगत् की व्यवस्था सब समान होने के कारण सभी देशों के दार्शनिक चिंतन की मूल समस्यायें समान हैं। फिर भी प्रत्येक देश की प्रतिभा और संस्कृति में भेद होने के कारण भिन्न देशों के दर्शन में दृष्टिकोण और प्रयोजन तथा इनके कारण सिद्धांतों

में भी भेद पाया जाता है। अपनी-अपनी प्रतिभा और संस्कृति की विशेषता के कारण प्रत्येक देश के दर्शन की कुछ अपनी विशेषतायें हैं। भारतीय दर्शन अत्यंत प्राचीन है। मानव सभ्यता के धुँधले प्रभात में प्राची के इस पुण्य-लोक में ही ज्ञान की प्रथम किरण उदय हुई थी। हमारे वेद उस प्राचीनतम ज्ञान-राशि के भाण्डार हैं। हमारे पूर्वज ऋषियों द्वारा तपःपूत आत्मा में अनुभूत अनेक अखंड और नित्य सत्यों का उन में संनिधान है। इसी कारण वेद आगम रूप से प्रमाण माने जाते हैं। आगम-प्रामाण्य भारतीय दर्शन की एक विशेषता है। किंतु आगम की प्रामाण्यता विचार और तर्क के विकास में बाधक नहीं हुई। आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों के पारस्परिक संघर्ष और विरोध में तर्क-प्रणालियों का तीव्र विकास हुआ। श्रुति की मान्यता के साथ साथ स्वतंत्र चिंतन को सदा प्रोत्साहन मिलता रहा तथा अनेक दर्शन संप्रदायों का उदय और विकास हुआ। इन संप्रदायों की विविधता में कुछ सिद्धांतों का भी विरोध अवश्य है, किंतु उन की मूल आत्मा एक है। समस्त दर्शनों में नैतिक उद्देश्य और सांस्कृतिक दृष्टि कोण की सामान्य एकता है। जीवन के परमार्थ और उसकी प्राप्ति के साधनों की खोज सभी दर्शनों का समान लक्ष्य है।

आध्यात्मिकता और व्यावहारिकता

अस्तु, जीवन और जगत् की समस्याओं में साम्य होते हुए भी अपनी-अपनी प्रतिभा और संस्कृति की विशेषता के कारण प्रत्येक देश के दर्शन की कुछ अपनी विशेषतायें हैं। आध्यात्मिकता और व्यावहारिकता भारतीय दर्शन की मुख्य विशेषतायें हैं। पश्चिमीय और भारतीय दर्शन में यही मुख्य अंतर है कि पश्चिमी दर्शन बौद्धिक तथा सिद्धांत प्रधान है; भारतीय दर्शन आध्यात्मिक तथा व्यवहार-प्रधान है। भारतीय दर्शन का उद्गम कुछ मनीषियों के मस्तिष्क में नहीं है। पश्चिमी दर्शन की भाँति भारतीय-दर्शन व्यक्ति-विशेषों की सृष्टि नहीं है। जो ऋषि भिन्न-भिन्न दर्शनों

के प्रणेता कहे जाते हैं, वे भी वास्तव में उन दर्शन संप्रदायों के प्रतिनिधि मात्र हैं, भारतीय दर्शन का प्रारंभ और पर्यवसान देश और जाति के जीवन में है। जाति की सामूहिक चेतना में उस का उदय तथा विकास है, और देश के सामाजिक-जीवन में उस का प्रयोजन तथा उपयोग है। वेद, उपनिषद् और गीता, बौद्ध तथा जैन आगम, सांख्य-योग तथा वेदांत चिंतन से अधिक व्यवहार के विषय हैं। बौद्धिक होने के कारण पश्चिमी दर्शन की दृष्टि बहिर्मुखी है। अध्यात्म-लोक के रहस्यों की खोज की अपेक्षा जगत् की व्याख्या में उसकी रुचि अधिक है। विश्व-व्याख्या द्वारा मनुष्य की बौद्धिक जिज्ञासा का समाधान करना उसका प्रधान लक्ष्य है। जीवन और व्यवहार में तत्वानुभव पर वहाँ ज़ोर नहीं दिया गया है और न ज्ञान का कोई धार्मिक अथवा आध्यात्मिक लक्ष्य ही निर्धारित किया गया है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन की दृष्टि अन्तर्मुखी है। यहाँ विश्व की बौद्धिक व्याख्या की अपेक्षा आध्यात्मिक सत्य को अधिक महत्व दिया गया है। यहाँ जिस चेतना-तत्व में दर्शन की मूल प्रेरणा है, उसके स्वरूपाधिगम का प्रयास अधिक किया गया है। आध्यात्मिक सत्य ही चरम सत्य है और उसी के आलोक में जीवन का संस्कार श्रेय है। अधिकांश भारतीय दर्शनों में आत्म-ज्ञान को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। उपनिषद् और वेदांतों में आत्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म-ज्ञान ही सर्वस्व है। उपनिषद् और वेदांत का भारतीय दर्शन में जो स्थान है उसे देखकर कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन में आत्म-ज्ञान का ही परम महत्व है।

सत्य के स्वरूप-निरूपण मात्र से भारतीय दर्शन की कृतार्थता नहीं होती। सत्य का साक्षात्कार और जीवन में उसका व्यवहार दोनों समानार्थक हैं। अतः व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण चरम सत्य रूप अध्यात्म-तत्त्व की जीवन के परम-लक्ष्य के रूप में कल्पना की गई है। उसकी सिद्धि को निःश्रेयस तथा उसकी प्राप्ति को मोक्ष माना गया है। मोक्ष

जीवन का चरम-लक्ष्य है। उस निःश्रेयस-रूप मोक्ष को ही भारतीय-दर्शनों में जीवन और चिंतन का परम प्रयोजन माना गया है। प्रत्येक दर्शन का प्रारंभ किसी न किसी रूप में एक परम आध्यात्मिक लक्ष्य (मोक्ष) की कल्पना को लेकर होता है और शास्त्र का अधिकांश उसकी प्राप्ति के साधनों की व्याख्या में लग जाता है। यद्यपि भिन्न-भिन्न दर्शनों में उस चरम परम-लक्ष्य के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के साधनों की कल्पना भिन्न-भिन्न रूप से की गई है, किंतु भौतिक बंधनों और लौकिक बाधाओं से आत्मा की मुक्ति रूप एक आध्यात्मिक लक्ष्य सब का सामान्य आधार है और उसकी प्राप्ति में ही जीवन की कृतार्थता सब को मान्य है।

दर्शन, आचार-शास्त्र तथा धर्म शास्त्र का समन्वय

भारतीय दर्शन का मूल जीवन की प्रेरणाओं में है, बुद्धि के कुतूहल में नहीं। जीवन एक और अखंड है; अतः भारतीय चिंतन में जीवन के क्षेत्रों का कोई कठोर विभाजन नहीं हुआ। मानव-चेतना जिन तीन रूपों में—विचार, कर्म और भावना—व्यक्त होती है, वे उसके तीन पक्ष मात्र हैं, जिनको एक दूसरे से बिलकुल विभक्त नहीं किया जा सकता। अतः चेतना के इन तीन पक्षों से उदित होने वाले तीन शास्त्रों—दर्शन, आचार-शास्त्र, और धर्म-शास्त्र—का भी पृथक्करण नहीं किया जा सकता। अस्तु, पश्चिमीय दर्शन की भाँति भारतीय चिंतन में दर्शन, आचार-शास्त्र और धर्म-शास्त्र स्वतंत्र तथा पृथक् विभाग नहीं बन सके। सत्य की जिज्ञासा, श्रेय की स्पृहा और ईश्वर की अवस्था, तीनों का मूल एक ही चेतना में है और तीनों का उद्देश्य सामान्य रूप से जीवन की कृतार्थता है। श्रेय के व्यवहार तथा ईश्वर की आस्था के बिना सत्य की खोज केवल एक सैद्धांतिक प्रथा एक पक्षीय प्रयास है। अस्तु भारतीय दर्शन में जीवन की अखंडता अक्षुण्ण रही। सत्य की खोज, श्रेय की साधना और ईश्वर की आराधना संश्लिष्ट और समन्वित रूप में

ही चलती रही। किंतु इस संश्लिष्ट तथा समन्वित चिंतन के कारण सत्य, श्रेय और ईश्वर के स्वरूप तथा प्रयोजन में संकर अथवा भ्रांति नहीं हुई। अविभक्त न होने के कारण सत्य, श्रेय और ईश्वर अविविक्त नहीं हुये। तीनों के स्वरूप और और प्रयोजन के विषय में यथास्थान विविक्त चिंतन हुआ है। केवल संश्लिष्ट चिंतन के कारण तीनों के स्वतंत्र और पृथक् पृथक् शास्त्र नहीं बन सके। एक ही चेतना तथा एक जीवन की अखंडता में उदय होकर सत्य के वास्तविक स्वरूप की जिज्ञासा, श्रेय के परम आदर्श की कल्पना और ईश्वर की भावना तीनों का पर्यवसान एक आध्यात्मिक आदर्श में हुआ जिसकी प्राप्ति में ही मानव-जीवन की कृतार्थता है।

आशावाद या निराशावाद ?

भारतीय चिंतन सीधे जीवन की संवेदनाओं से प्रेरणा लेता है। जीवन में सर्वत्र दुःख और कष्ट व्याप्त है। भारत के सहृदय विचारकों के लिये उन से प्रभावित होना स्वाभाविक था। फलतः हम पाते हैं कि प्रायः सभी भारतीय दर्शनों का आरंभ दुःख के विवेचन से हुआ है। संसार को दुःखमय मानने के कारण अनेक पश्चिमी विद्वान् भारतीय दर्शन पर दुःखवादी अथवा निराशावादी होने का दोषारोपण करते हैं। उनका यह आरोप कहाँ तक ठीक है?

हमारे विचार में यह आरोप निराधार न होते हुए भी बहुत कुछ भ्रांति-मूलक है। भारतीय दर्शन का दुःखवाद भारतीय-चरित्र की दो विशेषताओं का फल है। एक तो भारत के निवासी सहृदय और कोमल वृत्ति वाले हैं। कोमलता, मधुरता, और सौंदर्य-प्रियता भारतीय काव्य के विशेष गुण हैं। भारतीय दर्शन का हृदय भी कवि-हृदय है, वह दुःख को देखकर शीघ्र प्रभावित हो जाता है। भारत के दार्शनिक करुणामय ऋषि थे जो बुद्धि के व्यायाम के लिये नहीं वरन् लोक-कल्याण के लिये दार्शनिक चिंतन करते थे। भारतीयों की दूसरी विशेषता अनंतता की

चाह है। वे सीमाओं और बंधनों से घबराते हैं, असीम वायुमंडल में उड़ाना ही उन्हें पसंद है। ऐहिक संपत्ति उन्हें कभी पूर्णतया संतुष्ट न कर सकी। फलतः उन्हों ने अनंत सुख रूप मोक्षावस्था की कल्पना की और उसकी प्राप्ति के प्रयत्न को जीवन का लक्ष्य घोषित किया।

'जो भूमा है, जो अनंत है वही सुख है, अल्प में, ससीम में सुख नहीं है' यह उपनिषद् के ऋषि का अमर उद्गार है। इसको समझे बिना भारतीय दर्शन का 'दुःखवाद' समझ में नहीं आ सकता। भारतीय दर्शन को निराशावादी तो किसी प्रकार कह ही नहीं सकते। मोक्ष की धारणा भारतीय दर्शन की मौलिक धारणा है। हमारे अपने व्यक्तित्व में ही मोक्षस्वरूप आत्मा की ज्योति छिपी है, जिसे अभिव्यक्त करना ही परम पुरुषार्थ है। 'कौन जीवित रह सकता, कौन साँस ले सकता, यदि आकाश आनंद (स्वरूप) न होता?' आनंद से ही भूतवर्ग उत्पन्न होते हैं, आनंद से ही जीवित रहते हैं, और आनंद में ही प्रविष्ट तथा लय होते हैं'। भारतीय तर्क-शास्त्र के अनुसार अच्छे दर्शन का एक यह भी लक्षण है कि उसे मानकर मोक्ष संभव हो सके। दार्शनिक प्रक्रिया निरुद्देश्य नहीं है, मोक्ष, दुःखाभाव या आनंद की प्राप्ति उसका एक मात्र लक्ष्य है। मोक्ष दशा की वास्तविकता में भारतीय दर्शन का दृढ़ विश्वास है। मोक्ष एक ऐसी अवस्था है जिस में समस्त दुःखों का अंत हो जाता है और अनंत आनंद की प्राप्ति होती है। अस्तु, दुःखकी भावना से आरंभ होकर भारतीय दर्शन का अंत एक आनंदमय आदर्श की साधना में होता है। अतः उसे दुःखवाद अथवा निराशावाद नहीं कहा जा सकता।

भारतीय दर्शनका दुःखवाद उस वियोगिनी के आँसुओं की तरह है जिसे अपने प्रियतम के आने का दृढ़ विश्वास है, परंतु जो वियोग की अवधि निश्चित रूप से नहीं जानती। यही नहीं भारत की दार्शनिक वियोगिनी यह भी जानती है कि वह अपने प्रयत्नों से धीरे-धीरे वियोग की घड़ियों

को कम कर सकती है। संसार अपने साधारण रूप में दुःखमय है; किंतु दुःख ही जीवन की अंतिम नियति नहीं है। इस दुःख का एक कारण है, इसके निवारण और आनंद की प्राप्ति का एक साधन है। अज्ञान समस्त दुःखों का मूल है। ज्ञान-द्वारा आनंद की प्राप्ति की जा सकती है। आनंदमय आदर्श और साधना-द्वारा उसकी प्राप्ति में भारतीय दर्शन का अखंड विश्वास है; अतः दुःखकी भावना में जन्म लेने पर भी उसे आशावादी होने का श्रेय देना होगा। लौकिक क्षेत्रों में भी प्राचीन भारतीयों ने जैसे विशाल साम्राज्यों तथा अन्य विभूतियों का निर्माण किया उन्हें देखते हुये यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें प्रयत्नशीलता; कर्मण्यता अथवा जीवनोचित उमंग या उत्साह की कोई कमी थी।

मोक्ष

जिस प्रकार सभी दर्शन संसार को दुःखमय मानते हैं, उसी प्रकार इस दुःखमय संसार से मुक्ति को सभी दर्शन अपना परम लक्ष्य भी मानते हैं। संसार मनुष्य के भौतिक जन्म का कर्म-क्षेत्र है। जन्म के साथ देह धारण कर जीव इस संसार में आता है। जीवन भर कर्म करके अंत में देह त्याग करता है, किंतु देह-त्याग से आत्मा को मुक्ति नहीं मिलती। कर्मों का शुभाशुभ फल होता है और उस फल को भोगने के लिये जीव को पुनः पुनः जन्म लेना पड़ता है। यों जन्म-जन्मांतर की परंपरा में भटकता हुआ जीव मोक्ष-पर्यंत अनेक दुःख और कष्ट भोगता है। दुःख की भावना से द्रवित होकर भारतीय विचार सदा इस दुःखमय संसार और जन्म परंपरा से मुक्ति के उपाय खोजते रहे। सब ने मोक्ष को जीवन का परमार्थ और निःश्रेयस माना है, यद्यपि उस मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों के विषय में बहुत मतभेद है। भारतीय दर्शन में मोक्ष की कल्पना इतनी मौलिक, महत्वपूर्ण तथा सर्वमान्य है कि उसे मोक्ष-शास्त्र कह देना अनुचित न होगा।

भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण व्यावहारिक रहा है। अतः मोक्ष के

स्वरूप का बौद्धिक निरूपण मात्र करके भारतीय विचारक संतुष्ट नहीं रहे। मोक्ष-प्राप्ति के व्यावहारिक साधनों की खोज भी उनका एक मुख्य उद्देश्य रही है। विचार-भेद के कारण मोक्ष की अनेक रूप से कल्पना की गई है। उसकी प्राप्ति के साधन भी अनेक माने गये हैं। किंतु सभी दर्शन सामान्य रूप से मोक्ष को दुःख का अंत मानते हैं। वेदांत में आकर मोक्ष को दुःखाऽभाव मात्र न मानकर अनंत आनंद-मय भी माना गया है। किंतु जन्म-कर्म-बंधन रूप दुःखमय संसार से मुक्ति रूप मोक्ष में सभी दर्शनों का समान विश्वास है।

मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों के विषय में मतभेद **ज्ञान की महिमा** होते हुये भी सभी दर्शनों में एक समानता अवश्य है कि वे दुःखमय संसार-चक्र से मुक्ति को ही मोक्ष मानते हैं। सभी दर्शनों के अनुसार अज्ञान दुःख का मूल है और ज्ञान मोक्ष का साधन है। अज्ञान से अहंकार उत्पन्न होता है और अहंकार से कर्तृत्व-भावना। कर्तृत्व-भावना के कारण जीव कर्म-फल का भागी बनता है और जन्म-जन्मांतर में उसे भोगता रहता है। अतः अज्ञान ही इस संसार-बंधन और उसके दुःखों की जड़ है, यह भारतीय दर्शनों में अनेक प्रकार से बतलाया गया है। तत्त्व-ज्ञान इस दुःखमय संसार-बंधन से मोक्ष का उपाय है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती) यह हमारे दर्शन का अटल वाक्य है। ज्ञान से अहंकार और कर्तृत्वभाव का नाश होता है और जीव कर्म-बंधन तथा उसके फलस्वरूप संसार से मुक्त होता है। कर्म करते हुये भी ज्ञानी कर्म फल से लिप्त नहीं होता (न कर्म लिप्यते नरे)।

अस्तु, भारतीय दर्शनों में ज्ञान की महिमा सर्वत्र स्वीकृत की गई है। सभी दर्शनों में मोक्ष या निःश्रेयस को जीवन का चरम-लक्ष्य तथा ज्ञान को उस का परम साधन माना गया है, यद्यपि उस लक्ष्य तथा उस की प्राप्ति के साधन ज्ञान के स्वरूप की कल्पना विभिन्न

प्रकार से की गई है। सांख्य-योग में पुरुष के कैवल्य को मोक्ष और प्रकृति-पुरुष के विवेक-ज्ञान को उसका साधन माना गया है। न्याय वैशेषिक के अनुसार आत्मा की चेतनातीत अवस्था में आत्यंतिकी दुःख-निवृत्ति की प्राप्ति ही मोक्ष है और न्याय के सोलह तथा वैशेषिक के सात पदार्थों के लक्षण-साधर्म्य-वैधर्म्य-ज्ञान-पूर्वक तत्व-ज्ञान उस का साधन है। अद्वैत वेदांत में मोक्ष ब्रह्म प्राप्ति है, वह आत्म-ज्ञान अर्थात् आत्मा के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान द्वारा ही साध्य है। विशिष्टाद्वैत में निःश्रेयस-प्राप्ति की साधना यद्यपि भक्ति को माना गया है, किंतु रामानुज की भक्ति भगवान् का ज्ञान विशेष ही है। बौद्ध-दर्शन में भी अविद्या को ही दुःख का मूल कारण माना गया है तथा ज्ञान से ही निर्वाण प्राप्त होता है। जैन-दर्शन में भी सम्यक् ज्ञान मोक्ष के तीन साधनों में एक मुख्य साधन है। यह एक साधारण सत्य है कि दुःख के कारण का ठीक-ठीक ज्ञान किये बिना हम उस से मुक्ति नहीं पा सकते। अज्ञान को हटा कर सत्य-ज्ञान का प्रकाशन करना ही दर्शन-शास्त्र का उद्देश्य है, इस प्रकार दर्शन-शास्त्र मोक्ष का अन्यतम साधन है। यहाँ केवल यह स्मरण रखना आवश्यक है कि यह मोक्ष-दायक ज्ञान बौद्धिक अवगम मात्र नहीं है। इस ज्ञान को वास्तव में आत्मिक अनुभव कहना अधिक उचित होगा। बौद्धिक अवगम उस ज्ञान का आरंभ मात्र है जिसका पर्यवसान आत्मिक अनुभव में होता है। आत्मिक अनुभव का स्वरूप प्राप्त कर लेने पर ही बौद्धिक अवगम मुक्ति का कारण बनता है। केवल बुद्धि के क्षेत्र में सीमित रहने तक पदार्थ-विश्लेषण और परिभाषाओं में ही ज्ञान की कृतकृत्यता रहती है। आत्मा-नुभव के एकत्व में रूढ़ होने पर ज्ञान अखिल सत्ता के संश्लिष्ट-संबोध का रूप प्राप्त कर मोक्षदायक बनता है।

मत-भेद

ऊपर कहा गया है कि मोक्ष जीवन का चरम लक्ष्य है और तत्व-ज्ञान उस का परम-साधन है। किंतु तत्व-ज्ञान क्या

है, इस विषय में तीव्र मतभेद है। किसी दार्शनिक समस्या पर दार्शनिकों का एक मत प्राप्त करना कठिन है। विचार-विभिन्नता दार्शनिक संप्रदायों की जननी है। दर्शन शास्त्र एक है, दार्शनिक उद्देश्य और प्रक्रिया एक है, किंतु दर्शन बहुत हैं। भारतवर्ष ने कम से कम बारह प्रसिद्ध दार्शनिक संप्रदायों को जन्म दिया है, जिनके विषय में हम इस पुस्तक में पढ़ेंगे। इन दर्शनों में तत्व के स्वरूप की कल्पना भिन्न भिन्न रूप से की गई है। चार्वाक-दर्शन के अनुसार केवल जड़ पदार्थ (चार महाभूत), जैन-दर्शन के अनुसार जीव-अजीव, बौद्ध-दर्शनों के अनुसार विज्ञान, शून्य आदि, सांख्य-योग के अनुसार प्रकृति-पुरुष, न्याय-वैशेषिक के अनुसार सोलह अथवा सात पदार्थ, मीमांसाके अनुसार पदार्थ, जगत् और आत्मा, अद्वैत के अनुसार केवल ब्रह्म और विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् सत्य है।

यह मतभेद भारतीय मस्तिष्क की उर्वरता का परिचायक है। बिना मतभेद, आलोचना और प्रत्यालोचना के ज्ञान की किसी शाखा की उन्नति नहीं हो सकती। अंध-विश्वास अथवा बिना विचार किए दूसरे की बात मान लेने का स्वभाव सब प्रकार की उन्नति का घातक है। किसी जाति या राष्ट्र की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि उस का प्रत्येक सदस्य सतर्क रहे, अपने मस्तिष्क और बुद्धि को जागरूक रक्खे। जब भारत में यह जागरूकता और सतर्कता विद्यमान थी, तब ही भारत का स्वर्ण-युग था। भारत के पतन का एक बड़ा कारण यह भी हुआ कि कुछ काल बाद यहाँ के लोग स्वतंत्र विचार करना भूल कर 'विश्वासी' बन गए। विश्वास बुरी चीज़ नहीं है, पर केवल विश्वास आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है। विचार या मनन करने का काम हमारे लिए कोई दूसरा नहीं कर सकता। यह संभव नहीं है कि विचार कोई दूसरा करे और दार्शनिक हम बन जायँ। 'मैं ब्रह्म हूँ' कहने मात्र से कोई वेदांती नहीं बन सकता, महावाक्यों का अर्थ हृदयंगम करने के

लिए लंबी तैयारी की ज़रूरत है। खेद की बात है कि आज भारतवर्ष में ऐसे अकर्मण्य वेदांती बहुत हैं। भगवद्गीता में कहा है—'उद्धरे-दात्मनात्मानम्', अर्थात् आप अपना उद्धार करे, परंतु कुछ भोले लोगों का विचार है कि ऋषियों की शिक्षा में विश्वास कर लेना ही आत्म-कल्याण के लिए यथेष्ट है। यदि आप जीवित रहना चाहते हैं तो विचार-पूर्वक जीवित रहिए, विचारशीलता ही जीवन है। आप के संप्रदाय के कोई आचार्य बहुत बड़े विद्वान् थे, इस से यह सिद्ध नहीं होता कि आप अपने आचार्य को ठीक-ठीक समझ भी सकते हैं। याद रखिए कि किसी भी आचार्य को बुद्धि-हीन अनुयायी की अपेक्षा बुद्धिमान् प्रतिपक्षी अधिक प्रिय होगा।

फिर ऋषियों में विश्वास करने से काम भी तो नहीं चल सकता। ऋषियों में मतभेद है और आप को किसी न किसी ऋषि में अविश्वास करना ही पड़ेगा। आप सांख्य और वेदांत दोनों के एक साथ अनुयायी नहीं बन सकते, न आप नैयायिक और अद्वैतवादी ही एक साथ हो सकते हैं। सब आचार्यों का सम्मान करना चाहिए, सब ऊँचे दर्जे के विचारक थे, परंतु इस का अर्थ किसी के भी सिद्धांतों को अक्षरशः मान लेना नहीं है। आप को सत्य का भक्त बनना चाहिए न कि किसी ऋषि विशेष का। सत्य का ठेका किसी ने नहीं ले लिया है; यह आवश्यक नहीं है कि शंकराचार्य ही ठीक हों और रामानुज गलत हों। संप्रदायवादी प्रायः अपने आचार्य का अक्षर-अक्षर मानने को तैयार रहते हैं और दूसरे आचार्यों की प्रत्येक बात ग़लत समझते हैं। यह हठधर्मी और मूर्खता है। हमारा कर्तव्य यह है कि हम सब मतों का आदर-पूर्वक अध्ययन करें, और सब से जो संगत प्रतीत हों वह सिद्धांत ले लें। ठीक तो यही है कि हम विश्व भर के विद्वानों का आदर करें, परंतु कम से कम अपने देश के विचारकों का अध्ययन करते समय उदारता और सहानुभूति से काम लेना चाहिए।

सचमुच ही वह देश अभागा कहा जायगा जिस में विचार-वैचित्र्य नहीं है। यदि भारतवर्ष ने अपने लंबे इतिहास में केवल एक ही दार्शनिक संप्रदाय को जन्म दिया होता तो वह विचारशीलों का देश नहीं कहा जाता। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र विचार करता है। वहाँ संघर्ष अनिवार्य है। स्वतंत्र-चेता विचारक तोते की तरह दूसरों की युक्तियों की आवृत्ति करके संतुष्ट नहीं रह सकते। विचारों की विभिन्नता किसी जाति के जीवित होने का चिह्न है। परंतु इस का अर्थ व्यावहारिक फूट नहीं है। व्यावहारिक बातों में एकमत होना कठिन नहीं है। संसार के सारे धर्म प्रायः एक-सी नैतिक शिक्षा देते हैं। चोरी और व्यभिचार को सब मतों ने बुरा कहा है और सत्य बोलने की प्रशंसा सभी ने मुक्त-कंठ से की है।

साधना की एकता

तत्व-दर्शन में गहरे भेद होने पर भी साधना के विषय में भारतीय दर्शनों का प्रायः एकमत है। इंद्रियों और मन का निग्रह, सत्य, अहिंसा, मैत्री, करुणा आदि का उपदेश सभी दर्शनों और आचार्यों ने किया है। प्राणायाम और यौगिक क्रियाओं के महत्व को सभी स्वीकार करते हैं। सभी पुनर्जन्म और कर्म-विपाक (जैसी करनी वैसी भरनी) में विश्वास रखते हैं। सभी का लक्ष्य मोक्ष है। भारत के अधिकांश दर्शन 'जीवन्मुक्ति' के आदर्श को मानते हैं। मोक्ष केवल वाद-विवाद की वस्तु नहीं होनी चाहिए। ऐसा न हो कि साधक मरने के बाद कुछ भी प्राप्त न करे और अपनी साधना को व्यर्थ समझे। साधना फलवती तब है जब उसका फल प्रत्यक्ष हो, इसी जन्म में मिल सके। यदि दर्शनों के अध्ययन और चरम-तत्त्व के ज्ञान का इस लोक में कुछ भी प्रभाव नहीं होता तो परलोक में ही होगा, इसकी क्या गारंटी है? हमारे ऋषियों और आचार्यों के जीवन ने उनकी शिक्षा को व्यवहार में सत्य-सिद्ध कर दिखाया। उन सब का जीवन शांत, शुद्ध तथा छल-कपट और लोभ से मुक्त रहा है। इस जीवन की योरुपीय दार्शनिकों के जीवन से कोई तुलना नहीं की जा सकती। अनंत और असीम

पर विचार करके भी योरुपीय विचारक अपने को तुच्छ संघर्षों से अलग रखने में असमर्थ रहे। जहाँ भारत के दार्शनिकों ने राजा और उसके ऐश्वर्य को कभी परवाह न की, जहाँ वे संसार के अधिकारों और संपत्ति से कहीं ऊँचे उठे रहे, वहाँ योरुप के विचारक अपने-अपने देशों की गवर्नमेंटों से डरते हुए दिखाई देते हैं। अफ़लातून, अरस्तू, हीगल, फ़िश्ते आदि सभी राजनीतिक संकीर्णता में लिप्त रहे। व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से भारतीय दार्शनिकों की सार्वभौम गरिमा उन्हें योरुपीय विचारकों से कहीं ऊँचा स्थापित कर देती है। हमारे आचार्यों ने देश के मस्तिष्क को ही नहीं जीवन और चरित्र को भी प्रभावित किया है। उन की निःस्वार्थता सत्यपरता, निर्लोभता, विद्वत्ता और वाग्मिता सभी अनुकरणीय रही हैं। आज भी उन की सौम्य मूर्तियाँ हमारे देश की स्मृति को पवित्र बना रही हैं।

संगीतमयता

भारतीय दर्शन की यह विशेषता उल्लेखनीय है। हमारे यहाँ श्लोक-रचना का गुण साधारण-सी बात थी। अपने मंगलाचरण या व्याख्या में कहीं भी भारतीय दार्शनिक अपने काव्य-गत पक्षपात का परिचय दे देते हैं। 'सांख्यकारिका' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तकें पद्य में हैं। गीता दार्शनिक और धार्मिक ग्रंथ तो है ही, उस में सरस कविता भी है। हमारे पुराण दार्शनिक विचारों से भरे पड़े हैं। श्री शंकराचार्य ने विवेकचूड़ामणि जैसे ग्रंथों में अपने गूढ़ दार्शनिक विचारों का सरस प्रतिपादन किया है। विद्यारण्य की 'पंचदशी', सर्वज्ञात्म मुनि का 'संक्षेप शारीरक', सुरेश्वर की 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' आदि पद्य-ग्रंथ हैं। विश्वनाथ की 'कारिकावली' न्याय की प्रसिद्ध पुस्तक है। पद्य में दार्शनिक रचनाएँ भारत की एक स्पृहणीय विशेषता है। प्लेटो के संवादों तथा कुछ प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों को छोड़ कर, योरुपीय दर्शन में सरसता का पाया जाना कठिन है। विशेषतः जर्मनी के दार्शनिक सरल-रीति से विचार करना जानते ही नहीं। कांट की और

हीगल की पुस्तकें पढ़नेवालों के सिर में दर्द होने लगता है। कांट की 'क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न' को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि लिखते समय लेखक के कंधों पर कई-सौ मन का बोझ रक्खा था, जिस के कारण वह साफ़ बोल नहीं सकता था। कांट के 'ट्रांसेंडेंटल डिडक्शन' जैसे कठिन विषयों को भारतीय दार्शनिकों ने जैसे हँसते-हँसते व्यक्त कर डाला है। दुर्भाग्यवश नव्य-न्याय के प्रभाव ने हमारे दर्शन की स्वाभाविकता को भी नष्ट कर डाला। परंतु भारतीय दर्शन का भविष्य ऐसे नैयायिकों के हाथ में नहीं है। आइए, हम लोग कोशिश करके फिर दर्शनशास्त्र को साधारण जनता की चीज़ बना दें।

हमारे यहाँ मंगलाचरण के साथ पुस्तक प्रारंभ करने का नियम था। नीचे हम प्राचीन मंगलाचरणों में से कुछ उद्धरण देकर भूमिका समाप्त करेंगे। यह उद्धरण भारतीय दर्शन के संगीतमय होने की साक्षी भी देंगे।

अनृतजडविरोधिरूपमंतत्रयमलबंधनदुःखताविरुद्धम्।
अतिनिकटमविक्रियं मुरारेः परमपदं प्रणयादभिष्टवीमि॥
(संक्षेप शारीरक)

अर्थः—जो अनृत और जड़ से भिन्न अर्थात् सत्य और चैतन्य स्वरूप है, जो देश, काल और वस्तु के परिच्छेद (सीमा) से रहित है, जिसमें दुःख और विकास नहीं है, मुरारि कृष्ण के उस परमपद को, जो सदैव पास ही वर्तमान है, मैं प्रेम-पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥
(वाचस्पति की भामती)

अर्थः—वेद उसका निःश्वास है; पाँच महाभूत उस की दृष्टि का विलास; यह चराचर जगत् उस की मुसकान है; महाप्रलय उसकी गहरी नींद है।

लक्ष्मीकौस्तुभवक्षसं मुररिपुं शङ्खासिकौमोदकीम्
हस्तं पद्मपलाशताम्रनयनं पीताम्बरं शार्ङ्गिणम् ।
मेघश्याममुदारपीवरचतुर्बाहुं प्रधानात्परम्
श्रीवत्साङ्कमनाथनाथममृतं वन्दे मुकुंदं मुदा ॥

(शास्त्रदीपिका)

अर्थः—जिनके वक्षःस्थल पर लक्ष्मी और कौस्तुभ मणि हैं, जो हाथों में शंख, खड्ग और गदा लिए हुए हैं, कमल के पत्तों जैसे रंग के जिन के नेत्र हैं, जो पीला वस्त्र पहने, मेघ के समान श्यामल और पुष्ट चार भुजाओं वाले हैं, जो श्रीवत्स-लांछन को धारण करते हैं, उन प्रधान (प्रकृति) से भी सूक्ष्म, अमृत-स्वरूप कृष्ण की मैं आनंद से वंदना करता हूँ ।

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य वीजाय ॥

(कारिकावली)

अर्थः—नवीन मेघों के समान कांतिवाले, गोप-बधुओं के वस्त्रों के चोर, संसार-वृक्ष के बीज रूप-कृष्ण को मेरा नमस्कार हो ।

———

पहला अध्याय

Ashoka Kumar Singh

ऋग्वेद

ऋग्वेद की ऋचाएँ

ऋग्वेद विश्व-साहित्य की सब से प्राचीन रचना है। प्राचीनतम मनुष्य के मस्तिष्क तथा धार्मिक और दार्शनिक विचारों का मानव-भाषा में सब से पहला वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। मनुष्य की आदिम दशा के और भी चिह्न पाए जाते हैं। मिश्र के पिरेमिड और क़ब्रें इसके उदाहरण हैं। लेकिन इन चिह्नों से जब कि मनुष्य के आदिम कला-कौशल पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है, उस के विश्वासों और विचारों के विषय में अधिक जानकारी नहीं होती। अपनी प्राचीनता के कारण आज ऋग्वेद केवल हिंदुओं या भारतीयों की चीज़ न रह कर विश्व-साहित्य का ग्रंथ और सारे संसार के ऐतिहासिकों तथा पुरातत्व-वेत्ताओं की अमूल्य संपत्ति बन गया है। चारों वेदों में ऋग्वेद का स्थान मुख्य है। उसके दो कारण हैं। एक यह कि ऋग्वेद अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। दूसरे, उस में अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक विषयों का सन्निवेश है। यजुर्वेद और सामवेद में याज्ञिक मंत्रों की प्रधानता है। ऋग्वेद में वैदिक-काल की सारी विशेषताओं के अधिक विशद और पूर्ण वर्णन मिल सकते हैं।

ऋग्वेद क्यों पढ़ें? तीन कारण

ऋग्वेद का अध्ययन क्यों आवश्क है? इस प्रश्न का उत्तर हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। ऋग्वेद की भाषा उत्तर-कालीन संस्कृत से बिल्कुल भिन्न है, इसलिए उस का पढ़ना और समझना परिश्रम-साध्य है। आजकल का कोई विद्वान् इतना परिश्रम करना क्यों स्वीकार करे? आज हम ऋग्वेद क्यों पढ़ें? आज-कल के युवक के लिए विज्ञान तथा पश्चिमी साहित्य का पढ़ना आवश्यक है। ऋग्वेद पढ़ने से उसे क्या लाभ हो सकता है? शायद कुछ लोग कहें

कि ऋग्वेद के मंत्रों में सुंदर कविता पाई जाती है, वह कविता जो हिमालय से निकलने वाली गंगा नदी के समान ही पवित्र और नैसर्गिक है, जिस में कृत्रिमता नहीं है, भाव-भंगी नहीं है, अलंकार नहीं है। यह कुछ हद तक ठीक हो सकता है। लेकिन आज जब कि साहित्य के रसिकों को वाल्मीकि और कालिदास तक के पढ़ने का समय नहीं है, कविता के लिए ऋग्वेद को पढ़ने का प्रस्ताव हास्यास्पद मालूम होगा। दार्शनिक विचारों के लिए भी ऋग्वेद को पढ़ना अनावश्यक है। तर्क-जाल से सुरक्षित तेजस्वी षड्दर्शनों को छोड़ कर दार्शनिक सिद्धांत प्राप्त करने के लिए ऋग्वेद की तोतली वाणी किसे रुचिकर होगी? प्लेटो और अरस्तू, कांट और हीगल के स्पष्ट विश्लेषण को छोड़ कर ऋग्वेद की कविता-गर्भित फ़िलॉसफ़ी से किसे संतोष होगा? कुछ लोगों का विचार है कि वेद ईश्वर की वाणी और ज्ञान के अक्षय भंडार हैं। सौभाग्य या दुर्भाग्यवश आजकल के स्वतंत्र-चेता विचारक संसार की किसी पुस्तक को ईश्वर-कृत नहीं मानते। जो पुस्तक हिंदुओं के लिए पवित्र है और मुक्ति का मार्ग बताने वाली है वह ईसाइयों या मुसलमानों के लिए घृणा की चीज़ हो सकती है, इस लिए यदि हम वेदों के सार्वभौम अध्ययन के पक्षपाती हैं तो हमें ऊपर के प्रश्न का कोई और उत्तर सोचना पड़ेगा।

आधुनिक-काल में ऋग्वेद का मान और उस के अध्ययन में रुचि बढ़ जाने के तीन मुख्य कारण हैं। पहले तो ऋग्वेद को ठीक से समझे बिना भारतवर्ष के बाद के धार्मिक और दार्शनिक इतिहास को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता, इसलिए भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रत्येक विद्यार्थी का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह वैदिक-काल का ठीक अनुशीलन करे। हिंदू जाति और हिंदू सभ्यता की बहुत-सी विशेषताएँ ऋग्वेद के युग में बीज-रूप में पाई जाती हैं, जिन का क्रमिक विकास ही हिंदू जाति का इतिहास है। दूसरे, जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं आदिम मनुष्य की मानसिक स्थिति समझने का ऋग्वेद से

बढ़ कर दूसरा साधन हमारे पास नहीं है। यदि हम मनुष्य को समझना चाहते हों, जो कि दर्शन-शास्त्र का ही नहीं ज्ञान-मात्र का उद्देश्य है, तो हमें उस के क्रमिक विकास का अध्ययन करना ही होगा। मनुष्य को किसी एक क्षण में पकड़ कर ही हम नहीं समझ सकते। मानव-बुद्धि और मानवी आकाँक्षाओं की गति किस ओर है, मानव-जीवन अंततः किस ओर जा रहा है, इस को समझने के लिए मनुष्य के इतिहास का धैर्य-पूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है। विकास-सिद्धांत आजकल के मनुष्य के रक्त में समा गया है। इस कारण आधुनिक विद्वान् प्रत्येक शास्त्र और प्रत्येक संस्था का इतिहास खोजते हैं। पाठकों को याद रखना चाहिए कि योरुप के विद्वानों का भारतीय साहित्य की ओर आकृष्ट होने का सब से बड़ा कारण ऐतिहासिक अथवा विकासात्मक दृष्टिकोण ही है।

एक तीसरा कारण भी ऋग्वेद का अध्ययन बढ़ने का उत्पन्न हो गया है। यह कारण तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (कंपरेटिव फ़ाइलालोजी) का आविष्कार है। संस्कृत संसार की सब से प्राचीन भाषाओं में है और उस का ग्रीक, लैटिन, फ़ारसी आदि दूसरी आर्यभाषाओं से अधिक घनिष्ठ संबंध है। वास्तव में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव तब तक ठीक से नहीं रक्खी गई थी जब तक कि योरुप में संस्कृत का प्रचार नहीं हुआ। संस्कृत-साहित्य, विशेषतः वैदिक-साहित्य, के ज्ञान ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों पर प्रकाश की धारा-सी बहा दी। इन तीनों कारणों में सब से मुख्य कारण हमारे युग की ऐतिहासिक रुचि को ही समझना चाहिए।

ऋग्वेद का समय

ऋग्वेद के मंत्रों की रचना कब हुई, इस का निर्णय करना बड़ा कठिन काम है। किंतु उन के अत्यंत प्राचीन होने में किसी को संदेह नहीं है। ऋग्वेद की प्राचीनता का अनुमान कई प्रकार से किया जा सकता है। 'महाभारत' हिंदुओं का काफ़ी प्राचीन ग्रंथ है। डाक्टर वेल्वेल्कर का मत है कि महाभारत की मुख्य कथा बौद्ध-धर्म के प्रचार से पहले लिखी गई थी। बुद्ध जी का समय (५५७-

४७७ ई० पू०) है। महाभारत के कई संस्करण हुए हैं। ऐसा माना जाता है कि सब से पहले संस्करण का नाम 'जय' था जिस में कौरव-पांडवों के युद्ध का वर्णन था। दूसरा संस्करण 'भारत' कहलाया जिस में शायद २४,००० श्लोक थे। उक्त डाक्टर के मत में महाभारत के यह दोनों संस्करण बौद्ध-धर्म से पहले के हैं। कुछ भी हो महाभारत के मुख्य भागों का रचना-काल चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से बाद का नहीं माना जा सकता। यद्यपि उस में कुछ न कुछ मिलावट तीसरी-चौथी शताब्दी ईस्वी तक होती रही। महाभारत से तथा बौद्ध-धर्म से भी उपनिषद् प्राचीन हैं और ब्राह्मण-ग्रंथ उपनिषदों से भी प्राचीन हैं। इस प्रकार वैदिक संहिताओं का समय, और उन में भी ऋग्वेद का समय, काफ़ी पीछे पहुँच जाता है। ऋग्वेद की प्राचीनता दूसरे प्रकार से भी सिद्ध होती है। महाभाष्यकार पतंजलि का समय दूसरी शताब्दी ई० पू० है। पाणिनि, जिन की अष्टाध्यायी पर 'महाभाष्य' नाम की टीका लिखी गई थी, पतंजलि से प्राचीन हैं। यास्क, जिन्हों ने निरुक्त लिखा है, पाणिनि से कहीं अधिक प्राचीन हैं। यास्क, ने 'निघंटु' पर टीका लिखी है जिसे निरुक्त कहते हैं। निघंटु को वैदिक शब्दों का कोष समझना चाहिए। निरुक्तकार सब शब्दों को धातु-मूलक मानते हैं। वर्तमान निरुक्त के लेखक यास्क ने प्राचीन निरुक्तकारों का उल्लेख किया है। इस का मतलब यह है कि वर्तमान निरुक्त लिखे जाने के समय तक अनेक निरुक्तकार हो चुके थे। निरुक्त में एक कौत्स नामक प्रतिपक्षी का कहना है कि वेद-मंत्र निरर्थक हैं। निरुक्तकार ने इस का खंडन किया है। इस विवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि निरुक्तकार के समय तक वेदमंत्रों की व्याख्या के विषय में बहुत मतभेद हो चुका था, यहाँ तक कि कुछ लोग वेद-मन्त्रों का अर्थ करने के ही विरुद्ध थे। उस समय तक वेद-मंत्र काफ़ी पुराने हो चुके थे। वेद-मंत्रों के किस प्रकार अनेक अर्थ होने लगे थे, यह निरुक्तकार यास्क ने उदाहरण देकर बतलाया है। एक जगह वे लिखते हैं:—

तत्को वृत्रः। मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपाञ्च

ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणा वर्षकर्म जायते। तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णा भवंति। अहिवत्तु खलु मंत्रवर्णाः ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्धया शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन्हते प्रसस्यन्दिरे आपः।

ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि वृत्र को मारकर इंद्र ने जल बरसाया। "यह वृत्र कौन है? निरुक्तवालों का मत है कि वृत्र मेघ को कहते हैं। ऐतिहासिकों का मत है कि वृत्त नाम का त्वष्ट्र का पुत्र एक असुर था। जल और तेज (प्रकाश) के मिलने से वर्षा होती है जिसका युद्ध के रूपक में वर्णन करते हैं। मंत्र और ब्राह्मण वृत्र को सर्प वर्णित कहते हैं। अपने शरीर को बढ़ाकर उस ने पानी को रोक दिया। उस के मारे जाने पर जल निकल पड़ा।"

आधुनिक-काल में स्वामी दयानंद ने वेदों का अर्थ कुछ-कुछ निरुक्तकार की तरह करने की कोशिश की है। उन के मन में भी वेदों में ऐतिहासिक कथाएँ नहीं हैं।

वेदों की प्राचीनता का इस प्रकार अनुमान कर लेने पर उन के ठीक समय का प्रश्न दार्शनिक दृष्टि से विशेष महत्व का नहीं है। हम पाठकों को दो-तीन विद्वानों का मत सुना कर संतोष करेंगे। लोकमान्य श्री बालगंगाधर तिलक ने अपने 'ओरायन' ग्रंथ में गणित द्वारा ऋग्वेद का समय ४५०० ई० पू० सिद्ध किया है। जर्मन विद्वान् याकोबी भी ऋग्वेद का यही काल मानते हैं। यद्यपि दूसरे कारणों से कुछ भारतीय विद्वान् ऋग्वेद का समय ३००० ई० पू० बतलाते हैं। सर राधाकृष्णन् का विचार है कि ऋग्वेद को पंद्रहवीं शताब्दी ई० पू० में रक्खा जाय तो उसे अधिक प्राचीन बताने का आक्षेप न हो सकेगा। इन सम्मतियों के होते हुए पाठक स्वयं अपना मत निर्धारित कर लें।

ऋग्वेद का परिचय

वेद नाम एक पुस्तक का नहीं बल्कि पुस्तकों के समूह का है। वेद से मतलब पुस्तकों के एक कुटुंब से समझना चाहिए।

१—ऋग्वेद का वाह्य आकार

वस्तुतः वेद संहिता-भाग को कहना चाहिए। कात्यायन के मत में मंत्रों और ब्राह्मणों की वेद संज्ञा है। इस का

अर्थ यह हो सकता है कि उपनिषद् वेद नहीं हैं। स्वामी दयानंद के मत में ब्राह्मण वेद नहीं हैं। वास्तव में ब्राह्मण-ग्रंथ वेदों की सबसे प्राचीन-व्याख्याएँ या टीकाएं हैं। आधुनिक विद्वान् भी संहिता-भाग को ही वेद नाम से पुकारते हैं। परंतु आस्तिक विचारकों के विश्वासानुसार वेद से मतलब संहिता अर्थात् मंत्र-भाग, उस का ब्राह्मण (एक या अनेक), उस से संबद्ध आरण्यक, और उपनिषद्—इन सब से है। ब्राह्मणों के अंतिम भाग को ही आरण्यक कहते हैं, और आरण्यकों के अंतिम भाग को उपनिषद्। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् अपौरुषेय या ईश्वर-कृत माने जाते हैं। प्रत्येक वैदिक संहिता की अनेक शाखाएं पाई जाती हैं। हर-शाखा के मंत्र-पाठ और क्रमों में कुछ-कुछ भेद होता है। ऋग्वेद की पाँच शाखाएं उपलब्ध हैं अर्थात् शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, कौषीतकी, या सांख्यायन और ऐतरेय। शुक्ल-यजुर्वेद की दो शाखाएँ मिलती हैं, काण्व और माध्यन्दिन। इसी प्रकार कृष्ण-यजुर्वेद की पाँच, सामवेद की तीन और अथर्ववेद की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं। बहुत-सी शाखाएँ नष्ट हो गईं। सिद्धांत में प्रत्येक शाखा का ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् होना चाहिए, प्रत्येक शाखा से संबद्ध श्रौत-सूत्र और गृह्य-सूत्र होने चाहिए। छः अंगों अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष का होना भी आवश्यक है। श्रौत सूत्रों में सोमयाग, अश्वमेध आदि का वर्णन है। धर्मसूत्र वर्णाश्रम धर्म बतलाते हैं और गृह्यसूत्रों में उपनयन, विवाह आदि संस्कार करने की विधियाँ वर्णित हैं। शिक्षा नाम के वेदांग में शब्दों का उच्चारण सिखाया जाता है, कल्प में यज्ञों की विधियाँ। निरुक्त का वर्णन हम कर ही चुके हैं। व्याकरण, छंद-शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र तो सभी जानते हैं। प्राचीन-काल में वेद कंठ में रक्खे जाते थे और गुरु-शिष्य-परंपरा से उन के स्वरूप की रक्षा होती थी। बाद को जब शिष्यों की बुद्धि मंद होने लगी तब उपदेश करते-करते थक कर (उपदेशाय क्लायंतः) ऋषियों ने वेदों को लेखनी-बद्ध कर डाला।

वेद-मंत्रों का संकलन बड़े सुंदर और वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। इस के आगे हम ऋग्वेद का ही विशेष वर्णन करेंगे। एक विषय के कुछ मंत्रों के समूह को सूक्त या स्तोत्र कहते हैं। ऋग्वेद इसी प्रकार के सूक्तों का संग्रह है। ऋग्वेद के कुल सूक्तों की संख्या लगभग १०२८ है। सब से बड़े सूक्त में १६४ मंत्र हैं और सब से छोटे में केवल दो। कुल मंत्रों की संख्या लगभग १०,००० है। संपूर्ण ऋग्वेद मंडलों, अनुवाकों, सूत्रों और मंत्रों में विभक्त है। ऋग्वेद में १० मंडल हैं। प्रत्येक मंडल में कई अनुवाक होते हैं, और हर अनुवाक में अनेक सूक्त। दूसरे प्रकार का विभाग भी है जिसमें कुल ऋग्वेद को अष्टकों में, हर अष्टक को वर्गों में और हर वर्ग को सूक्तों में बाँटते हैं। परंतु पहला विभाग ही अधिक प्रसिद्ध है। ऋग्वेद के अधिकांश मंडल एक-एक ऋषि और उस के कुटुंब से संबद्ध हैं। इस का अर्थ यह है कि किसी मंडल विशेष की रचना या ईश्वर से प्राप्ति एक विशेष ऋषि और उस के कुटुंबियों के द्वारा या माध्यम में हुई। आस्तिक हिंदू ऋषियों को मंत्र-द्रष्टा कहते हैं, मंत्र-रचयिता नहीं। ऋग्वेद का दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ, आठवाँ मंडल क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, वशिष्ठ और कण्व नाम के ऋषियों से संबद्ध है। शेष मंडलों में कई ऋषियों के नाम पाए जाते हैं। वेद को छः अंगों सहित पढ़ना चाहिए। किसी मंत्र को उस के ऋषि, छंद और देवता को बिना जाने पढ़ने से पाप होता है।

२--ऋग्वेद की विषय-वस्तु

ऋग्वेद के अधिकांश सूक्त देवताओं की स्तुति में लिखे गए हैं। इन सूक्तों का स्थान भी विशेष नियमों के अधीन है। आगे लिखा हुआ क्रम दूसरे से सातवें मंडल तक पाया जाता है। शेष मंडलों में ऐसा कोई नियम नहीं पाला गया है। सब से पहले अग्नि की स्तुति में लिखे हुए सूक्त आते हैं, फिर इंद्र के सूक्त। उस के बाद किसी भी देवता के स्तुति-विषयक सूक्त, जिन की संख्या सब से अधिक हो, रक्खे जाते हैं। अगर दो सूक्तों में बराबर मंत्र हों तो

बड़े छंद वाला सूक्त पहले लिखा जायगा, अन्यथा अधिक मंत्रों वाला सूक्त पहले लिखा जाता है। लगभग ७००-८०० सूक्तों का विषय देव-स्तुति है; शेष २००-३०० सूक्तों में दूसरे विषय आ जाते हैं।

कुछ सूक्तों में शपथ, शाप, जादू, टोना आदि का वर्णन है। इन्हें 'अभिचार-सूक्त' कहते हैं। ऋग्वेद में इन की संख्या बहुत कम है; परंतु अथर्ववेद में इनका बाहुल्य है।

कुछ सूक्तों में विवाह, मृत्यु आदि संस्कारों का वर्णन है। दसवें मंडल में विवाह-संबंधी सुंदर गीत हैं। उपनयन-संस्कार का नाम ऋग्वेद में नहीं है।

कुछ सूक्तों को पहेली-सूक्त कहा जा सकता है। 'वह कौन है जो अपनी माता का प्रेमी है, जो अपनी बहन का जार है?' उत्तर—'सूर्य'। द्यु लोक के बालक होने के कारण उषा और सूर्य भाई-बहिन हैं जिन में प्रेम-संबंध है। सूर्य द्यौः (आकाश) का प्रेमी भी है। 'माता के प्रेमी से मैं ने प्रार्थना की, बहिन का जार मेरी प्रार्थना सुने; इंद्र का भाई और मेरा मित्र;' (मातुर्दिधिषुमब्रवम्, स्वसुर्जारः शृणोतु मे। भ्राता इंद्रस्य सखा मम), इत्यादि। गणित-संबंधी पहेलियाँ महत्वपूर्ण हैं।

ऋग्वेद में एक द्यूत-सूक्त है, एक सूक्त में मेढकों का वर्णन है, एक अरण्य-सूक्त या बन-सूक्त है। चौथे मंडल में घुड़-दौड़ का वर्णन है। सरमा और पणियों की कहानी शायद नाटक की भाँति खेली जाती थी। सरमा एक कुतिया थी जो देवताओं की गायों की रक्षा करती थी। एक बार पणि लोग गायों को चुरा कर ले गए; सरमा को पता लगाने भेजा गया। सरमा ने गायों को खोज निकाला और इंद्र उन्हें छुड़ा लाए। ऋग्वेद में एक कवयित्री का वर्णन है जिस का नाम घोषा था। उस के शरीर में कुछ दोष थे जिन्हें उस ने अश्विनीकुमारों की प्रार्थना करके ठीक करा लिया। घोषा के अतिरिक्त विश्ववरा, वाक्, लोपामुद्रा आदि स्त्री-कवियों के नाम ऋग्वेद में आते हैं।

यज्ञों के अवसर पर ऋत्विक् लोग देवताओं की स्तुतियाँ गाते थे। ऋग्वेद को जानने वाला ऋत्विक् 'होता', यजुर्वेद को जानने वाला 'अध्वर्यु', और सामवेद को जानने वाला 'उद्गाता' कहलाता था। अथर्ववेद के ऋत्विक् को 'ब्रह्मा' कहते थे।

वैदिक-काल के लोग आशावादी थे, वे विजेता होकर भारतवर्ष में आए थे। जीवन का आनंद, जीवन का संभोग ही उनका ध्येय था। 'हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक सुनें, और सौ वर्ष तक बलवान् बन कर जीते रहें। 'हमारे अच्छी संतान हो, हम संपत्तिवान् हों। हे अग्नि! हमें अच्छे रास्ते पर चलाओ ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्, विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्)।' इस प्रकार की उन की प्रार्थना होती थी। मृत्यु पर विचार करना उन्हों ने शुरू नहीं किया था। उन का हृदय विजय के उल्लास से भरा रहता था। वे यज्ञ करते थे, दान करते थे और सोमपान करते थे। दुःख और निराशा की भावनाओं से उन का हृदय कलुषित नहीं होता था। उन की उषा प्रभात में सोना बखेरा करती थी, उन की अग्नि उन का संदेश देवताओं तक पहुँचाती थी। इंद्र युद्ध में उन की रक्षा करता था और पर्जन्य उन के खेतों को लहलहाता रखता था। उस समय की स्त्रियों को काफ़ी स्वतंत्रता थी; उन के बिना कोई यज्ञ, कोई उत्सव पूरा न हो सकता था। आर्य लोगों का विश्वास था कि वे मर कर अपने पितरों के पास पहुँच जायँगे। देवता लोग अमर हैं, सोमपान करके, यज्ञ करके हम भी अमर हो जायँ— यह उन की अभिलाषा और विश्वास था।

भारत के आर्यों की निरीक्षण-शक्ति तीव्र थी, उन के ज्योतिष-संबंधी आविष्कार इस का प्रमाण हैं। वे स्वभाव से ही प्रकृति-प्रेमी और सौंदर्य-उपासक थे। वे प्राकृतिक शक्तियों और समाज दोनों में नियमों की व्यापकता देखना चाहते थे। प्रकृति के नियमित गति-परिवर्तनों की व्याख्या कैसे की जाय? आर्यों ने कहा कि प्राकृतिक घटनाओं के पीछे अधिष्ठातृ-

देवताओं की शक्ति है। उन्हों ने प्राकृतिक पदार्थों में देव-भाव और मनुष्यत्व का आरोपण किया। प्राकृतिक घटनाओं और पदार्थों को देवताओं के नाम से संबोधन करते हुए भी आर्य लोग उन घटनाओं और पदार्थों के प्राकृतिक होने को नहीं भूले। देवताओं की उपासना में वे प्रकृति को न भुला सके। प्राकृतिक शक्तियों में उन का व्यक्तित्व का आरोपण अपूर्ण रहा। इस घटना के महत्वपूर्ण परिणाम पर हम बाद को दृष्टिपात करेंगे।

ऋग्वेद के देवता

ऋग्वेद के देवताओं को विद्वानों ने तीन श्रेणियों में विभाजित किया है :—

(१) आकाश या द्यौः के देवता—इस श्रेणी के देवता बहुत महत्वपूर्ण हैं। द्यौः, वरुण, सौर-मंडल के देवता (सूर्य, सविता, पूषन् और विष्णु) और उषा मुख्य हैं।

(२) अंतरिक्ष या वायुमंडल के देवता—जैसे इंद्र, मरुत् और पर्जन्य।

(३) पृथ्वी के देवता—जैसे अग्नि और सोम। इन के अतिरिक्त उत्तर काल में जब यज्ञों की महिमा कुछ अधिक बढ़ गई, तब यज्ञ-पात्र मूसल आदि उपयोगी पदार्थ भी देवता होने लगे। कुछ भाव पदार्थ जैसे श्रद्धा, स्तुति आदि में भी देवत्व का आरोपण कर दिया गया। ब्रह्मणस्पति स्तुति का देवता है।

नीचे हम कुछ महत्वपूर्ण देवताओं का वर्णन देते हैं।

वरुण

पाठकों को याद रखना चाहिए कि वैदिक देवताओं और हिंदू-देवताओं में कुछ भेद है। वैदिक-काल में जो देवता प्रसिद्ध थे वे धीरे-धीरे कम प्रसिद्ध होते गए। वैदिक काल में ब्रह्मा-विष्णु-महेश अपने वर्तमान रूप में सर्वथा अज्ञात थे। राम और कृष्ण का तो वेदों में ज़िक्र हो ही नहीं सकता, क्योंकि वे बाद के इतिहास के व्यक्ति हैं। वैदिक युग के प्रारंभिक दिनों का सब से प्रसिद्ध देवता वरुण है। वरुण वेदों का शांति-प्रिय देवता है। वह विश्व का नियंता और शासक है। अपने स्थान में गुप्तचरों से घिरे

हुए बैठ कर वरुण जगत का शासन करता है।[1] वरुण को प्रसन्न करने के लिए अपने नैतिक-जीवन को पवित्र बनाना आवश्यक है। वरुण का नाम धृत-व्रत है। वह प्राकृतिक और नैतिक नियमों का संरक्षक है। धर्म के विरुद्ध चलने वालों को वरुण से दंड मिलता है। प्रकृति और नैतिक जीवन दोनों पर अखंड नियमों का आधिपत्य है। नियमों की व्यापकता को ऋग्वेद के ऋषियों ने 'ऋत' नाम से अभिहित किया है। ऋत से ही सारा संसार उत्पन्न होता है। वरुण ऋत का रक्षक है (गोपा ऋतस्य)। मनुष्यों के अच्छे-बुरे कर्म वरुण से छिपे नहीं रहते। वह सर्वज्ञ है। जो आकाश के उड़ने वाले पक्षियों का मार्ग जानता है, जो समुद्र में चलने वाली नावों को जानता है। जो वायु की गति को जानता है,[2] वह वरुण हमें सन्मार्ग पर चलाए। वरुण बारह मासों को जानता है और जो लौंद का महीना पैदा हो जाता है उसे भी जानता है।[3]

मित्र नामक सौर देवता वरुण के हमेशा साथ रहता है। वेद के कुछ सूक्त 'मित्रावरुण' की स्तुति में हैं। वरुण का धात्वर्थ है 'आच्छादित करने वाला'। वरुण तारों से भरे आकाश को आच्छादित करता है। इस प्रकार वरुण प्रकृति से संबद्ध हो जाता है।

सौर मंडल के देवता

सौर-मंडल से संबद्ध देवता सूर्य, सविता, पूषन और विष्णु हैं। मित्र भी सौर देवताओं में संमिलित हैं। इन देवताओं में विष्णु सब से मुख्य हैं। भारत के उत्तरकालीन धार्मिक इतिहास में विष्णु सब से बड़े देवता बन जाते हैं, पर ऋग्वेद में विष्णु का स्थान इंद्र और वरुण से नीचे है। विष्णु की सब से बड़ी विशेषता उन के तीन चरण हैं। अपने पाद-क्षेपों में विष्णु अर्थात् सूर्य पृथ्वी आकाश और पाताल तीनों लोकों में घूम लेते हैं। वामनावतार की कथा का उद्गम ऋग्वेद के विष्णु-संबंधी तीन चरणों का यह वर्णन ही है। विष्णु

[1] ऋ० १। २५। १०
[2] ऋ० १। २५। ७, ६
[3] ऋ० १। २५। ८

को उरु क्रम या दूर जाने वाला कहा गया है। विष्णु 'उरुगाय'[1] हैं, उन की बहुत-सी प्रशंसा होती है। विष्णु के तीन चरणों में समस्त संसार रहता है, विष्णु के चरणों में मधु का निर्झर है।[2] विष्णु तीनों लोकों को धारण करते हैं। विष्णु का परम-पद ध्रुव भासमान (प्रकाशमय) रहता है। देवताओं के लिए यज्ञ करने वाले मनुष्य विष्णु के लोक में जाते हैं।

उषा

आकाश के देवताओं में उषा का एक विशेष स्थान है। उषा स्त्री-देवता है। ऋग्वेद की दूसरी स्त्री-देवता अदिति है। जो आदित्यों की जननी है। ऋग्वेद के कुछ अत्यंत सुंदर सूक्त उषा की प्रशंसा में लिखे गए हैं। उषा सूर्य की प्रियतमा है। वह उसे अपना वक्षःस्थल दिखाती है। वह अचल-यौवना तथा अमर है और अमरता का वरदान देने वाली है। नित्य नई रहने वाली उषा मरण-शील मनुष्यों के हृदय में कभी-कभी अस्तित्व-संबंधी गंभीर और करुण-भाव उत्पन्न कर देती है। उषा स्वर्ग का द्वार खोल देती है। वह रात्रि की बहन है। नीचे हम अनेक सुंदर उषा-सूक्तों में से एक देते हैं। यह सूक्त ऋग्वेद के तीसरे मंडल का ६१ वाँ सूक्त है। ऋषि विश्वामित्र हैं; और छंद 'त्रिष्टुप' है। उत्तर-संस्कृत साहित्य के इंद्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा आदि छंद इसी से निकले हैं।

हे उषे देवी यशस्विनि बुद्धि की वेला,
हे विभव-शालिनि हमारा हो स्तवन स्वीकार।
अहह प्राचीने तुम्हारा है अचल यौवन,
विश्व-कमनीया नियम से कर रहीं पद-चार।
स्वर्णमय रथ पर उदित होतीं अमर देवी,
मुक्त तुम करतीं विहंगों का सुरीला गान।
आशु-गति, ओजस्विनी रवि की कनक-वर्णों,
रश्मियाँ करतीं वहन सुंदर तुम्हारा यान।

---

[1] ऋ० १।१५४।१

[2] ऋ० १।१५४।५

विश्व के संमुख अमरता की पताका-सी,
ऊर्ध्व-नभ में नित्य तुम होती उषे शोभित।
अयि सदा नव-यौवने इस एक ही पथ में,
चक्र-सी घूमो निरंतर कर भुवन मोहित।
तिमिर का अंचल हटाती रवि-प्रिया सुंदर,
भूमि-नभ के बीच जब करती चरण-निक्षेप।
सुभग अंगों की प्रभा से विमल देवी के,
जगत हो उठता प्रकाशित निमिष भर में एक।
सामने आभामयी के सब प्रणति के साथ,
ला धरो यज्ञान्न का, हवि का मधुर उपहार।
रोचना, रमणीय रूपा की मनोहर कांति,
ढालती आकाश में आलोक की मधु-धार।
दीखती जो पृथक् नभ से ज्योति से अपनी,
नियम-शीला जो दिखाती विविध रूप-विलास।
आ रही आलोक-शालिनि अब उषा वह ही,
अग्नि ! जाकर मांग लो ऐश्वर्य उस के पास।
दिवस का आरंभ दिनकर है उषा जिस की,
अवनि-नभ के बीच देखो आ गया द्युतिमान्।
वरुण की, आदित्य की ज्योतिर्मयी माया,
कर रही है अखिल जग में स्वर्ण-शोभा-दान।

इंद्र

ऋग्वेद के सूक्त एक ही समय में नहीं लिखे गए हैं। दस हज़ार से भी अधिक मंत्रों की रचना में अवश्य ही पर्य्याप्त समय लगा होगा। जब तक आर्य शांति-पूर्वक रहे तब तक उन में वरुण का अधिक मान रहा। युद्ध की आवश्यकताओं ने वज्र और बिजली को धारण करनेवाले इंद्र को अधिक प्रसिद्ध कर दिया। इंद्र सौ प्रतिशत युद्ध का देवता है। 'जिस ने उत्पन्न होते ही यज्ञ

करके अपने को सब देवताओं के ऊपर बिठा दिया। जिस के भय से आकाश और पृथ्वी काँपते हैं, हे मनुष्यो, वह बलशाली इंद्र है। जिस ने काँपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया, जिस ने कुपित पर्वतों को रोका, जो अंतरिक्ष और द्यौः को धारण करता है, वह इंद्र है।[1] जिस ने वृत्र नाम के सर्प को मार कर सात नदियों को बहाया, जिस ने पत्थरों को रगड़ कर अग्नि पैदा की, जो युद्ध में भयंकर है, हे मनुष्यो वह इंद्र है। इंद्र की सहायता के बिना कोई युद्ध में नहीं जीत सकता। युद्ध-स्थल में आर्त हो कर लोग इंद्र को पुकारते हैं। सुदामा नाम के आर्य सामंत को शत्रुओं ने घेर लिया पर वह इंद्र की पूजा करता था, इस लिए उस की जीत हुई।[2] इंद्र को पृथ्वी और आकाश नमस्कार करते हैं। उस की भय से पर्वत काँपते हैं। वह सोमपान करने वाला है। वह वज्र-बाहु है और वज्र-हस्त है। 'जो सोम का रस निकालता है, जो सोमरस को पकाता है, उसे इंद्र ऐश्वर्य देता है। हे इंद्र! हम तुम्हारे प्रिय भक्त हैं। हम वीर पुत्रों सहित तुम्हारी स्तुति करें।' इंद्र को ऋग्वेद में कहीं-कहीं अहल्या-जार कहा गया है। मरुद्‌गण इंद्र के सहचर हैं।

अंतरिक्ष के देवताओं में हमने केवल इंद्र का वर्णन किया है।

अग्नि

पृथ्वी के देवताओं में अग्नि मुख्य है। हम कह चुके हैं कि ऋग्वेद के कुछ मंडलों में अग्नि-संबंधी सूक्त सब से पहले आते हैं। अग्नि यज्ञ का पुरोहित और देवता है। अग्नि वह दूत है जो पृथ्वी से आकाश तक घूमता है। अरणियों में उसका निवास-स्थान है। वह देवताओं तक यज्ञ का हवि पहुँचाता है। घृतमय उस के अंग हैं, मक्खन का उस का मुख है। ऋग्वेद में अग्नि की नाई से तुलना की गई है, जो पृथ्वी के मुख से घास-पात दूर कर देता है।

---

[1] ऋ० मं० २, सूक्त २१

[2] ऋ० मं० ७, सूक्त ८३

हम ने विस्ता-भय से कुछ ही देवताओं का वर्णन किया है। आकाश के देवताओं में अश्विनीकुमारों का भी स्थान है। इन्हें हमेशा द्विवचन में संबोधित किया जाता है। मित्र और वरुण, का भी कहीं-कहीं साथ-साथ वर्णन होता है। ऋग्वेद के अंतिम भागों में प्रजापति नामक देवता का महत्व बढ़ने लगता है; आगे चल कर यही प्रजापति ब्रह्मा बन जाते हैं। ऋग्वेद का "कस्मै देवाय" सूक्त प्रजापति पर लिखा गया है, यह भारतीय विद्वानों का मत है। सायण के अनुसार 'क' का अर्थ प्रजापति है। आधुनिक योरपीय विद्वान् 'कस्मै' का अर्थ 'किस को' करते हैं। "हम किसे नमस्कार करें (कस्मै देवाय हविषा विधेम) ?" उन का कथन है कि यह सूक्त[1] इस बात का द्योतक है कि आर्यों के हृदय में ईश्वर की सत्ता के संबंध में संकल्प-विकल्प होने लगे थे।

एक देववाद की ओर

ऋग्वेद के प्रारंभिक ऋषियों ने जगत को आकाश, अंतरिक्ष और पृथ्वीलोक में विभक्त करकेउन में भिन्न-भिन्न देवताओं को प्रतिष्ठित कर डाला था। विश्व को इस प्रकार खंड-खंड कर डालना समीचीन नहीं है, यह तथ्य ऋग्वेद के ऋषियों से छिपा न रह सका। ऋग्वेद के मनीषी कवि बहुत से देवताओं से अधिक काल तक संतुष्ट न रह सके। हम पहले कह चुके हैं कि आर्यों का प्रकृति में व्यक्तित्व का आरोपण अपूर्ण रहा था। प्रकृति के सब पदार्थ और घटनाएँ एक-दूसरे से संबद्ध हैं, इस लिए उन के अधिष्ठाता देवताओं की शक्तियों को मिला कर एक महाशक्ति की कल्पना का उत्पन्न होना, स्वाभाविक ही था। एक और प्रवृत्ति आर्य कवियों में थी जो उन्हें एक देववाद की ओर ले गई। किसी देवता की स्तुति करते समय कवि-भक्त अन्य देवताओं को भूल-सा जाता है और अपने तत्कालीन आराध्य-देवता को सब से बड़ा समझने और वर्णन करने लगता है। वैदिक कवियों की एक

---

[1] ऋ० मं० १०, सूक्त १२१

देवता को सब देवताओं से बढ़ा देने की इस प्रवृत्ति को कुछ पश्चिमी विद्वानों ने (हेनोथीइज़्म) नाम दिया है। दूसरे विद्वानों ने इसे (अपारचूनिस्ट मानोथीइज़्म) कह कर पुकारा है। हिंदी में हम इसका अनुवाद 'आवसरिक एकदेववाद' कर सकते हैं। भक्ति के आवेश में अन्य देवताओं को भूल जाने का अवसर पाते ही वैदिक कवि एक का उपासक बन जाता है।

आवसरिक एकदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर संक्रमण (ट्रानज़िशन) वैदिक ऋषियों के लिए कठिन बात न थी। ऋग्वेद के कई मंत्र इस बात की साक्षी देते हैं कि आर्यों में एक ईश्वर की भावना इतने प्राचीनकाल में उत्पन्न हो गई थी। एक प्रसिद्ध मंत्र ईश्वर की भावना को इस प्रकार व्यक्त करता है—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।[1]

अर्थात् एक ही को विद्वान् लोग बहुत प्रकार से पुकारते हैं; कोई उसे अग्नि कहता है, कोई यम और कोई मातरिश्वा (वायु)। यह आर्यों का दार्शनिक एकदेववाद है। आवसरिक एक देववाद को हम काव्यिक अथवा साहित्यिक एकदेव-वाद कह सकते हैं।

नासदीय सूक्त

परंतु एक-ईश्वरवाद अथवा एकदेववाद ही दर्शनशास्त्र का अंतिम शब्द नहीं है। यदि जगत ईश्वर से सर्वथा भिन्न है तो उन दोनों में कोई आंतरिक संबंध नहीं हो सकता। यदि ईश्वर और जगत में विजातीयता है तो हम एक को दूसरे का नियंता कैसे कह सकते हैं? जगत के क्रम और नियम-बद्धता के लिए एक जगत से बाहर का पदार्थ उत्तरदायी नहीं हो सकता। आश्चर्य तो यह है कि भारतीय विचारकों ने ईसा से हज़ारों वर्ष पहले दर्शनशास्त्र के इस अत्यंत गूढ़ सिद्धांत का अन्वेषण कर डाला था। ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' की गणना विश्व-साहित्य के 'आश्चर्यों' में होनी चाहिए। ऋग्वेद

---

[1] ऋ, १।१४४।४६

के बाद के तीन चार हज़ार वर्षों में सृष्टि और प्रलय की रहस्य-भावना से आकुल होकर पूर्व या पश्चिम के किसी कवि ने नासदीय सूक्त से अधिक सुंदर या उतनी सुंदर भी कविता की रचना की हो, यह मुझे ज्ञात नहीं है। काव्य और दर्शन दोनों की ऊँची से ऊँची उड़ानें इस सूक्त में अभिव्यक्त हुई हैं। यदि आज भारतवासी अपने वेदों और उन के दार्शनिक सिद्धांतों पर गर्व करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इस भावाकुल रहस्यपूर्ण सूक्त का अनुवाद करने की चेष्टा अनेक लेखकों और कवियों ने की है। अंग्रेजी में इस के कई पद्यानुवाद हैं। सूक्त के कुछ पद तो सचमुच अपने गहन संकेतों से मस्तिष्क को निगूढ़ भाव-जाल में फँसा देते हैं। क्योंकि मूल सूक्त तक बहुत से पाठकों की पहुँच न हो सकेगी, इस लिए हम नीचे उक्त सूक्त[1] का भावानुवाद देने का दुस्साहस करते हैं।

न सत् था न असत् उस काल था
न रज थी न गगन का शून्य था
ढक रहा था क्या ? किसको ? कहाँ,
सलिल के किस गहरे गर्भ में,
मृत्यु थी न अमरता थी कहीं
दिन न था, न कहीं पर थी निशा
"एक" वह लेता बस साँस था
पवन थी न कहीं कुछ और था।
तिमिर था तम से आच्छन्न हाँ!
सलिल से यह सब कुछ था ढका
बीज लघु था गुप्त पड़ा कहीं
तपस् से जो संवर्द्धित हुआ।
जग उठी उस में द्रुत वासना
(था मनोभव-बीज यही अहो)

---

1 ऋ०, मंडल १०, सूक्त २६

सत् असत् का है बंधन यही
बस यही कोविद कवि कह सके !
किरण जो तिरछी प्रसरित हुई
वह कहां थी ? ऊपर या तले ?
महिम रेतस् का आधार था
उपरि था संकल्प, स्वधा तले !
कौन जाने, कौन बता सके
कहां से यह सृष्टि उदित हुई
देवगण आए सब बाद ही
कह सके फिर कौन रहस्य यह ?
सृष्टि यह किस से निःसृत हुई,
कब बनी ? अथवा न कभी बनी ?
ऊर्ध्व - नभ - वासी अध्यक्ष भी
जानता इस को, कि न जानता !!

इस सूक्त में विश्व की एकता की भावना हम स्पष्ट-रूप में व्यक्त हुई पाते हैं। आरंभ की छः पंक्तियों में वैदिक कवि कहता है कि आरंभ में कुछ भी नहीं था अथवा, जो कुछ था उसे सत् असत् आदि नामों से नहीं पुकारा जा सकता। परंतु 'कुछ नहीं' से तो 'कुछ' की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कवि कहता है कि उस समय वह "एक" था जो बिना हवा के अपनी शक्ति से सांस ले रहा था। उस समय अंधकार अंधकार में लीन था। मानों सब चीजें पानी के गर्भ में थीं। न जाने कैसे उस एक में काम-बीज का उद्भव हुआ जिस से सारे संसार की सृष्टि हुई। यह सृष्टि कब और कहां से उत्थित हो पड़ी, इसे कौन बता सकता है। ऊँचे आकाश में जो जगत का अध्यक्ष है वह भी, इस सृष्टि-रहस्य को जानता है या नहीं, कौन कहे ?

एकदेववाद और एकेश्वरवाद से भी असंतुष्ट होकर वैदिक ऋषियों ने

विश्व की अनेकता में एकता को देखा। एक ही सूत्र (धागे) में संसार की सारी वस्तुएं पिरोई हुई हैं। विभिन्न घटनाएं नियमों के अधीन हैं और वे नियम एक दूसरे से संबद्ध हैं। यह वैदिक अद्वैतवाद या एकत्व-वाद उपनिषदों में और भी स्पष्ट रूप में पुष्पित और पल्लवित हुआ। वैदिक अद्वैत के विषय में पॉल डॉयसन नामक विद्वान् कहते हैं कि भारत के विचारक दार्शनिक मार्ग से विश्व की एकता के सिद्धांत पर पहुँचे। मैक्समूलर की सम्मति में ऋग्वेद के मंत्रों के संग्रह से पहले ही आर्यों की यह धारणा बन चुकी थी कि विश्व-ब्रह्मांड में एक ही अंतिम तत्व है।

ऋग्वेद के एक सूक्त का वर्णन हम और करेंगे। ऋग्वेद का 'पुरुष-सूक्त'[1] नासंदीय सूक्त से ही कम प्रसिद्ध है। इस सूक्त में पुरुष के बलि-दान से संसार की सृष्टि बताई गई है। एक आदिम तत्व की भावना यहां भी प्रबल है। यज्ञ करने की इच्छावाले देवताओं ने पुरुष पशु को बाँध दिया (देवा यद्यज्ञं तन्वाना अवध्नन् पुरुषं पशुम्)। उस पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ और विराट् से पुरुष; दोनों ने एक दूसरे को उत्पन्न किया।

पुरुष का वर्णन बड़ा कवित्वपूर्ण है। पुरुष के हजारों सिर हैं, हज़ारों आँखें और हज़ारों चरण, वह पृथ्वी को चारों ओर से छूकर (व्याप्त करके) भी दस अंगुल ऊँचा रहा। पुरुष के एक चरण में सारा ब्रह्मांड समाया हुआ है और उस के तीन अमृत-भरे चरण ऊपर द्यु-लोक में स्थित हैं। भाव यह है कि पुरुष की व्यापकता विश्व-ब्रह्मांड में ही समाप्त नहीं हो जाती। जो हुआ है और जो होगा वह सब पुरुष ही है (पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्)। ऐसी पुरुष की महिमा है, पुरुष इस से भी अधिक है ऋग्वेद के पुरुष का वर्णन पढ़ते समय गीता के विश्वरूप का वर्णन याद आ जाता है। ब्रह्मांड की सारी उल्लेखनीय व्यक्तियां (एंटिटीज़)

---

[1] यह सूक्त यजुर्वेद में भी पाया जाता है। देखिए ऋग्वेद मं० १०, सूक्त ९० और यजुर्वेद, अध्याय ३१

पुरुष से उत्पन्न हुई हैं। 'चंद्रमा उस के मन से उत्पन्न हुआ, सूर्य उस की आँख से, उस के मुख से इंद्र और अग्नि, उस की सांस से वायु। उस की नाभि से अंतरिक्ष उत्पन्न हुआ, उस के सिर से आकाश उस के चरणों से पृथ्वी, और उस के कानों से दिशाएं।' सामाजिक संस्थाओं का स्रोत भी पुरुष ही है। 'ब्राह्मण उस का मुख था, क्षत्रिय उस की बाहें, वैश्य उस के ऊरु या जांघें; शूद्र उस के चरणों से उत्पन्न हुए। उसी पुरुष से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामदेव की उत्पत्ति हुई, उसी छंद (अथर्ववेद ?) उत्पन्न हुए (ऋचः सामानि जज्ञिरे, छंदांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद जायत)।

वैदिक काल के लोगों के विषय में एक बात और कह कर हम यह प्रकरण समाप्त करेंगे। वैदिक ऋषियों ने क्रुद्ध स्वर में कुछ अपव्रत लोगों का वर्णन किया है। 'अपव्रत' का अर्थ है 'सिद्धांत-हीन' या 'नास्तिक'। वे ऐसे व्यक्तियों के लिए 'ब्रह्म-द्विष्' (वेदों से घृणा करने वाले) और 'देवनिद्' (देवताओं की निंदा करने वाले) विशेषणों का प्रयोग भी करते हैं। एक इंद्र-सूक्त का हर मंत्र, 'हे मनुष्यो, उसे इंद्र समझो' इस प्रकार समाप्त होता है। सूक्त के प्रारंभ में कहा गया है—जिस के विषय में लोग पूछते हैं "वह कहां है ?" इस से मालूम होता है कि इंद्र की सत्ता को न मानने वाले नास्तिक भी उस समय मौजूद थे। यह वैदिक-काल के लोगों के स्वतंत्र-चेता निर्भय विचारक होने का प्रमाण है।

—:*:*:—

अध्याय २

उपनिषदों की ओर

जब हम वैदिक काल से उपनिषत्काल की ओर संक्रमण करते हैं तब हमें एक ऐसे प्रदेश में होकर जाना पड़ता है जहां के वायुमंडल में कविता और दर्शन दोनों की गंध फीकी पड़ जाती है। ऋग्वेद के बाद यजुर्वेद और सामवेद में ही यज्ञों की महिमा बढ़ने लगती है। इन वेदों के बहुत-से मंत्र ऋग्वेद से लिए गए हैं, यद्यपि उनके स्वरों और क्रमों में भेद कर दिया गया है। नए मंत्र भी ऋग्वेद की ऋचाओं के समान सुंदर और महत्व-पूर्ण नहीं हैं। यजुर्वेद के समय में यज्ञ-संबंधी कृत्रिमता बढ़ने लगती है। देवताओं से छोटी-छोटी माँगों की बार-बार आवृत्ति की जाती है और हरेक माँग या प्रार्थना के साथ कोई याज्ञिक क्रिया लगा दी जाती है। यजुर्वेद और सामवेद के लेखकों में भक्ति कम है और लोभ अधिक। अथर्ववेद वास्तव में मौलिक ग्रंथ है लेकिन उस में आर्यों की अपेक्षा अनार्यों अर्थात् भारतवर्ष के आदिम निवासियों की सभ्यता और विश्वासों का ही अधिक वर्णन है। अथर्ववेद के मंत्रों में जादू-टोने और मंत्र-तंत्र की बातों का बाहुल्य है परंतु यहां भी आर्यों का प्रभाव स्पष्ट है।[1] बुरे जादू की निंदा और अच्छे प्रयोगों की प्रशंसा की गई है। अनेक क्रियाएं कुटुंब और गाँव में शांति फैलाने वाली हैं। इस वेद में वैद्यक-शास्त्र की भी अनेक बातें हैं जिन के आधार पर भारतीय चिकित्सा-शास्त्र का विकास हुआ। अथर्ववेद के समय में आर्य लोग अनार्य लोगों को उन के विश्वासों और धार्मिक भावनाओं सहित आत्मसात् करने की चेष्टा कर रहे थे। इस काल में भूत-

---

[1] राधाकृष्णन, भाग १, पृ० ११८—१२२। अथर्ववेद के विषय में ऐसी सम्मति हम ने आधुनिक विद्वानों के आधार पर दी है। हमें स्वयं उक्त वेद को पढ़ने का अवसर नहीं मिला है।

प्रेतों, वृक्षों और पर्वतों की पूजा आर्य लोगों में शुरू होने लगी। कुछ प्रसिद्ध हिंदू देवताओं की उत्पत्ति आर्य और अनार्य धर्मों के सांकर्य (मेल) से हुई है। भयंकर रुद्र जो बाद को मंगलमय शिव हो गए और उन के पुत्र गणपति इसी प्रकार हिंदू देव-वर्ग (हिंदू पैंथिआन) में प्रविष्ट हुए। जैसा कि श्री राधाकृष्णन् ने लिखा है हिंदू धर्म आरंभ से ही विस्तार-शील, वर्द्धिष्णु, और परमतसहिष्णु रहा है। भारत के दार्शनिक इतिहास में अथर्ववेद का विशेष स्थान नहीं है, यद्यपि कोई धार्मिक इतिहासकार उक्त वेद की उपेक्षा नहीं कर सकता।

ब्राह्मण-युग

ब्राह्मण-युग के ऋषियों को हम मंत्र-द्रष्टा या मंत्र-रचयिता कुछ भी नहीं कह सकते। उन्हें हम संहिता-भाग का एक विशेष दृष्टिकोण से व्याख्याता कह सकते हैं। मंत्र-रचना का युग समाप्त हो चुका था। इस काल के आर्यों ने धार्मिक विधानों की ओर ध्यान देना प्रारंभ कर दिया था। "अब इस बात की आवश्यकता हुई कि प्राचीन मंत्रों और ऋचाओं का धार्मिक विधानों से संबंध स्थापित किया जाय।.........इस उद्देश्य से प्रत्येक वेद के ब्राह्मण की रचना प्रारंभ हुई। यह सब गद्य में लिखे गए हैं, पर इन की लेखन-शैली में मधुरता, स्वच्छंदता और सुंदरता नहीं है। वेदों और ब्राह्मणों में मुख्य अंतर यह है कि वेदों की भाषा काव्यमय और पद्यात्मक है पर ब्राह्मणों की भाषा काव्यगुण-हीन और गद्यमय है।" (श्यामसुंदरदास)

ऋग्वेद के समय का भक्तिभाव कम हो चला था। दर्शन और धर्म दोनों से छूट कर आर्यों की रुचि कर्मकांड में बढ़ने लगी थी। ब्राह्मण-ग्रंथ यज्ञों की स्तुति से भरे पड़े हैं। याज्ञिक विधानों की छोटी-छोटी बातों को ठीक-ठीक पूरा करना ही आर्य-जीवन का लक्ष्य बनने लगा था। यज्ञकर्ता आर्य और उन के पुरोहित[1] देवताओं की चिंता नहीं करते थे, उन में आत्म-

---

[1] ब्राह्मण-युग में पुरोहितों की अलग जाति बन चुकी थी और यह जाति जन्म पर निर्भर हो गई थी।

जिज्ञासा की भावना भी नहीं थी और न उन्हें मोक्ष की ही परवाह थी। याज्ञिक क्रियाओं को ठीक-ठीक अनुष्ठित करके इस लोक में ऐश्वर्य और अंत में स्वर्ग पा जाना, यहीं उन का परम उद्देश्य था।

कर्म-सिद्धांत

ठीक-ठीक किए हुए अनुष्ठानों का फल मिलता है, इस में इस काल के आर्यों का उतना ही विश्वास था जितना कि किसी आधुनिक वैज्ञानिक का प्रकृति के अटल नियमों में होता है। ब्राह्मण-काल के पुरोहितों की दृष्टि में विश्व की रचना यज्ञों के अनुष्ठान और उन की फल-प्राप्ति, इन दो बातों के लिए ही हुई थी। यज्ञ-क्रियाओं का फल अनिवार्य है, इस विश्वास का अधिक विस्तृत रूप ही कर्म-सिद्धांत है, यह प्रोफ़ेसर सुरेंद्रनाथ दासगुप्त का मत है। यदि यज्ञ-कर्म का फल निश्चित है तो प्रत्येक कर्म का फल निश्चित या अनिवार्य होना चाहिए। उक्त विद्वान् के मतानुसार कर्म-विपाक और पुनर्जन्म के सिद्धांतों की, जिन्हों ने भारतीय मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला है, उत्पत्ति इसी प्रकार हुई।

वर्णाश्रम धर्म

यज्ञों के इस व्यापारिक धर्म के साथ-साथ ही ब्राह्मण-काल में हिंदू धर्म के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धांतों का भी आविष्कार हुआ। हिंदू-जीवन के आधार-भूत वर्णाश्रम धर्म का स्रोत यही समय है। प्रसिद्ध तीन ऋणों की धारणा इसी समय उत्पन्न हुई। प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह ऋषियों, देवताओं और पितरों का ऋण चुकाए। अध्ययन और अध्यापन से प्राचीन संस्कृति की रक्षा करके ऋषियों का ऋण चुकाना चाहिए, यज्ञ करके देवताओं के ऋण से मुक्त होना चाहिए, और संतानोत्पत्ति करके पितरों से उऋण होना चाहिए। प्रत्येक वर्णवाले को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, इस विषय में ब्राह्मणों के आदेश-वाक्य काफ़ी कठोर हैं। वेदों का न पढ़ने-वाला ब्राह्मण

---

[१] 'इंडियन आइडियलिज़्म,' पृ० ३

यदि आप यहाँ तक आ गए हो तो आगे जानने के लिए — कृपया Page No— [illegible] देखें

उसी प्रकार क्षण भर में नष्ट हो जाता है जैसे आग पर तिनका। ब्राह्मण को चाहिए कि सांसारिक आदर और ऐश्वर्य को विष के समान त्याज्य समझे। प्रत्येक आश्रम-वासी को अपने कर्तव्य ठीक-ठीक पूरे करने चाहिए। ब्रह्मचारियों को इंद्रिय-निग्रह और गुरु की सेवा करनी चाहिए; उन्हें भिक्षा माँग कर भोजन प्राप्त करना चाहिए। गृहस्थ को लोभ से बचना, सत्य बोलना और पवित्र रहना चाहिए। किसी आश्रम वाले को कर्तव्य-विमुख होने का अधिकार नहीं है। जीवन कर्तव्यों का क्षेत्र है। इस युग के द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में ऊँच-नीच का भाव नहीं था।

इस युग में वैदिक काल के देवताओं की महत्ता का ह्रास होने लगा था। यज्ञों के साथ ही अग्नि का महत्व बढ़ने लगा था। लेकिन इस काल का सब से बड़ा देवता प्रजापति है। "तैंतीस देवता हैं, चौंतीसवें प्रजापति हैं; प्रजापति में सारे देवता सन्निविष्ट हैं"। शतपथ में (जो कि यजुर्वेद का ब्राह्मण है) यज्ञ को विष्णु-रूप बताया गया है (यज्ञो वै विष्णुः)। नारायण का नाम भी पाया जाता है। कहीं-कहीं विश्वकर्मा और प्रजापति को एक करके बताया गया है।

राधाकृष्णन् ने इस युग की व्यापारिक यज्ञ-प्रवृत्ति का अत्यंत कड़े शब्दों में वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि "इस युग में वेदों के सरल और भक्तिमय धर्म की जगह एक कठोर, हृदयघाती, व्यापारिक धर्म ने ले ली, जोकि एक प्रकार के ठेके पर अवलंबित था।"[१] आर्यों के पुरोहित मानों देवताओं से कहते थे 'तुम हमें इच्छित फल दो, इसलिए नहीं कि तुम में हमारी भक्ति है, परंतु इस लिए कि हम गणित की क्रियाओं की तरह यज्ञ-विधानों का ठीक क्रम से अनुष्ठान करते हैं।' कुछ यज्ञ ऐसे थे जिन का अनुष्ठाता सदेह (सर्वतनुः) स्वर्ग को चला जा सकता था। स्वर्ग-प्राप्ति और अमरता यज्ञ-विधानों का फल थी, न कि भक्ति-भावना का।

---

१ भाग १, पृ० १२९

"ब्राह्मण-काल में यज्ञों की जटिलता इतनी बढ़ गई थी और यज्ञ-संबंधी साहित्य इतना अधिक हो गया था कि सब का कंठस्थ रखना और यज्ञों के अवसर पर ठीक-ठीक उपयोग करना बहुत कठिन हो गया था।" इसलिए यज्ञ-विधिओं का सूत्र-रूप में संग्रह या संग्रथन करने की आवश्यकता पड़ी और सूत्र-काल का आरंभ हुआ। यह सूत्र भारतीय-साहित्य की अपनी विशेषता है। विश्व-साहित्य में भारतीय सूत्र-ग्रंथों के जोड़ के ग्रंथ कहीं नहीं हैं। श्रौत, धर्म और गृह्यसूत्रों के अतिरिक्त भारतीय आर्यों ने व्याकरण, दर्शन, छंद-शास्त्र आदि विषयों पर भी सूत्र-ग्रंथों की रचना की। इन में से दार्शनिक सूत्रों के विषय में हम आगे लिखेंगे।

—:::**—

अध्याय ३

उपनिषद्

यद्यपि उपनिषदों को ब्राह्मणों का अंतिम भाग बताया जाता है, तथापि दोनों में कोई वास्तविक संबंध नहीं है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है। ऋग्वेद से भी उपनिषदों में विशेष सादृश्य नहीं है। ऋग्वेद के ऋषि अपेक्षाकृत वाह्य-दर्शी थे। वे बहुदेववादी थे। उन की भावनाएं और आकांक्षाएं स्पष्ट थीं। वे आशावादी थे। इस के विपरीत उपनिषद् के ऋषियों की दृष्टि अन्तर्मुखी अधिक है। विश्व-ब्रह्मांड की एकता में उन का अखंड विश्वास है। संसार के भोगों और ऐश्वर्यों के प्रति वे उदासीन दिखाई देते हैं। उन के विचारों पर एक अस्पष्ट वेदना की छाया है। वे संसार के परिमित पदार्थों से अपने को संतुष्ट न कर सके। सांत का अनंत के प्रति अनुराग सब से पहले उपनिषदों की रहस्यपूर्ण वाणी में अभिव्यक्त हुआ है। उपनिषदों की श्रुतियाँ रहस्यवाद के सब से प्रथम गीत हैं। ब्राह्मणों की तरह उपनिषद् कर्मकांड में रुचि नहीं दिखलाते। जब मनुष्य के मस्तिष्क पर विचारों का बोझ पड़ता है, तो वह बहुत-सी गति और वेग खो बैठता है। उपनिषद् कर्म पर नहीं ज्ञान पर, जीवन-संग्राम पर नहीं, जीवन-संबंधी चिंतन पर ज़ोर देते हैं। ऋग्वेद के आर्य ऐहिक ऐश्वर्य की खोज करते थे, वे विजय चाहते थे। ब्राह्मण-युग के यज्ञ-कर्ता स्वर्ग के अभिलाषी थे। उपनिषत्-काल के साधक दोनों के प्रति उदासीन हैं, उन का लक्ष्य मुक्ति है। वे सब प्रकार के बंधनों, सब प्रकार की सीमाओं से मुक्त होकर अनंत में लीन हो जाना चाहते थे। ऋग्वेद के दो-चार दार्शनिक-सूक्तों को छोड़ कर उपनिषदों की तुलना उन से पहले के किसी साहित्य से नहीं की जा सकती। भारतवर्ष

में ब्राह्मण-युग के बाद उपनिषदों का समय आया, इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य केवल सतत गतिशील प्राकृतिक तत्वों से ही संबंद्ध नहीं है, बल्कि उस का विश्व के किसी स्थिर तत्व से भी संबंध है। इस से यह भी सिद्ध होता है कि विश्व की समस्याओं पर विचार और मनन करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है, जिसे कर्म और संघर्ष की प्रवृत्तियां हमेशा के लिए दबा कर नहीं रख सकतीं।

उपनिषद् गद्य और पद्य दोनों में हैं लेकिन उन की भाषा सब जगह काव्यमयी है। वे काव्य-सुलभ संकेतों से भरे पड़े हैं। फिर वे एक व्यक्ति के लिखे हुए भी नहीं हैं। एक ही उपनिषद् में कई शिक्षकों का नाम आता है जिस का अर्थ यह है कि एक उपनिषद् का एक लेखक की कृति होना आवश्यक नहीं है। इन्हीं दो बातों के कारण उपनिषदों के व्याख्याताओं में काफ़ी मत-भेद रहा है। हिंदुओं का विश्वास है कि सब उपनिषद् ईश्वर-प्रदत्त हैं और इस लिए एक ही सच्चे मत का प्रतिपादन करते हैं। वादरायण ने वेदांतसूत्र लिख कर यह दिखाने की चेष्टा की थी कि सब उपनिषदों का विश्व की समस्याओं पर एक मत है; सब उपनिषदों की शिक्षा का वेदांत के पक्ष में समन्वय हो सकता है। आजकल के विद्वान् इस सरल विश्वास का समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। वास्तव में उपनिषदों में अनेक प्रकार के सिद्धांतों के पोषक वाक्य पाए जाते हैं। यही कारण है कि वेदांत के विभिन्न संप्रदायों का हरेक आचार्य अपने मत की पुष्टि करनेवाली श्रुतियां उद्धृत कर डालता है।

उपनिषदों का परिचय

यों तो उपलब्ध उपनिषदों की संख्या सवा-सौ से भी अधिक है जिन में एक अल्लोपनिषद् (मुसलमानों के अल्लाह के विषय में) भी संमिलित है, तथापि सर्वमान्य और महत्वपूर्ण उपनिषदों की संख्या अधिक नहीं है। श्री शंकराचार्य्य ने ईशादि दस उपनिषदों पर ही भाष्य किया है। निम्न-लिखित श्लोक में दस उपनिषद् गिनाए गए हैं :—

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुंड-मांडूक्य-तित्तिरिः
ऐतरेयञ्च छांदोग्यं बृहदारण्यकन्तथा ।

अर्थात् दस मुख्य उपनिषद् ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छांदोग्य और बृहदारण्यक हैं। इस सूची में कौषीतकी, मैत्री (मैत्रायणी) और श्वेताश्वेतर का नाम जोड़ देने पर तेरह मुख्य उपनिषदों की संख्या पूरी हो जाती है। श्लोक में जो उपनिषदों का क्रम है वह केवल पद्य-रचना की सुविधा के अनुसार है। कौन से उपनिषद् किन उपनिषदों से अधिक प्राचीन हैं, इस विषय में तीव्र मतभेद है। प्रोफ़ेसर डॉइसन के मत में गद्य में लिखे उपनिषद् अधिक प्राचीन हैं। परंतु इस मत का पोषक कोई प्रमाण नहीं है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एकंस्ट्रक्टिव सर्वे आफ़ उपनिषदिक फ़िलासफ़ी' में प्रोफेसर रामचंद्र दत्तात्रेय रानडे ने डॉइसन के मत का खंडन किया है। उन की सम्मति में उपनिषदों का आपेक्षिक समय-विभाग इस प्रकार होना चाहिए:—१—बृहदारण्यक और छांदोग्य; २—ईश और केन; ३—ऐतरेय, तैत्तिरीय और कौषीतकी; ४—कठ, मुंडक और श्वेताश्वेतर; ५—प्रश्न, मैत्री और मांडूक्य।

इन समूहों को उत्तरोत्तर अर्वाचीन समझना चाहिए, अर्थात् पहला समूह सब से प्राचीन और अंतिम सब से बाद का है। श्री बेल्वेल्कर का मत है कि एक ही उपनिषद् में भिन्न कालों की रचनाएं पाई जाती हैं। एक ही उपनिषद् के कुछ भाग उस के दूसरे भागों की अपेक्षा प्राचीन या अर्वाचीन हो सकते हैं। श्री राधाकृष्णन् के मतानुसार उपनिषदों का रचना-काल वैदिक मंत्रों के बाद से आरंभ होकर छठवीं शताब्दी ई० पू० तक माना जा सकता है। संभव है कि उक्त तेरह में से कुछ उपनिषद् बौद्ध-मत के प्रचार के बाद बने हों। अलग-अलग-उपनिषदों के रचना-काल का निर्णय करना सर्वथा असंभव है। प्राचीनतम उपनिषदों में दार्शनिक-चिंतन अधिक है; बाद के उपनिषदों में धर्म और भक्ति के भाव आने लगते हैं

उपनिषदोंके लेखक या विचारक

उपनिषद्-साहित्य में दर्जनों दार्शनिकों, शिक्षकों या विचारों के नाम पाए जाते हैं। इन में से कुछ नाम यह हैं[1]—शांडिल्य, दध्यौच, सनत्कुमार, आरुणि, याज्ञवल्क्य, उद्दालक, रैक्व, प्रतर्दन, अजातशत्रु, जनक, पिप्पलाद, वरुण, गार्गी, मैत्रेयी इत्यादि। उपनिषदों के ऋषियों के विषय में एक रोचक और दर्शनीय बात यह है कि उन में से बहुत विवाहित गृहस्थ हैं। याज्ञवल्क्य के दो स्त्रियां थीं। आरुणि के श्वेतकेतु नाम का पुत्र था जिसे उन्हों ने ब्रह्म-ज्ञान सिखाया। इसी प्रकार भृगु वरुण के पुत्र थे। उपनिषदों के अधिकांश-भाग संवाद-रूप में हैं और कहीं-कहीं पति-पत्नी एवं पिता-पुत्र के संवाद बड़े रोचक जान पड़ते हैं।

उपनिषदों की प्रसिद्धि

अपने रचना-काल से ही भारत के दार्शनिक-साहित्य में उपनिषदों का मान होता आया है। उपनिषदों की भाषा बड़ी मनोहर और प्रसाद-गुण संपन्न है। उपनिषदों के ऋषियों की वाणी निष्कपट, सरल बालकों के बोलने के समान हृदय को आकर्षित करने वाली है। यही कारण है कि जो कोई भी उपनिषदों को पढ़ता है, मोहित हो जाता है। सन् १६५६—५७ ई० में दाराशिकोह (औरंगजेब के भाई और शाहजहां के पुत्र) ने उपनिषदों का अनुवाद फ़ारसी में कराया।[2] उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में उन का फ़ारसी से लेटिन में अनुवाद हुआ और वे शीघ्र ही योरुप में प्रसिद्ध हो गए। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहार उपनिषदों पर ऐसे ही मोहित हो गया था जैसे कि महाकवि गेटे 'शकुंतला-नाटक' पर। कहते हैं कि शयन करने से पहले उक्त दार्शनिक उपनिषदों का पाठ किया करता था। अंग्रेज़ी में उपनिषदों के अनेक अनुवाद हैं, जिन में रुअर, मैक्समूलर, डाक्टर गंगा-

---

[1] 'सर्वे आफ़ उपनिषदिक फिलासोफ़ी', पृ० १६

[2] सर्वे आफ़ उपनिषदिक फिलासोफ़ी, पृ० ४२४

नाथ झा आदि के अनुवाद उल्लेखनीय हैं। प्रायः भारत की सभी भाषाओं में उपनिषदों के अनेक अनुवाद पाए जाते हैं।

नीचे हम कुछ महत्वपूर्ण उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय देते हैं, आशा है इस से पाठकों को उपनिषद्-दर्शन की विविधता के समझने में कुछ सहायता मिलेगी।

१—बृहदारण्यक

यह उपनिषद् सब से प्राचीन है और सब से अधिक महत्व का भी है। संपूर्ण उपनिषद् में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में पुरुष को यज्ञ का अश्व मान कर वर्णन किया गया है। "इस पवित्र अश्व का उषा सिर है; सूर्य, चक्षु; वायु, प्राण; अग्नि, मुख; और संवत्सर, आत्मा। द्युलोक उस की पीठ है, अंतरिक्ष, उदर; पृथ्वी, चरण इत्यादि।" कुछ आगे चल कर इसी अध्याय में वर्णन है कि प्रारंभ में आत्मा अकेला था, पुरुष के आकार का (पुरुषविधः)। अकेले वह डरा, इसी लिए अब भी एकांत में लोग डरते हैं। फिर उस ने सोचा, अकेले मैं किस से डरूं? दूसरे से ही भय होता है (द्वितीयाद्वै भयं भवति)। अकेले उस का जी नहीं लगा उस ने अपने को दो में बाँट लिया, एक स्त्री और एक पुरुष। इस प्रकार मनु-ष्यों की सृष्टि हुई। फिर उन में से एक बैल बन गया, दूसरा गाय। इस प्रकार पशु-पक्षियों की सृष्टि हुई।

दूसरा अध्याय। गार्ग्य नाम का अभिमानी ब्राह्मण काशी के राजा अजातशत्रु के पास गया। 'हे राजन्, आदित्य में जो पुरुष है उस की मैं उपासना करता हूँ, चंद्रमा में जो पुरुष है, विद्युत् में, आकाश में, अग्नि में, वायु में, जल में जो पुरुष है, उस की मैं उपासना करता हूँ।' अजातशत्रु ने कहा—'तुम ब्रह्म को नहीं जानते।' और उसने स्वयं गार्ग्य को ब्रह्म का स्वरूप समझाया। इसी अध्याय में याज्ञवल्क्य को अपनी प्रिय-पत्नी मैत्रेयी से संवाद करते हुए दिखलाया गया है। उन्हों ने मैत्रेयी से प्रस्ताव किया—'लाओ मैं तुम्हारे और कात्यायनी बीच में

धन का विभाग कर दूँ।' मैत्रेयी ने कहा, 'यदि यह सारी पृथ्वी धन से पूर्ण हो तो क्या मैं अमर हो जाऊँगी?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि 'धन से अमरता की आशा नहीं की जा सकती।' 'हे भगवन्, जिस से मैं अमर नहीं होऊँगी उस का क्या करूँगी। मैं जिस से अमर होऊँ वही आप बतलाएँ।' याज्ञवल्क्य बोले, 'तुम मेरी प्रिय पत्नी हो, प्यारे वचन बोलती हो। सच जानो कि पति के लिए पति प्रिय नहीं होता, आत्मा के लिए पति प्रिय होता है। स्त्री के लिए स्त्री प्रिय नहीं होती, आत्मा के लिए स्त्री प्रिय होती है' इत्यादि। उपनिषद्-दर्शन के कुछ बहुत ही सुन्दर विचार इस अध्याय में पाए जाते हैं जिन का वर्णन हम आगे करेंगे।

तीसरे अध्याय में जनक जानना चाहते हैं कि सब से बड़ा ब्रह्मवेत्ता कौन है जिसे गउएं दान दी जायँ। याज्ञवल्क्य गउएं लेने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। उत्तरकालीन शंकर के अनुयायी वेदांतियों जैसा वैराग्य याज्ञवल्क्य में नहीं है। जनक की सभा के सारे पंडित क्रुद्ध होकर परीक्षा करने के लिए याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं और याज्ञवल्क्य उत्तर देते है। वचक्नु (वाचाल) की बेटी गार्गी याज्ञवल्क्य से पूछती है—'हे याज्ञवल्क्य! आप कहते हैं कि यह सब जल में ओत-प्रोत है, फिर जल कहाँ ओतप्रोत है?.

याज्ञवल्क्य—वायु में
गार्गी—वायु किस में ओतप्रोत है?
याज्ञवल्क्य—अंतरिक्ष-लोक में, गार्गी।

गार्गी इसी प्रकार प्रश्न करती जाती है कि अंतरिक्ष किस में ओतप्रोत है, इत्यादि। अंत में याज्ञवल्क्य क्रोधित होकर बोले—'गार्गी! अगर तू ज़्यादा प्रश्न करेगी तो तेरा सिर गिर जायगा।' आगे चल कर याज्ञवल्क्य बताते हैं कि सब अक्षर में ओतप्रोत है।

चौथे अध्याय में याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद है। पाँचवें अध्याय में फुटकर दार्शनिक विचारों का संग्रह है। छठवें अध्याय में श्वेतकेतु और

जैवलि प्रवाहण के नाम आते हैं। जैवलि प्रवाहण पांचाल देश का राजा था।

अभिमानी श्वेतकेतु उस से शास्त्रार्थ करने गया। इस अध्याय में कुछ काम-शास्त्र-संबंधी विचार पाए जाते हैं। इच्छित संतान उत्पन्न करने आदि की विधियां भी लिखी हैं।

२—छांदोग्य

इस उपनिषद् में आठ अध्याय हैं। पहले दो अध्यायों में उद्गीथ ओंकार का वर्णन है। इन्हीं में शौव-(श्वान-संबंधी) उद्गीथ भी पाया जाता है, जिस में कुत्ता के मुख से मंत्र गवाए गए हैं। तीसरे अध्याय में सूर्य को मधुमक्खियों का छत्ता बना कर वर्णन किया गया है। इसी अध्याय में कृष्ण का नाम भी आता है। देवकी के पुत्र कृष्ण को 'घोर आंगिरस्' नामक ऋषि ने शिक्षा दी। चौथे अध्याय में सत्यकाम जाबाल और उस की माता की कथा है। सत्यकाम जाबाल हरिद्रुमान् के पुत्र गौतम के पास शिक्षा प्राप्त करने गया। उन्हों ने उस का वंश-परिचय पूछा। सत्यकाम ने उत्तर दिया—'मैं नहीं जानता। माता से पूछकर बताऊँगा।' वह अपनी माता के पास गया। मां ने उत्तर दिया—'पुत्र, यौवन-काल में सेवा करती हुई मैं इधर-उधर घूमती रहती थी। मुझे पता नहीं कि मैं ने तुम्हें कैसे पाया? मैं तेरा गोत्र नहीं बता सकती।'

सत्यकाम ने ठीक ऐसे ही जाकर ऋषि से कह दिया। ऋषि ने कहा, 'तू ने सत्य-सत्य बात कही है, इस लिए तू अवश्य ब्राह्मण है। मैं तुझे अवश्य शिक्षा दूँगा।

पाँचवें अध्याय में बृहदारण्यक के श्वेतकेतु और प्रवाहण जैवलि का संवाद है। इसी अध्याय में अश्वपति कैकेय का नाम भी आता है।

छठवां अध्याय बहुत महत्वपूर्ण है। इस में आरुणि ने अपने पूत्र श्वेत-केतु को ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी है, 'हे श्वेतकेतु वह ब्रह्म तू ही है।' शत-पथ ब्राह्मण में लिखा है कि आरुणि याज्ञवल्क्य के गुरु थे।[1] त्रिवृत्क

[1] सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलासोफी पृष्ठ २३

सिद्धांत पहली बार यहीं समझाया गया है। सातवें अध्याय में नारद ने सनत्कुमार से ज्ञान सीखा है। अंतिम अध्याय में इंद्र और विरोचन के प्रजापति के पास जाकर आत्म-जिज्ञासा करने की कथा है। इन में कुछ कथाओं का वर्णन आगे आएगा।

३-४—ईश और केन

ईशोपनिषद् में केवल अठारह मंत्र हैं। इस उपनिषद् में ज्ञान-कर्म-समुच्चय-वाद का बीज पाया जाता है। आत्मिक कल्याण के लिए ज्ञान और कर्म दोनों आवश्यक हैं। गीता के निष्काम धर्म का मूल भी यही उपनिषद् है। केनोपनिषद् में ब्रह्म की महिमा का वर्णन है। वाणी और मन उसे नहीं जान सकते। देवताओं की विजय वास्तव में ब्रह्म की विजय है। बिना ब्रह्म की शक्ति के एक तिनके को भी अग्नि जला नहीं सकती और वायु उड़ा नहीं सकती।

५—ऐतरेय

आरंभ में केवल एक आत्मा थी। उस ने इच्छा की कि लोकों की सृष्टि करूँ। दूसरे अध्याय में तीन प्रकार के जन्मों का वर्णन है। जब मा के गर्भ में जाता है तब बालक का प्रथम जन्म होता है। गर्भाशय से बाहर आना दूसरा जन्म है। अपना घर पुत्रों को सौंप कर वृद्धावस्था में जब मरता है तो मनुष्य का तीसरा जन्म होता है। तीसरे अध्याय में प्रज्ञान की महिमा का वर्णन है। बहुत से मनोविज्ञान के शब्द इस अध्याय में पाए जाते हैं। संज्ञान विज्ञान, मेधा, धृति, मति, स्मृति, संकल्प आदि मानसिक क्रियाएं प्रज्ञान के ही रूपांतर हैं। यहां 'रेशनल साइकालोजी' का बीज वर्तमान है। प्रज्ञान में सब कुछ प्रतिष्ठित है, प्रज्ञान ब्रह्म है।

६—तैत्तिरीय

पहला अध्याय शिक्षा अध्याय है। आचार्य अपने शिष्य को सिखलाता है—'सत्य बोला कर, धर्माचरण किया कर, स्वाध्याय से प्रमाद मत करना, इत्यादि।' 'जो हमारे अच्छे कर्म हैं उन्हीं का अनुकरण करना, बुरों का नहीं।' दूसरी

ब्रह्मानंदवल्ली में बतलाया गया है कि जो ब्रह्म को आनंद-स्वरूप जानता है, वह किसी से नहीं करता। 'वह रसस्वरूप है, उसी को पाकर आनंदी होता है।' इसी अध्याय में मनुष्यों, गंधर्वों, पितरों आदि के आनंद का वर्णन है। ब्रह्म का आनंद पार्थिव सुखों से करोड़ों गुना बड़ा है। वासना-हीन श्रोत्रिय को भी उतना ही आनंद मिलता है। तीसरी भृगु-वल्ली में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बताई गई है और पंचकोशों का वर्णन है।

७—कौषीतकी

पहले अध्याय में देवयान और पितृयान मार्गों का वर्णन है। अंतिम या चतुर्थ में बालाकि और अजातशत्रु की कथा की आवृत्ति है। दूसरे अध्याय में कौषीतकी, पैंगय प्रतर्दन और शुष्कभृंगार ऋषियों के सिद्धांतों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में इंद्र प्रतर्दन से कहते हैं कि मुझे (इंद्र को) जानने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

८-१०—कठ, मुंडक और श्वेताश्वेतर

कठोपनिषद् बहुत प्रसिद्ध है। इस के अंग्रेजी में कई अनुवाद निकल चुके हैं। कठ की कथा और कविता दोनों रोचक हैं। नचिकेता नामक बालक पिता की आज्ञा से यम (मृत्यु) के यहां (अतिथि बन कर) गया और यम की अनुपस्थिति के कारण तीन दिन तक भूखा रहा। वापिस आने पर यम को बड़ा खेद हुआ और उन्हों ने नचिकेता से तीन वरदान माँगने को कहा। दो इच्छित वर पा जाने पर तीसरे वर में नचिकेता ने 'मरे हुए पुरुष का क्या होता है' इस प्रश्न का उत्तर माँगा। यमाचार्य ने कहा—'तुम धन और ऐश्वर्य माँग लो, सुन्दर स्त्रियां माँग लो, लंबी आयु माँग लो, मगर इस प्रश्न का उत्तर मत माँगो।' परंतु नचिकेता ने अपना हठ नहीं छोड़ा और यम को नचिकेता के प्रश्न का उत्तर देना पड़ा। आत्मा की दुर्ज्ञेयता, अमरता आदि पर इस उपनिषद् में बड़े सुंदर विचार पाए जाते हैं।

कठ और मुंडक दोनों की कविता पर रहस्यवाद की छाया है। मुंडक-

उपनिषद् में सप्रपंच ब्रह्म का बड़ा सुंदर वर्णन है। 'वहां न सूर्य चमकता है, न चंद्रमा, न तारे, न यह बिजलियाँ; फिर इस अग्नि का तो कहना ही क्या ? उस की ज्योति से ही यह सारा जगत् भासमान है। ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिण और उत्तर में है, ब्रह्म ऊपर और नीचे है।'[1] कंठ में श्रेय (मोक्ष) और 'प्रेय' (ऐह लौकिक ऐश्वर्य) का भेद समझाया गया है; मुंडक में परा और अपरा विद्याओं का। विविध शास्त्र, इतिहास आदि अपरा विद्या हैं; परा विद्या वह है जिस से ब्रह्म ज्ञान हो।

श्वेताश्वेतर के पहले अध्याय में तत्कालीन अनेक दार्शनिक सिद्धांतों की आलोचना है। उस समय में 'स्वभाववाद' 'कालवाद' 'यदृच्छावाद' आदि अनेक वाद चल पड़े थे। इस उपनिषद् में शैवमत और सांख्य-संबंधी विचारों का बाहुल्य है। किंतु श्वेताश्वेतर का सांख्य निरीश्वरवादी नहीं है। प्रकृति माया है और महेश्वर मायी (माया के स्वामी या अध्यक्ष)। माया शब्द का प्रयोग करते हुए भी श्वेताश्वेतर में जगत् के मिथ्या होने की कल्पना नहीं है। कुछ समय के बाद सृष्टि और प्रलय होने का विचार भी इस में वर्त्तमान है।

भगवद्गीता के विचारों का आधार बहुत-कुछ यही तीन उपनिषद् हैं। प्रश्नोपनिषद् की शैली वैज्ञानिक और आधुनिक मालूम होती है।

११-१३—प्रश्न, मैत्री, और मांडूक्य

सुकेशा, सत्काम, सौर्यायणी, कौसल्य, वैदर्भी और कबंधी—यह छः जिज्ञासु महर्षि पिप्पलाद के पास जाकर अपने-अपने प्रश्न रखते हैं, जिन का ऋषि क्रमशः समाधान करते हैं।

कबंधी कात्यायन (कात्यायन गोत्र का नाम है) ने पूछा—'भगवन् यह प्रजाएं कहाँ से उत्पन्न होती हैं ?'

भार्गव वैदर्भी ने पूछा—'भगवन् ! कितने देवता प्रजा का धारण करते हैं ? कौन देवता उन्हें प्रकाशित करते हैं ? इन देवताओं में सर्वश्रेष्ठ कौन है ?'

उत्तर—'प्राण'

आश्वलायन कौसल्य ने पूछा—'भगवन्, यह प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है, यह शरीर में कैसे आता है और कैसे निकल जाता है ?

सौर्यायणी गार्ग्य ने प्रश्न किया—'भगवन्, इस पुरुष में क्या सोता है, और क्या जागता रहता है; कौन स्वप्न देखता है; किसे सुख होता है ?'

शैव्य सत्यकाम ने पूछा—'भगवन्,! मरते समय ओंकार के ध्यान से कौन लोक मिलता है ?'

सुकेशा भारद्वाज ने पूछा—'पुरुष क्या है ?'

इन प्रश्नों से यह स्पष्ट होजाता है कि प्राचीन भारत में दर्शन-संबंधी जिज्ञासा बड़ी प्रबल थी। दार्शनिक विषयों पर तरह-तरह से विचार किए जाते थे; कहीं शास्त्रार्थ के रूप में, कहीं शिष्यों की शिक्षा के रूप में।

मैत्री उपनिषद् पर सांख्य और बौद्धधर्म का प्रभाव दिखाई देता है। राजा बृहद्रथ का दुःख और निराशावाद उपनिषदों की 'स्पिरिट' के अनुकूल नहीं है। राजा बृहद्रथ शाक्यायन के पास दार्शनिक जिज्ञासा लेकर जाता है। अंतिम तीन अध्यायों में शनि, राहु, केतु जैसे नाम पाए जाते हैं जिन से उस काल की खगोल-विद्या का कुछ अनुमान होता है। इस उपनिषद् में षडंग-योग का वर्णन भी है।

मांडूक्योपनिषद् सब से छोटा उपनिषद् है। इस की मौलिकता जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय नामक चार अवस्थाओं का वर्णन है। विश्व-ब्रह्मांड में ओंकार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतीत, वर्तमान और भविष्य की सारी सत्ताएं ओंकार का व्याख्यान-मात्र हैं। जागृति अवस्था में चेतना बहिर्मुखी होती है; स्वप्नावस्था में अंतर्मुखी; सुषुप्ति में आत्मा प्रज्ञान-घन और आनंदमय होता है। इन तीनों अवस्थाओं में क्रमशः आत्मा का नाम वैश्वानर, तैजस् और प्राज्ञ होता है। तुरीयावस्था में यह कुछ भी नहीं होता। वहां ज्ञातृ-भाव और ज्ञेय भाव दोनों लुप्त हो

जाते हैं। यही मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था का लक्षण या वर्णन नहीं हो सकता। यह अचिंत्य, शांत, अद्वैतावस्था है। इस अवस्था-प्राप्त को ही 'आत्मा' कहते हैं। मांडूक्य पर श्री शंकराचार्य के परम-गुरु श्री गौड़पादाचार्य ने कारिकाएं लिखी हैं जो वेदांत-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हैं॥

उपनिषद्-दर्शन

उपनिषदों में ब्राह्मण-युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। कर्मकांड की जटिलता पर उपनिषद् के ऋषियों को प्रायः क्रोध आ जाता है। मुंडकोपनिषद् कहता है:—

परविद्या या ब्रह्म-विद्या उस के साधन

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरा मृत्युनन्ते पुनरेवापि यान्ति॥ १।२।७

अर्थात् यह यज्ञ रूप नौकाएं जिन में अठारह प्रकार का ज्ञान-वर्जित कर्म बतलाया गया है, बहुत ही निर्बल हैं। जो मूढ़ लोग इन्हें श्रेय कह कर अभिनंदन करते हैं, वे बार-बार वृद्धावस्था और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यम ने नचिकेता से कहा कि एक रास्ता 'श्रेय' की ओर जाता है, दूसरा 'प्रेय' की ओर। सांसारिक ऐश्वर्य-प्राप्तिका मार्ग एक है और मोक्ष प्राप्ति का मार्ग दूसरा। इन दोनों के द्वंद्व को उपनिषदों ने अनेक प्रकार समझाया है। श्रेय और प्रेय की साधनभूत विद्याएं भी दो प्रकार की हैं। 'परा' विद्या से श्रेय की प्राप्ति होती है और 'अपरा' से प्रेय की। 'दो विद्याएं जाननी चाहिए, परा और अपरा। उन में ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद इत्यादि अपरा विद्या हैं। परा विद्या वह है जिस से उस अक्षर का ज्ञान होता है।'[1] नारद जी ने पास जाकर कहा 'भगवन् मुझे शिक्षा दो।' सनत्कुमार ने कहा है—'तुम ने कहां तक पढ़ा है, जिस के आगे मैं बताऊं?' नारद ने कहा—'भगवन् मैं ने ऋग्वेद पढ़ा है, यजुर्वेद पढ़ा

---

[1] मुंडक० १।१।४-५

है, अन्य वेद भी पढ़े हैं; मैंने देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या······आदि भी पढ़ी है। इस प्रकार हे भगवन् मैं अभी मंत्रवित् ही हूँ, आत्मवित् नहीं इस लिए शोच करता हूँ। आप मुझे शोक के पार पहुँचाएं।'[1] इस उद्धरण से उस समय क्या-क्या पढ़ा जाता था इस का अनुमान हो सकता है। साथ ही उस काल में ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या कितनी ऊँची और पवित्र समझी जाती थी यह भी मालूम हो जाता है। इंद्रियां, मन और तर्क आत्म-प्राप्ति के मार्ग या साधन नहीं हैं, ऐसा उपनिषद् के ऋषियों का विश्वास है। कठ में लिखा है :—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्, आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ २। ४।१

'विधाता ने इंद्रियों को बाह्यदर्शी बनाया है, इसी लिए मनुष्य भीतर की चीजें नहीं देख सकता; कोई धीर पुरुष है अपनी दृष्टि को अंतर्मुखी कर के प्रत्यगात्मा को देखता है।' कठ में भी कहा है :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।३।२।३

तथा—

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ॥१।२।९

अर्थात् यह आत्मा वाद-विवाद (प्रवचन) से नहीं मिल सकता, न बुद्धि से, न बहुत सुनने से। यह आत्मा जिस को वरण कर लेता है उसी को प्राप्त होता है, उसी पर यह अपना स्वरूप प्रकट करता है। तर्क से भी आत्म-ज्ञान नहीं होता, आचार्य के सिखाने से ही बोध होता है।'

यहां गुरु और भगवत्कृपा दोनों पर ज़ोर दिया गया है। आत्म-ज्ञान अथवा आत्म-प्राप्ति के लिए नैतिक गुणों का होना भी आवश्यक है। जो दुष्कर्मों से विरत नहीं हुआ है, जो अशांत और असमाहित चित्त वाला

---

[1] छांदोग्य० ७।१।२-३.

है, जिस का मन चंचल है, वह ब्रह्म को नहीं पा सकता' (कठ० १।२।२४, 'यह आत्मा सत्य से मिलने योग्य है, तप से प्राप्य है, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य से लभ्य है, निर्दोष यती ज्योतिर्मय, निर्मल आत्मा को अपने भीतर देखते हैं' (मुंडक ३।१।५)।

उत्तर-काल के वेदांती जिसे अनुभव (इंटीग्रल एक्सपीरियंस) कहते हैं, उसी से आत्मसत्ता तक पहुँच हो सकती है, केवल तर्क या वाद-विवाद से नहीं। निदिध्यासन का भी यही अर्थ है।

जिज्ञासु कौन है ?

आत्मसत्ता के जिज्ञासु में कुछ विशेष गुण होने चाहिए। मैत्रेयी और नचिकेता की तरह जिन्हें संसार के ऐश्वर्य और सुख नहीं लुभा सकते, भारतीय ऋषियों के मत में वे ही वस्तुतः आत्म-विषयक् जिज्ञासा के अधिकारी हैं। दर्शन-शास्त्र या अध्यात्म-विद्या के वास्तविक विद्यार्थी संसार की छोटी-छोटी चीज़ों के पीछे नहीं दौड़ते। 'जो भूमा है, जो असीम और अनंत है, वही सुख है, उसी की प्राप्ति में आनंद है; अल्प में, शांत या सीमित में सुख नहीं है।' 'जहां एक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, कुछ भी नहीं सुनता और जानता, वह भूमा है।' भूमा में मिल जाना ही जीवन का परम उद्देश्य है। भूमा का प्रेमी क्षुद्रसांसारिक ऐश्वर्यों और भोगों में कैसे फँस सकता है ?

चरम तत्त्व की खोज

उपनिषदों के ऋषियों की सब से बड़ी अभिलाषा विश्व के तत्व-पदार्थ को जान लेने की थी। संसार की विभिन्नताओं को एकता के सूत्र में बाँधने वाली कौन वस्तु है ? ऐसी कोई वस्तु है भी या नहीं; यदि है तो उन तक हमारी पहुँच कैसे हो ? हम विश्व-तत्व को कहाँ खोजें ? विश्व के बाह्य पदार्थों तक हमारी पहुँच सीधी (डाइरेक्ट) न होकर इंद्रियों के माध्यम से है। अपनी सत्ता का ही हम प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं; इस लिए विश्व-तत्व की खोज हमें अपने में ही करनी चाहिए। कुछ काल तक

इधर-उधर घूम-फिर कर उपनिषदों के ऋषि इसी निर्णय पर पहुँचे। अपनी इस यात्रा में वे कभी-कभी वायु, जल, अग्नि, आकाश, असत्, प्राण आदि पर रुके भी, पर अंत में उन की जिज्ञासा उन्हें आत्म-तत्व तक ले गई। उपनिषद् के ऋषियों ने अंत में अपने अंदर झाँक कर ही विश्व-तत्व का स्वरूप निर्णय किया। इस के पश्चात् उन्हों ने फिर वाह्य जगत् पर दृष्टि-पात किया। उन की क्रांत-दर्शिनी दृष्टि को वाह्य जगत् और अंतर्जगत दोनों के पीछे छिपे हुए तत्वों में कोई भेद दिखाई नहीं दिया। यहाँ हम पाठकों को छांदोग्य की एक कथा सुनाते हैं।[1]

इंद्र और विरोचन दोनों ने प्रजापति के पास जाकर पूछा कि 'आत्मा का स्वरूप क्या है?' इंद्र देवताओं की और विरोचन असुरों की ओर से गए थे। प्रजापति—ने कहा 'यह जो आँख में पुरुष दिखाई देता है, यह आत्मा है। यह जो जल में और दर्पण में दिखाई देता है, यही आत्मा है।' प्रजापति ने दोनों को अच्छे-अच्छे कपड़े पहन कर आने को कहा। जब यह सज-धज कर आए तो प्रजापति ने उन्हें जलभरे मिट्टी के पात्र में झाँकने की आज्ञा दी और पूछा कि क्या देखते हो? दोनों ने उत्तर दिया—'सुंदर वस्त्र पहने अपने को।' प्रजापति ने कहा—'यही आत्मा है, यह ब्रह्म है, जो जरा-मृत्यु हीन है, शोक-रहित है, और सत्य-संकल्प है।' विरोचन संतुष्ट होकर चला गया पर इंद्र को संदेह बना रहा। 'भगवन्! यह आत्मा तो शरीर के अच्छे होने पर अच्छा लगेगा, परिष्कृत होने पर परिष्कृत प्रतीत होगा, अंधे होने पर अंधा, इत्यादि। यह जरा-मरण-शून्य आत्मा कैसे हो सकता है?' प्रजापति ने दूसरी परिभाषा दी—'जो आनंद सहित स्वप्नों में घूमता है, वह आत्मा है।' इंद्र को फिर भी संतोष न हुआ। उस ने लौट आकर कहा—'भगवन्! स्वप्न में सुख-दुख दोनों ही होते हैं, इस लिए स्वप्न देखने वाला आत्मा नहीं हो सकता।' सदा बदलने वाली मानसिक दशाओं को आत्मा मानना संतोष-जनक नहीं है। प्रजा-

१ छांदोग्य ८। ७। १२

पति ने समझाया कि गहरी नींद में जो संपूर्ण सुख में सोता है और स्वप्न नहीं देखता वह आत्मा है। इंद्र का अब भी समाधान न हुआ, उस ने कहा—'इस में मुझे कोई भलाई नहीं दीखती। ऐसा जान पड़ता है कि सुषुप्ति-दशा में आत्मा विनाश को ही प्राप्त हो जाता है।' प्रजापति ने समझाने की चेष्टा की; 'हे मघवन्! शरीर की ही मृत्यु होती है, आत्मा की नहीं। इस अमृतमय, अशरीर आत्मा को प्रिय और अप्रिय नहीं छूते।

यहाँ प्रजापति का अभिप्राय जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के आधार या अधिष्ठान-रूप की ओर इंगित करना है जो कि किसी एक अवस्था से समीकृत नहीं किया जा सकता। आधुनिक-काल में जान स्टुअर्ट मिल ने अपने तर्कशास्त्र में बतलाया है कि किसी पदार्थ का स्वरूप उस का अनेक अवस्थाओं में अध्ययन करने से मालूम हो सकता है। ज्ञेय पदार्थ की परीक्षा उस की विभिन्न दशाओं में करनी चाहिए, इस तथ्य को आर्य दार्शनिकों ने उपनिषत्काल में ही जान लिया था। जगह-जगह स्वप्नादि अवस्थाओं का उल्लेख इस का प्रमाण है।

अपने में विश्वतत्व का आभास पा लेने पर उस की सत्ता में दृढ़-विश्वास हो जाता है। यदि विश्व-तत्त्व मुझ में वर्तमान है तो मैं उस की सत्ता में संदेह नहीं कर सकता, क्योंकि अपनी सत्ता में संशय करना संभव नहीं है। जिस तत्व को इन ऋषियों ने अपने में देखा, वही तत्व-उन्हें बाह्य जगत् में भी स्पंदमान दिखाई दिया, उन्हों ने देखा कि यह आत्म-तत्व अमर है। 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति'[1] अर्थात् जीव से वियुक्त होने पर यह मरता है, जीव नहीं मरता। आत्मा के विषय में कठोपनिषद् में लिखा है :—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२।१८

1 छां०६।११।२

अर्थात्—'यह न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है। यह चैतन्य स्वरूप कभी, कहीं से नहीं आया। यह अज है, नित्य है, शाश्वत है, प्राचीन है; शरीर के मारे जाने पर यह नहीं मरता।' तत्व-पदार्थ का अर्थ ही यह है कि वह अनित्यों में नित्य रूप से अवस्थित रहे और बहुतों में एक हो।

विश्व-तत्व की वाह्य जगत् में खोज का सब से अच्छा उदाहरण छांदोग्य में है। आरुणि और उन के पुत्र श्वेतकेतु में ब्रह्मविद्या-विषयक संवाद हो रहा है[1] :—

'पुत्र, न्यग्रोध (वटवृक्ष) का एक फल यहां लाओ।'

'यह ले आया, भगवन्।'

'इसे तोड़ो।'

श्वेतकेतु ने उसे तोड़ डाला। आरुणि ने पूछा—

'क्या देखते हो ?'

'छोटे-छोटे दाने।'

'इन में से एक को तो तोड़ो।'

'तोड़ लिया, भगवन् ?'

'क्या देखते हो ?'

'कुछ भी नहीं।'

तब आरुणि बोले—'हे सोम्य, जिस अणिमा को तुम नहीं देखते, उसी में से यह महान् वट-वृक्ष निकला है। सोम्य, श्रद्धा करो।

यह जो अणिमा (अणु या सूक्ष्म वस्तु) है, एतदात्मक ही यह सब संसार है। यह अणिमा ही सत्य है। यही हे श्वेतकेतु ! तुम हो (तत्वमसि श्वेतकेतो)।'

वही सूक्ष्म सत्ता जो जगत् की आत्मा है, श्वेतकेतु में भी आत्म-रूप में वर्तमान है; जो पिंड में है, वही ब्रह्मांड में है। जागृत, स्वप्न आदि

---

[1] छांदोग्य० ६।१२

अवस्थाओं का विश्लेषण करके ऋषि जिस तत्व पर पहुँचे थे, वही तत्व वट-वृक्ष के बीज में भी अदृश्य रूप में वर्तमान है। उपनिषदों में अंत-र्जगत् के तत्व-पदार्थ को आत्मा और वाह्य जगत् के तत्व को ब्रह्म नाम से पुकारा गया है। उन का यह निश्चित मत है कि यह आत्मा-ब्रह्म ही है (अयमात्मा ब्रह्म)।

छांदोग्य के ही छठवें अध्याय में हम पढ़ते हैं :—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

'हे सोम्य! आरंभ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही वर्तमान था।' कुछ लोग कहते हैं कि आदि में एक अद्वितीय असत् ही था जिस से सब उत्पन्न हुआ, परंतु ऐसा कैसे हो सकता है? असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस लिए सृष्टि के आदि में एक अद्वितीय सत्पदार्थ ही अस्तित्ववान् था, ऐसा निश्चय करना चाहिए।'[1]

'हे सोम्य, जैसे एक ही मिट्टी के पिंड को जान लेने पर मिट्टी की सारी चीजें जान ली जाती हैं क्योंकि मिट्टी के सब कार्य वाणी का आलंबन या नाम-मात्र हैं, वैसे ही ब्रह्म को जान लेने पर कुछ जानने को शेष नहीं रहता।'[2] यह उद्धरण वेदांत-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। ब्रह्म के ज्ञान से सब का ज्ञान हो जाता है, इस का यही अर्थ है कि सब कुछ ब्रह्म का कार्य है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में सृष्टि का वर्णन इस प्रकार है। 'उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से वनस्पतियां, वनस्पयियों से अन्न और अन्न से पुरुष।'

'जिस से यह भूतवर्ग उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर जिस में जीवित रहते हैं, जिस की ओर यह जाते हैं' जिस में प्रवेश करते हैं, उस की जिज्ञासा करो; वह ब्रह्म है।' 'आनंद से ही सब भूतवर्ग उत्पन्न होते हैं;

[1] छांदोग्य० ६।२।१।४

[2] वही ६।१।४

उत्पन्न हो कर आनंद में ही जीवित रहते हैं।' 'कौन साँस ले सकता, कौन जीवित रह सकता, यदि यह आकाश आनंदमय न होता।'

'अन्न को ब्रह्म समझना चाहिए; प्राण को ब्रह्म समझना चाहिए मन को ब्रह्म समझना चाहिए; विज्ञान को ब्रह्म समझना चाहिए; आनंद को ब्रह्म समझना चाहिए।'

वेदांतियों का मत है कि इस प्रकरण (भृगुवल्ली, २—६) में पंच कोशों का वर्णन है। सर राधाकृष्णन् के मत में अन्न का अर्थ जड़-तत्व है। प्रारंभिक विचारक जड़-तत्व को ही चरम वस्तु समझते हैं। इस प्रकार परमाणुवाद की नींव पड़ती है। लेकिन यदि परमाणु-पुंज ही अंतिम तत्व हैं, तो जीवन की व्याख्या किस प्रकार की जायगी? जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस लिये प्राण अर्थात् जीवन की कल्पना करनी पड़ती है। ज्ञान या दर्शन-क्रिया केवल जीवन से ऊँची चीज़ है, इस लिए मन ही अंतिम तत्व है, ऐसा विचार उत्पन्न होता है। विज्ञान या बुद्धि-तत्व चक्षु, मन आदि इंद्रियों से उच्चतर पदार्थ है, परंतु उपनिषद् के ऋषि उस से भी संतुष्ट नहीं हुए। उन्हों ने विश्व की व्याख्या के लिए आनंदमय आत्मतत्व का आह्वान कर के ही विश्राम लिया। तैत्तिरीय में आत्मा को सत्य, ज्ञान और अनंत वर्णन किया गया है।

सप्रपंच और निष्प्रपंचब्रह्म

उपनिषदों में ब्रह्म या विश्व-तत्व का वर्णन दो प्रकार का पाया जाता है। वे ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों तरह का बतलाते हैं। एक निर्गुण तत्व से इस विचित्र ब्रह्मांड की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस लिए स्थान-स्थान पर जगत् का वर्णन विराट् सत्ता का अंग कह कर किया जाता है। जो ब्रह्म जगत् से सहचरित है, जो ऊर्णनाभि (मकड़ी) की तरह विश्व को अपने से ही उत्पन्न करके उस में व्याप्त होता है, उसे सप्रपंच ब्रह्म कहते हैं। प्रपंच का अर्थ है विश्व का विस्तार। उपनिषदों में सप्रपंच-ब्रह्म का वर्णन बड़ा काव्यमय है। नीचे हम कुछ श्लोक उद्धृत करते हैं:—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अंतरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमंतरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।

बृहदारण्यक० ६।३

अर्थः—जो पृथ्वी में स्थित है और पृथ्वी का अंतर है; जिसे पृथ्वी नहीं जानती; जिस का पृथ्वी शरीर है; पृथ्वी के अंदर बैठ कर जो उस का नियमन या नियंत्रण करता है, वह अंतर्यामी अमृतमय तेरा आत्मा है । इसी प्रकार आत्मा जल में, अग्नि में, अंतरिक्ष आदि सब में अंतर्यामी-रूप से विराजमान हैं ।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचंद्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः— बृहदारण्यक० ३।८।६

अर्थः—हे गार्गि ! इसी अक्षर के शासन में सूर्य और चंद्रमा धारण किए हुए स्थित हैं । इसी के शासन में द्यावापृथिवी, निमेष, मुहूर्त आदि धारण किए जाकर स्थित हैं ।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तमत्र च गच्छति

तं देवाः सर्वेऽर्पिता स्तदुनात्येति कश्चन एतद्वैतत् । कठ० २।६

अर्थः—जहां से सूर्य उदित होता है और जहां अस्त होता है, जिस में सब देवता अर्पित हैं, जिस का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता, यह वही है ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च । (कठ २ । ५ । ६)

अर्थः—जैसे अग्नि भुवन में प्रवेश कर के अनेकों रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है, उसी प्रकार एक ही सब भूतों का अंतरात्मा प्रत्येक रूप (शक्ल) में आसमान है; इस के बाहर भी यही आत्मा है ।

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चांतरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥
(मुं० २ । २ । ५)

अर्थः—जिस में द्यु-लोक, पृथिवी और अंतरिक्ष पिरोए हुए हैं, जिस में प्राणों सहित मन पिरोया हुआ है, इसी एक को आत्मा जानो; दूसरी बातें छोड़ दो । वह अमृत (अमरता) का सेतु है ।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चंद्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतांतरात्मा ॥
(मुं० २ । १ । ४)

अर्थः—अग्नि उस का सिर है, चंद्रमा और सूर्य नेत्र हैं और दिशा कान । उस की वाणी से वेद निकले हैं । वायु उस का प्राण है; विश्व उस का हृदय है; पृथ्वी उस के चरणों से उद्भूत हुई है; वह सब का अंतरात्मा है ।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यंदंते सिंधवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यंतरात्मा ॥
(मुं० २ । १ । ६)

अर्थः—इसी से सब समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं; इसी से अनेक रूपों की नदियां बहती हैं; समस्त ओषधियां और रस इसी से निकले हैं; सब भूतों से परिवेष्टित होकर यह अंतरात्मा स्थित है ।

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यंति धीरा आनंदरूपममृतं यद्विभाति ॥
(मुं० २ । २ । ७)

अर्थः—यह आत्मा मनोमय है; मन की वृत्तियों से जाना जाता है; प्राण और शरीर का नेता है; हृदय में सन्निहित है, और अन्न में प्रतिष्ठित है । धीर लोग शास्त्र-द्वारा उसे जानते हैं और उस की आनंदमय अमृत-स्वरूप भासमान सत्ता का दर्शन करते हैं ।

सप्रपंच ब्रह्म के इस कवित्वमय वर्णन के बाद हम निष्प्रपंच ब्रह्म के वर्णन में कुछ उद्धरण देते हैं। बृहदारण्यक (३ । ८ । ८) में याज्ञवल्क्य गार्गी को अक्षर का स्वरूप समझाते हैं :—

"हे गार्गि ! इस अक्षर का विद्वान् लोग इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, रक्तवर्ण नहीं है, चिकना नहीं है; यह छाया से भिन्न है, अंधकार से पृथक् है, वायु और आकाश से अलग है; यह असंग है; यह रस-हीन और गंधहीन है; यह चक्षु का विषय नहीं है, श्रोत्र का विषय नहीं है, वाणी और मन का विषय नहीं है इस का कोई संबंध नही है, प्राण और मुख से भी कोई संबंध नहीं है; इस का कोई परिमाण नहीं है; यह न अंदर है, न बाहर; यह कुछ नहीं खाता, इस को कोई नहीं खा सकता।"

केनोपनिषद् में लिखा है :—

अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधिइति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचक्षिरे। (१ । ४)

अर्थात् जो जाना जाता है उस से ब्रह्म भिन्न है, जो नहीं जाना जाता उस से भिन्न है, ऐसा हम ने प्राचीन विद्वानों के मुख से सुना है।

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। (केन० १ । ५)

जिसे वाणी नहीं कह सकती, जिस की शक्ति से वाणी बोलती है, उसी को तुम ब्रह्म जानो, यह नहीं जिस की तुम उपासना करते हो।

मन जिस के विषय में नहीं सोच सकता जिस की शक्ति से मन सोचता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो; उसे नहीं, जिस की उपासना करते हो।

नचिकेता यम से कहता है :—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद् अन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद। (कठ, २ । १४)

अर्थः—हे यमाचार्य ! जो धर्म से अलग है और अधर्म से भी अलग

है; जो कृत (किए हुए) और अकृत (न किए हुए) दोनों से भिन्न हैं; जो अतीत और भावी दोनों से पृथक् तुम देखते हो वह मुझे समझाओ।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनंतं महतः परं ध्रुवंनिचाय्य तन्मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते।

(कठ, १ । १५)

अर्थः—ब्रह्म शब्द, स्पर्श और रूप से रहित है, अव्यय है, रस-रहित और सदा गंध-हीन है; वह अनादि है, अनंत है, बुद्धितत्व से परे है और ध्रुव है। उसी का अन्वेषण करके मनुष्य मृत्यु के मुख से छूटता है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथ तदुपलभ्यते। (कठ, ६ । १२)

अर्थः—वह वाणी से प्राप्त नहीं किया जा सकता, मन और चक्षु—इंद्रियों—द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। 'वह है' यह कहने के अतिरिक्त उस का प्राप्ति कैसे हो सकती है?

ऊपर के उद्धरणों से पाठक स्वयं देख सकते हैं कि उपनिषदों में सप्रपंच अथवा सगुण और निष्प्रपंच अथवा निर्गुण ब्रह्म दोनों का ही सुंदर और सजीव भाषा में वर्णन है। वेदांतियों का मत है कि ब्रह्म वास्तव में निर्गुण ही है और उस का सगुण रूप में वर्णन मंद-बुद्धि जिज्ञासुओं के बोध के लिए है। श्री रामानुजाचार्य के मत में ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों ही है। वह अशेष कल्याणमय गुणों का भंडार है और संसार के सारे दुर्गुणों से मुक्त है।

उपनिषद् और मायावाद

यदि ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण और प्रपंच-शून्य है तो उस से जगत् की उत्पत्ति कैसे होती है? यदि एकता ही सत्य है तो अनेकता की प्रतीति का क्या कारण है? वेदांती इस का कारण माया को बताते हैं। इस समय हमारे सामने प्रश्न यह है कि—क्या माया का सिद्धांत उपनिषदों में पाया जाता है? 'माया' शब्द भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन काल से प्रयुक्त होता

चला आया है। ऋग्वेद में वर्णन है कि इंद्र अपनी माया से बहुरूप (अनेक रूपवाला) हो गया है।[1] यही पंक्ति वृहदारण्यक में भी पाई जाती है।[2] वृहदारण्यक के भाष्य में उक्त पंक्ति (अर्थात् इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते) पर टीका करते हुए श्री शंकराचार्य लिखते हैं:—

इंद्रः परमेश्वरो मायाभिः प्रज्ञाभिः नामरूपकृत मिथ्याभिमानैर्वा न तु परमार्थतः पुरुरूपो बहुरूप ईयते गम्यते।

अर्थात् इंद्र या परमेश्वर नामरूप कृत मिथ्याभिमान से अनेकरूपो वाला दिखलाई देता है, वास्तव में उस के बहुत रूप नहीं होते।

इस प्रकार श्री शंकराचार्य के मत में यहां मायावाद की शिक्षा है। 'जहां द्वैत जैसा (इव) होता है, वहां इतर इतर को देखता है, सुनता है, और जानता है; एक-दूसरे से बात-चीत करता है।.........जब इस के लिए सब कुछ आत्मा ही हो जाता है तो किसे किस से देखे, किसे किस से सूंघे, किसे किस से सुने ?[3] यहां 'इव' शब्द के प्रयोग से वेदांतियों की सम्मति में मायावाद की पुष्टि होती है। 'मृत्तिका के सारे कार्य नाम-रूप-मात्र हैं, मिट्टी ही सत्य है, छांदोग्य का यह वाक्य भी जगत् के नाम-रूप-मात्र होने की घोषणा करता है। श्वेताश्वेतर में लिखा है:—

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् (४ । ९)
मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् (४ । १०)

अर्थात्, वह मायावी इस से सारे जगत् की सृष्टि करता है। प्रकृति को माया समझना चाहिए और महेश्वर या शिव को मायी या माया का स्वामी।

इन उद्धरणों के बल पर शंकर के अनुयायी वेदांतियों का कहना है कि उपनिषद् मायावाद की शिक्षा देते हैं। उन के कुछ विरोधियों का कथन है

---

[1] ऋ० ६। ४७। १८
[2] बृ० २।५।१६
[3] बृ० २।४।१४

कि उपनिषदों में माया—सिद्धांत का लेश भी नहीं है और यह सिद्धांत बौद्धों से प्रभावित हुए शंकराचार्य की अपनी कल्पना है। पद्मपुराण में शंकर को इसी कारण प्रच्छन्न बौद्ध (छिपा हुआ शून्यवादी) कहा गया है।

वास्तव में इन दोनों मतों में अतिरंजना का दोष है। वस्तुतः उपनिषदों में जगत् के मिथ्या होने का विचार नहीं पाया जाता। कठोपनिषद् में लिखा है—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। (२।११)

अर्थात्, जो यहां है वह वहां है और जो वहां है वह यहां है। वह एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु को प्राप्त होता है जो वहां अनेकता देखता है।

इस मंत्र से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उपनिषद् ब्रह्म और जगत् की सत्यता में भेद नहीं करते। जब छांदोग्य में आरुणि पूछते हैं, 'कथमसतः सजायेत'—असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है?—तब वे स्पष्ट शब्दों में जगत् का सत् होना स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद् जगत् को मिथ्या नहीं बताते। ऋग्वेद की पंक्ति में माया का अर्थ 'आश्चर्यजनक शक्ति' समझना चाहिए। श्वेताश्वेतर की माया तो प्रकृति ही है जिस के अध्यक्ष शिव हैं। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि एकता से अनेकता की उत्पत्ति के रहस्य को उपनिषद् के ऋषियों ने स्पष्ट नहीं किया है, और कहीं-कहीं उन की भाषा किसी 'माया' जैसे रहस्यपूर्ण शक्ति की ओर संकेत करती है। जैसा कि डा० थिबो ने भी स्वीकार किया है, उपनिषदों में से शंकर वेदांत का विकास स्वाभाविक ही हुआ है। शंकर का मायावाद उपनिषदों की भूमि में आकर विजातीय नहीं मालूम होता।

उपनिषद् मनोविज्ञान

मानसशास्त्र या मनोविज्ञान की परिभाषा मानव-इतिहास के विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार की होती आई है। वास्तव में मनोविज्ञान आजकल की चीज़ है। उन्नीसवीं शताब्दी में योरुप के देशों में उस का जन्म और विकास हुआ है।

प्राचीन काल में यूनानी या ग्रीस के दार्शनिक अरस्तू ने मनोविज्ञान की नींव डाली थी। भारतवर्ष में उपनिषत्काल में हम मानसिक व्यापारों के विषय में जिज्ञासा और विचार पाते हैं। प्राचीन काल के सभी विचारक आत्मा की सत्ता में विश्वास करते थे। ग्रीक भाषा से गृहीत 'साइकॉलोजी' शब्द का अर्थ आत्मविज्ञान या आत्म-विषयक चर्चा है। उन्नीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान का अर्थ 'आत्मा की दशाओं का अध्ययन' किया जाता था। बाद को 'आत्मा' शब्द का प्रयोग छोड़ दिया गया और मानस-शास्त्र का काम मानसिक दशाओं का अध्ययन समझा जाने लगा। आधुनिक काल के कुछ मनोवैज्ञानिक तो शारीरिक दशाओं से भिन्न मानसिक दशाओं की सत्ता में भी संदेह करने लगे हैं। अमेरिका के 'बिहेवियरिज्म' नामक स्कूल की गति घोर जड़वाद की ओर है।

आधुनिक विचारकों की भाँति उपनिषद् के ऋषि मानसिक और शारीरिक दशाओं में घनिष्ठ संबंध मानते हैं। इस संबंध पर विचार करने के लिए आजकल एक स्वतंत्र शास्त्र है, जिसे 'फ़िज़ियॉलोजिकल साइकॉलोजी' कहते हैं। छांदोग्य में लिखा है—अन्नमयं हि सोम्य मनः[1]—अर्थात् मन अन्नमय या अन्न का बना हुआ है। अन्न का ही सूक्ष्म भाग मन में परिवर्तित हो जाता है। छांदोग्य में ही अन्यत्र कहा है—आहारशुद्धौ सत्व-शुद्धिः, सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः[2]—अर्थात् शुद्ध सात्विक आहार करने से मस्तिष्क शुद्ध होता है और मस्तिष्क शुद्ध होने से स्मरण-शक्ति तीव्र होती है।

उपनिषदों के मनोविज्ञान को हम 'रेशनल साइकॉलोजी' कह सकते हैं। मानसिक जीवन की व्याख्या के लिए आत्मसत्ता को मानना आवश्यक है। इस आत्मा का स्थान कहां है? उपनिषदों के कुछ स्थलों में आत्मा को सीमित कर के वर्णन किया गया है। कठ में लिखा है :—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। (४। १२) अर्थात् अँगूठे के बराबर पुरुष आत्मा (शरीर या हृदय) के बीच में स्थित है। छांदोग्य

[1] छां० ६ : ५। ४
[2] छां० ७। २६। २

में भी वर्णन है कि आत्मा पुंडरीक (कमल) के आकार के दहराकाश या हृदयाकाश में स्थित है। फ्रेंच दार्शनिक डेकार्ट ने आत्मा का स्थान मस्तक की ग्रंथि विशेष बतलाई थी।

लेकिन उपनिषद् के ऋषि आत्मा को परिवर्तनशील मानसिक दशाओं से एक करके नहीं मानते। आत्मा अविकारी है। कठोपनिषद् के अनुसार 'इंद्रियों से उन के विषय सूक्ष्म हैं, विषयों से मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है, बुद्धि से अव्यक्त अथवा प्रकृति और प्रकृति से भी पुरुष। पुरुष से सूक्ष्म कुछ नहीं है; वह सूक्ष्मता की सीमा है; वह परम गति है।' आत्मा जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से परे है। शरीर, प्राण, मन और बुद्धि यह सब आत्मा के ऊपर आवरण से हैं। शंकर के मत में तो आनंद भी आत्मा का अपना स्वरूप नहीं है, वह भी एक 'कोश' है। परंतु शंकर की यह व्याख्या उपनिषदों और वेदांत-सूत्रों दोनों के आंतरिक अभिप्राय के विरुद्ध है। इसके विषय में हम आगे लिखेंगे।

मानसिक दशाओं का वर्णन

आजकल के मनोवैज्ञानिक सारी मानसिक दशाओं को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं, संवेदन, ('फ़ीलिंग') संकल्प, ('वालिशन') और विकल्प अथवा विचार ('थॉट')। ऐतरेय के एक स्थल में लगभग एक दर्जन मानसिक दशाओं के नाम हैं अर्थात् संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जुति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम और वश। उपनिषद् (ऐ० ३। २) कहता है कि यह सब प्रज्ञान के ही नाम हैं।

इस एक उद्धरण से ही पता चल जाता है कि उस समय का मनोवैज्ञानिक शब्दकोष कितना संपन्न था। हम पाठकों का ध्यान मनोविज्ञान का एक सुंदर कोष बनाने की आवश्यकता की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। यह काम संस्कृत के दार्शनिक साहित्य की सहायता से बिना कठिनाई के पूरा हो सकता है, परंतु इस के लिए कई व्यक्तियों का सहयोग अपेक्षित है। इस काम को पूरा किए बिना योरुप के बढ़ते हुए मानसशास्त्र संबंधी

साहित्य का हिंदी में अनुवाद भी नहीं किया जा साकता।

इसी प्रकार छांदोग्य में एक स्थान पर[1] 'संकल्प' की प्रशंसा की गई है। मानसिक दशाओं में संकल्प ही प्रधान है, यह मत जर्मन दार्शनिक शोपेनहार के सिद्धांतों से मिलता है। आजकल कुछ मनोवैज्ञानिक बुद्धि को प्रधानता देते हैं, कुछ संकल्प को और कुछ संवेदनाओं या मनोवेगों को। छांदोग्य में ही संकल्प की महिमा बताने के कुछ बाद कहा है, 'अथवा चित्त संकल्प से ऊपर है' (चित्तो वाव संकल्पाद् भूयः)[2] मैत्री उपनिषद् में लिखा है 'मनुष्य मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है, काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा......सब मन ही हैं।'[3] यहां इंद्रियों पर मन की प्रधानता बताई गई है और विभिन्न मानसिक दशाओं को मन का विकार कहा गया है।

निद्रा के विषय में बृहदारण्यक में लिखा है—'जैसे पक्षी थक कर घोंसले में घुस जाता है, वैसे ही यह पुरुष श्रांत होकर अपने भीतर लय हो जाता है।'[4] छांदोग्य में एक स्थल में लिखा है कि सोते समय पुरुष नाड़ियों में प्रवेश कर जाता है और स्वप्न नहीं देखता।[5]

स्वप्नों के विषय में उपनिषदों के विचार महत्वपूर्ण हैं। वे पुरुष में स्वप्न-क्षणों में सृजन करने की शक्ति का वर्तमान होना मानते हैं। 'वहां न रथ होते हैं न रथ के रास्ते; रथों और उन के मार्गों का यह सृजन करता है।...बहती हुई झीलों का, तड़ागों का, इत्यादि' (बृ० ४। ३। १०)।

उपनिषत्कार जीव की अमरता या 'मृत्यु के बाद जीवन' की शिक्षा के पक्षपाती हैं। आजकल की 'साइकिकल रिसर्च' की परिषदें इस प्राचीन सत्य को स्वीकार और सिद्ध कर रही हैं।

---

[1] छां० ७। ४। २
[2] छां० ७। ५। १
[3] मैत्री ४। ३०
[4] बृ० ४। ३ १९
[5] छां० ८। ६। ३

उपनिषदों का व्यवहार-दर्शन

व्यवहार-शास्त्र, व्यवहार-दर्शन अथवा आचार-शास्त्र में, समाज में रह कर मनुष्य को किन-किन कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, इस का वर्णन रहता है। शास्त्र और समाज जिन्हें हमारे कर्तव्य बतलाते हैं, वे युक्तिसंगत या बुद्धि के अनुकूल हैं या नहीं? कौन-सा आचार या क्रिया वर्जनीय है और कौन ग्रहण करने योग्य है, इस का वैज्ञानिक विवेचन व्यवहार-शास्त्र का काम है। मनुष्य जिस भांति रह रहे हैं और अपने साथियों के चरित्र को देख कर अच्छे-बुरे का निर्णय कर रहे हैं, उस पर विचार कर के क्या हम किन्हीं सार्वभौम, वैज्ञानिक-सिद्धांतों पर पहुँच सकते हैं? क्या मानव-व्यवहार के, उस व्यवहार के जिसे हम नैतिक दृष्टि से ग्राह्य कहते हैं, कुछ ऐसे नियम हैं जो देश-काल की सीमा से परे हैं? सामाजिक और नैतिक संस्थाओं के इतिहास का अध्ययन कर के क्या हम उन के परिवर्तन और विकास के नियमों को जान सकते हैं? इस विकास की क्या कोई नियमित गति है?

व्यवहार-दर्शन ऐसे ही प्रश्नों के उत्तर खोजता है।

योरुप के विद्वान् बार-बार यह आक्षेप करते हैं कि भारतीय विचारकों ने व्यवहार-दर्शन में विशेष अभिरुचि या दिलचस्पी नहीं दिखलाई है। उन के इस शास्त्र-संबंधी सिद्धांत या विचार वैज्ञानिक विश्लेषण से प्राप्त नहीं किए गए हैं। शायद कुछ हद तक यह आक्षेप ठीक हो। वस्तुतः भारतवर्ष में व्यवहार-शास्त्र अपने को श्रुतियों, स्मृतियों तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों के प्रभाव से मुक्त न कर सका। ग्रीस में अरस्तू ने जो काम इतने प्राचीन समय में अपनी 'एथिक्स' लिख कर किया वह भारत के विचारक आज तक न कर सके। लेकिन इस का अर्थ यह नहीं है कि भारतीय विचारकों की व्यावहारिक प्रश्नों में अभिरुचि नहीं थी। इस के विषय में अधिक हम आगे लिखेंगे।

यह ठीक है कि उपनिषद् के ऋषि व्यावहारिक समस्याओं पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि आत्मा-परमात्मा-संबंधी विचारों पर। लेकिन जैसा

कि भूमिका में कह चुके हैं, भारतवर्ष में सारी दार्शनिक खोज का उद्देश्य व्यावहारिक था। भारत के दार्शनिक एक विशेष लक्ष्य तक पहुंचना चाहते थे जिस के उपायों की खोज ही उन की दृष्टि में दार्शनिक प्रक्रिया थी।

उपनिषदों में व्यावहारिक शिक्षाएं जगह-जगह बिखरी हुई पाई जाती हैं। वे सत्य पर विशेष ज़ोर देते हैं। सत्यकाम जाबाल की कथा में सत्य बोलने का महत्त्व दिखाया गया है। प्रश्नोपनिषद् में लिखा है, 'समूलो वा एव परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति'[1] अर्थात् वह पुरुष जड़-सहित नष्ट हो जाता है जो झूठ बोलता है। मुंडकोपनिषद् कहता है, 'सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन पंथा विततो देवयानः।' (३ । १ । ६)

अर्थात् 'सत्य की ही जय होती है, झूठ की नहीं। सत्य से देवयान (देवमार्ग) विस्तृत या प्रशस्त होता है।' तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य ने जो शिष्य को शिक्षा दी है उस का हम कुछ आभास दे चुके हैं। वहां दान के विषय में लिखा है—'श्रद्धया देयम्; अश्रद्धया अदेयम्; श्रिया देयम्; ह्रिया देयम्; भिया देयम्।'[2] अर्थात् 'दान श्रद्धा से देना चाहिए, अश्रद्धा से नहीं। धन का दान करना चाहिए ; लज्जा से दान करना चाहिए, भय से दान करना चाहिए।'

देव और पितरों के कार्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए। माता को देवता समझना चाहिए, पिता को देवता समझना चाहिए। इंद्रिय-निग्रह की शिक्षा तो उपनिषदों में जगह-जगह पाई जाती है। इंद्रियों की घोड़ों से उपमा दी गई है, मन को उन्हें बाँधनेवाली रस्सियों से और बुद्धि को सारथि से। उस पुरुष का ही कल्याण होता है जिस की बुद्धि मन और इंद्रियों को वश में रखती है।

कर्ता की स्वतंत्रता

कर्म करने में हम स्वतंत्र हैं या नहीं ? यदि हम स्वतंत्र नहीं हैं, यदि ईश्वर ही अच्छे-बुरे कर्म कराता है, अथवा यदि भाग्य के बश में होकर हम भले-बुरे कर्म करते

[1] प्रश्न, ६ । १
[2] तै० १ । ११

हैं, तो हमें कर्मों का फल नहीं मिलना चाहिये। जिस के करने में मेरा हाथ नहीं है, उस के लिए मैं उत्तरदायी नहीं हो सकता। उपनिषद् कर्म-सिद्धांत और पुनर्जन्म को मानते हैं, इस लिए वे कर्ता की स्वतंत्रता को भी मानाते हैं। कठ में लिखा है :—

योनिमन्ये प्रपद्यंते शरीरत्वाय देहिनः
स्थाणुमन्येऽनुसंयंति यथाकर्म, यथाश्रुतम्। (५। ७)

अर्थात् अपने-अपने कर्मों के अनुसार जीवधारी पशु-पक्षियों या वनस्पतियों की योनि को प्राप्त होते हैं। मुक्तिकोपनिषद् कहता है :—

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित्
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि। (२। ५)

अर्थात 'वासना की नदी अच्छे और बुरे दो रास्तों से बहती है, मनुष्य को चाहिए कि उसे अपने प्रयत्न से सन्मार्ग में प्रवाहित करे।' यहां स्पष्ट ही पुरुषार्थ पर ज़ोर दिया गया है। कहीं-कहीं कर्त्ता की स्वतंत्रता के विरुद्ध भी वाक्य पाए जाते हैं। 'जिन्हें वह ऊँचे लोकों में पहुँचाना चाहता है, उन से अच्छे कर्म कराता है'[1] परंतु उपनिषदों का हृदय कर्तृ-स्वातंत्र्य के पक्ष में है। अन्यथा 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः' अर्थात् आत्मा का ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए, इत्यादि उपदेश-वाक्य व्यर्थ हो जायँगे।

कर्म और संन्यास

जैसा कि हम पहले इंगित कर चुके हैं जीवन के भोगों और ऐश्वर्यों के प्रति उपनिषदों का भाव उदासीनता का है। बाद के—कठ आदि—उपनिषदों में संन्यास के लिए प्रबल आकर्षण पाया जाता है। याज्ञवल्क्य जैसे गउओं की कामना करनेवाले विचारक कम होते हैं। श्रेय और प्रेय के बीच में तेज रेखा खींच दी जाती है और दार्शनिकों को त्याग और तपश्चर्या का जीवन आकर्षित करने लगता है। ईशोपनिषद् में ज्ञान और कर्म दोनों के समुच्चय

---

१ कौषीतकी०, ३। ८

की शिक्षा है। 'जो अविद्या की ही उपासना करते हैं वे घोर अंधकार में घुसते हैं, जो विद्या (ज्ञानमार्ग) के उपासक हैं वे उस से भी गहरे अंधकार में जाते हैं। जो केवल विद्या और अविद्या दोनों को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृतत्व या अमरता लाभ करता है।'[1] 'कर्म करते हुए ही सौ साल तक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार ही मनुष्य कर्मों में लिप्त होने से बच सकता है; दूसरा कोई रास्ता नहीं है।'[2]

इस समुच्चयवाद की शिक्षा का महत्व लोग दिन पर दिन भूलते गए। ज्ञान और संन्यास पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाने लगा। भारतीयों के पतन का एक कारण यह भी हुआ कि यहां के बड़े-बड़े विचारक नेता समाज के प्रति उदासीनता का भाव धारण करके अपने व्यक्तिगत मोक्ष की कामना करते रहे। आधुनिक विद्वान् का विश्वास है कि सारी मानव-जाति की मुक्ति एक साथ ही होगी।[3] अपने को सामज से अलग करके व्यक्ति उन्नति नहीं कर सकता। व्यक्ति को समाज से अलग कर देने पर उस की सत्ता ही नहीं रहती। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, समाज में रह कर ही वह अपना कल्याण कर सकता है।

उपनिषदों का, और भारत के अन्य दर्शनों का भी, ध्येय मुक्ति पाना था। मोक्ष के लिए ही आत्मसत्ता पर मनन और उसके ध्यान की शिक्षा दी गई है। आत्म-प्राप्ति के लिए तत्पर होकर

मोक्ष

उपाय करने की इस शिक्षा अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन[4] को श्री रानाडे के शब्दों में, हम आध्यात्मिक कर्म-

१ ईश० ९।११
२ ई० २
३प्रसिद्ध वेदांती अप्पय दीक्षित का भी यही मत है।
४श्रवण का अर्थ है गुरुमुख से आत्म-विषयक उपदेश सुनना। मनन का आशय सुने हुए पर तर्कबुद्धि से विचार कर समझना चाहिए। निदिध्यासन का अर्थ ध्यान, उपासना या आत्म-प्रत्यक्ष की प्रक्रिया है।

वाद कह सकते हैं। यहां कर्मवाद का मतलब ब्राह्मणों के यज्ञ-विधान नहीं समझना चाहिए। वास्तव में याज्ञिक कर्मों और उन फलभूत स्वर्ग आदि को उपनिषद् नीची दृष्टि से देखते हैं। इसी लिए कहा गया है कि उपनिषदों का लक्ष्य अथवा मोक्ष व्यावहारिक जीवन और बौद्धिक जीवन दोनों को अतिक्रमण करता है। भारतीय दर्शनों का लक्ष्य व्यवहारशास्त्र और तर्कशास्त्र दोनों के परे है। इस का अर्थ यही है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए नैतिक पवित्रता और सूक्ष्म चिंतन अथवा मनन ही काफ़ी नहीं हैं, यद्यपि यह दोनों ही आवश्यक हैं।[1] ब्रह्म को उपनिषद् तर्क-बुद्धि से परे और कर्मों से न बढ़ने-घटने वाला ('न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्') बतलाते हैं। ब्रह्म धर्म और अधर्म, ज्ञात और अज्ञात से भिन्न है। मोक्ष का स्वरूप भी ब्रह्मभाव ही है।

उपनिषदों में रहस्यवाद

ब्रह्म के वर्णन में उपनिषद् कभी-कभी बड़ी रहस्यपूर्ण भाषा का आश्रय लेते हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं भारतीय रहस्यवाद का श्रोत उपनिषद् ही हैं ईशोपनिषद् कहता है, 'वह ब्रह्म चलता' है, वह नहीं चलता, वह दूर है, वह पास भी है; वह सब के अंदर है, वह सब के बाहर है।' अपने आराध्य के विषय में इस प्रकार की अनिश्चित भाषा का प्रयोग रहस्यवाद का वाह्य लक्षण है। ध्यान-मग्न साधक अपने प्रेमास्पद का, अनंत,ज्योतिर्मय आत्म-तत्व का, साक्षात्कार करता है। मानव-स्वभाव से प्रेरित होकर वह उस साक्षात्कार की अनुभूति को वाणी में प्रकट करना चाहता है। परंतु सीमित भाषा असीम का वर्णन कैसे कर सकती है? अनंत प्रेम, अनंत सौंदर्य और अपार आनंद को प्रकट करने के लिए मानव-भाषा में शब्द नहीं हैं। प्रियतम को देखने और आत्मसात् करने का जो असीम उल्लास है, उस की रूपशिखा के प्रत्यक्ष का जो अपरिमित आश्चर्य है, वह सीमित और व्यावहारिक मस्तिष्कों से निकली हुई भाषा से परे है। यही रहस्यवादियों

---

[1]तुलना कीजिए 'नाविरतो दुश्चरितात्' और 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या'।

की चिरकालिक कठिनाई है, यही कारण है कि हमें कबीर जैसे कवियों की वाणी अटपटी और अद्भुत प्रतीत होती है। इसी कारण उपनिषदों की भाषा सीधी और सरल होते हुए भी कहीं-कहीं दुरूह हो जाती है।

'उस में स्पंदन नहीं है (अनेजत्) लेकिन वह मन से भी अधिक वेगमान् हैं। देवता उस तक नहीं पहुँच सके, पर वह देवताओं तक पहले से ही पहुँचा हुआ है। वह सब दौड़ते हुओं को अतिक्रमण कर जाता है, यद्यपि स्वयं एक ही जगह स्थिर रहता है। उस के भीतर रह कर ही वायु जल को धारण करता है।' यमाचार्य कहते हैं :—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति। (२ । २१)

"बैठा हुआ वह दूर चला जाता है, सोता हुआ वह सर्वत्र पहुँच जाता है। उस हर्ष और अहर्ष (शोक) सहित विरुद्ध धर्मवाले देवता को मेरे सिवाय कौन जान सकता है ?"

इस ब्रह्म को जानने में मन और इंद्रियां असमर्थ हैं। बृहदारण्यक में लिखा है :—

तस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्यबाल्येन तिष्ठासेत्।
(३ । ५ । १)

अर्थात् 'इस लिए ब्राह्मण को चाहिए कि पांडित्य को छोड़ कर बालकपन का आश्रय ले।' बालक के समान सरल बने बिना ब्रह्म-प्राप्ति नहीं हो सकती। मुण्डकोपनिषद् का उपदेश है:—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन बेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (२ । २ । ४)

"प्रणव को धनुष समझना चाहिए और आत्मा को बाण; ब्रह्म ही लक्ष्य है। प्रमाद-हीन होकर इस प्रकार बेधना चाहिए कि आत्मा ब्रह्म में, लक्ष्य में तीर की तरह, तन्मय होकर मिल जाय।"

हम पहले कह चुके हैं कि उपनिषद् अनेक लेखकों की कृतियां हैं

उपनिषदों में भारतीय दर्शनों का मूल

और उन में अनेक विचारधाराएँ पाई जाती हैं। हम ने अब तक उपनिषदों के विचारों का वर्णन कुछ इस प्रकार किया है मानों उन में आंतरिक भेद नहीं हैं। लेकिन उपनिषदों के आधार पर अनेक आचार्यों और दार्शनिक संप्रदायों ने अपने मत की पुष्टि की है, यही इस बात का प्रमाण है कि उपनिषदों में विभिन्न विचार पाए जाते हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शनों का मूल उपनिषदों में प्रायः नहीं है, इसी

न्याय और वैशेषिक

लिए वेदांतियों को 'तार्किकों' से विशेष चिढ़ है। नैयायिकों ने उपनिषदों से सिर्फ़ एक बात ली है, वह यह कि आत्मा निद्रावस्था में पुरीतत् नाड़ी में शयन करता है। मोक्ष और आत्माओं के बहुत्व तथा व्यापकता की धारणाएँ भी उपनिषदों की चीज़ मानी जा सकती हैं। परमाणुवाद और नैयायिकों का ईश्वर उपनिषदों में पाना कठिन है।

कठोपनिषदों में पुरुष को अव्यक्त से और अव्यक्त को महत्तत्व से

सांख्य का मूल

परे या सूक्ष्म बतलाया गया है। इस प्रकार सांख्य के प्रकृति, बुद्धि और पुरुष का वर्णन यहां मिल जाता है।[1] किंतु सांख्य का मुख्य स्रोत श्वेताश्वेतर उपनिषद् है। इस उपनिषद् में कपिल का नाम आता है।[2] किंतु वेदांती लोग वहां कपिल का अर्थ वर्णविशेष करके उसे हिरण्यगर्भ का विशेषण बतलाते हैं। श्वेताश्वेतर में एक प्रसिद्ध श्लोक है।

अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम् बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।

(४।५)

---

[1] कठ, १।३।१०, ११

[2] श्वेता० ५।२.

अर्थात्, "एक बहुत सी सदृश प्रजाओं को उत्पन्न करनेवाली लाल, सफ़ेद और काले वर्ण की अजा (बकरी या कभी उत्पन्न न होनेवाली प्रकृति) है। एक अज (बकरा या बद्ध जीव) उस के साथ रमण करता है, दूसरा अज (मुक्त पुरुष या बकरा) उस भोग की हुई को छोड़ देता है।" यहां सांख्यों के अनुसार तीन गुणों वाली प्रकृति का वर्णन है।

किंतु श्वेताश्वेतर का सांख्य, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं निरीश्वर सांख्य नहीं है। वहाँ प्रकृति ईश्वर की माया या शक्ति ही रहती है। प्रश्नोपनिषद् में पुरुष को सोलह कलाओंवाला कहा गया है जिन से छूट कर पुरुष मुक्त हो जाता है।[1] इन कलाओं का वर्णन लिंग-शरीर से कुछ समता रखता है।

योग का मूल योग की महिमा अनेक उपनिषदों में गाई गई है। कठ में लिखा है—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिराभिन्द्रिय-धारणाम्।
(२।६।१०-११)

अर्थात्, जिस अवस्था में पाँचों ज्ञानेंद्रियां और मन अपने विषयों से उपरत हो जाते हैं और बुद्धि भी चेष्टा करना छोड़ देती है, उसे परम गति कहते हैं। इंद्रियों की उस स्थिर धारणा का ही नाम योग है। श्वेताश्वेतर (२।८—१५) में योग-प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन है। योग के भौतिक पहलुओं पर कौषीतकी और मैत्री उपनिषद् में प्रकाश डाला गया है।

मीमांसा वस्तुतः मीमांसा के यज्ञ-विधानों के महत्व का उद्गम ब्राह्मण-युग का साहित्य है। ब्राह्मण-काल और सूत्र-काल, जो कि उपनिषदों के ठीक बाद आता है, का वर्णन हम कर चुके

[1] प्र० ६। ५

हैं। ईशोपनिषद् में ज्ञान और कर्म दोनों के प्रति न्याय करने की कोशिश की गई है।

शैवमत और उपनिषद्

श्वेताश्वेतर में ईश्वर की पदवी रुद्र या शिव को मिल जाती है।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः, य इमान्
लोकान् ईशत ईशनीभिः। ३। २

अर्थात् 'एक अद्वितीय शिव जगत का अपनी शक्ति से शासन करते हैं।'

ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढ़म् मुच्यते सर्वपाशैः। ४। १६

अर्थात् शिव जी सब भूतों में व्याप्त हैं, उन्हें जान कर सब बंधनों से छूट जाता है।

गीता का मूल

तीन उपनिषद् अर्थात् कठ, मुंडक और श्वेताश्वेतर भगवद्गीता का आधार हैं। कठ के कुछ श्लोक तो गीता में ज्यों के त्यों पाए जाते हैं, या थोड़े परिवर्तित रूप में। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्, उभौ तौ नो विजानीतो', 'आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य श्रोता' इत्यादि श्लोक उदाहरण में उद्धृत किए जा सकते हैं। निष्काम कर्म अथवा कर्मयोग का मूल ईशोपनिषद् में मिलता है। 'कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे' (कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः)। विश्वरूप-वर्णन मुंडक में वर्तमान है। कठ में प्रसिद्ध अश्वत्थ का वर्णन है जिस की जड़ ऊपर और शाखाएं नीचे हैं। श्वेताश्वेतर की भाँति गीता में भी सांख्य की प्रशंसा की गई है।

श्रीरामानुज-दर्शन

वेदांत-सूत्रों पर भाष्य करनेवाले श्रीरामानुजाचार्य, श्रीशंकराचार्य के मुख्य प्रतिपक्षी हैं। यह मानना ही पड़ेगा कि रामानुज की अपेक्षा शांकर वेदांत की पुष्टि उपनिषदों में अधिक स्पष्ट रूप में होती है। रामानुज के मत में जीव

असंख्य हैं और उन का परिमाण अणु है। प्रकृति की भी अपनी (स्वतंत्र) सत्ता है। ईश्वर सगुण है, जीव और प्रकृति उस के विशेषण (विभूतियां) हैं। कोई पदार्थ निर्गुण नहीं हो सकता। उपनिषदों की शिक्षा स्पष्ट रूप में जगत् की एकता का प्रतिपादन करती है—'नेह नानास्ति किंचन,' कहीं नानात्व नहीं है। फिर भी रामानुज के मत की पोषक श्रुतियों का अभाव नहीं है। नीचे हम कुछ उद्धरण देते हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।
(मुं० ३। १। १।)

अर्थः—दो पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, उन में से एक फलों का स्वाद लेता है, दूसरा केवल देखता रहता है। यहां ईश्वर और जीव का भेद-कथन है। यह श्रुति मध्वाचार्य के द्वैत की भी पोषक है।

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।
(श्वे० १। १२)

अर्थात्—भोक्ता (जीव), भोग्य (प्रकृति) और प्रेरक (ईश्वर) भेद से ब्रह्म तीन प्रकार का कहा गया है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम् कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।
(मुं० ३। १। ३)

अर्थात्—'विश्व के कर्ता रुक्म-वर्ण ब्रह्म का दर्शन करके विद्वान् पाप पुण्य से छूट कर निर्विकार ब्रह्म के परम दृश्य को प्राप्त होता है।' मुक्त पुरुष ब्रह्म से भिन्न रहता है, सिर्फ़ ब्रह्म के समान हो जाता है, यह सिद्धांत रामानुज का है। यह मंत्र शंकराचार्य के विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि उन के अनुसार मुक्त पुरुष ब्रह्म में लय या ब्रह्म ही हो जाता है।

वेदांत विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यास योगाद्यतयः शुद्धसत्वाः
ते ब्रह्मलोकेषु परांतकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।
(मुं० ३। २। ६)

अर्थात्—'वेदांत के ज्ञाता शुद्ध-हृदय यती मरने के बाद ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर प्रलय-काल में मुक्त हो जाते हैं।' यहां क्रममुक्ति का वर्णन है जो शांकर अद्वैत के विरुद्ध है। शंकर के अनुसार ज्ञानी मर कर तुरंत मुक्त हो जाता है।

रामानुज-दर्शन भी अद्वैतवादी होने का दावा करता है। रामानुज का दर्शन 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। उस के विषय में हम दूसरे भाग में पढ़ेंगे।

शांकर वेदांत

अपने एक अंश में शांकर वेदांत उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय ही मालूम पड़ता है। परंतु शंकर का मायावाद उपनिषदों में स्पष्ट प्रतिपादित नहीं है। 'जिस को जानने से बिना सुना हुआ सुना हो जाता है, बिना जाना हुआ जान लिया जाता है', जैसे ऊर्णनाभि सृजन करती और ग्रहण कर लेती है', 'पुरुष ही यह सब कुछ है' (पुरुष एवेदं सर्वम्), 'ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है' (ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति), इत्यादि पचासों श्रुतियां शंकर के पक्ष में उद्धृत की जा सकती हैं। इस अध्याय में पाठकों को बहुत से उद्धरण विश्व की एकता के पोषक मिल चुके हैं।

परंतु इस का यह अर्थ नहीं है कि उन श्रुतियों के अर्थ में जो द्वैत का साफ़ प्रतिपादन करती हैं, खींचातानी की जाय। वास्तव में उपनिषदों की शिक्षा में बहुत ज़्यादा एकता की आशा करना कठिनाई में डाल देता है। दर्जनों विचारकों के मत में सौ प्रतिशत समता और सामंजस्य पाया जाना कठिन है। 'उपनिषदों में एक ही सिद्धांत का प्रतिपादन है' इस हठधर्मी ने विभिन्न टीकाकारों को मंत्रों के सीधे-साधे अर्थों का अनर्थ करने को लाचार कर दिया। यह अर्थों की खींचातानी भारतीय दार्शनिकों का एक जातीय पाप रहा है। हम चाहते हैं कि हमारे पाठक इस संकीर्णता और पक्षपात को सदा के लिए हृदय से निकाल डालें। इस प्रकार वे विभिन्न आचार्यों के सिद्धांतों का उचित सम्मान कर सकेंगे।

चौथा अध्याय

विच्छेद और समन्वय—भगवद्गीता

उपनिषदों के बाद की शताब्दियाँ

हम देख चुके हैं कि उपनिषदों में अनेक प्रकार के विचार पाए जाते हैं। उपनिषत्-काल के बाद विचारों की विभिन्नता और भी बढ़ गई। उपनिषद्-युग के बाद की दो शताब्दियों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि मानो तरह-तरह के 'वादों' और 'सिद्धांतों' की बाढ़-सी आ गई हो। इस काल का अध्ययन करने के लिये सामग्री यथेष्ट है, पर अभी तक उस का ठीक-ठीक उपयोग नहीं किया गया है। श्वेताश्वेतर और मैत्री जैसे उपनिषदों में अनेक मतों का उल्लेख है जैसे कापालिक-दर्शन, बृहस्पति-दर्शन, कालवाद, स्वभाव-वाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद आदि। पांचरात्र संप्रदाय की 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में बत्तीस तंत्रों का ज़िक्र है-जैसे ब्रह्म-तंत्र, पुरुष-तंत्र, शक्ति-तंत्र, नियति-तंत्र, काल-तंत्र, गुण-तंत्र अक्षर-तंत्र, प्राण-तंत्र, कर्तृ-तंत्र, ज्ञान-तंत्र, क्रिया-तंत्र, भूत-तंत्र, इत्यादि। जैन-ग्रंथों में वर्णन है कि महावीर जी ३६३ दार्शनिक सिद्धांतों से परिचित थे। बौद्धों के 'ब्रह्मजालसुत्त' में ६२ बौद्धेतर मतों का उल्लेख है जो गौतम-बुद्ध के समय में प्रचलित थे।[1] महाभारत से भी इस काल की दार्शनिक अवस्था पर काफ़ी प्रकाश मिल सकता है। ऐसा मालूम होता है कि भारतीय इतिहास का यह समय ख़ास तौर से दार्शनिक प्रयोगों (फ़िलसॉफ़िकल एक्सपेरीमेंट्स्) का युग था। आस्तिक और नास्तिक दोनों विचार-क्षेत्रों में सनसनी फैली हुई थी। पहले हम आस्तिक विचार-धाराओं का उल्लेख करेंगे।

---

१ 'हिस्टरी आफ़् इंडियन फ़िलासफ़ी', (बेल्वेल्कर और रानाडे-कृत) भाग २, पृ० ४५८-५०

१--आस्तिक विचार-धाराएं

महाभारत में सप्रपंच और निष्प्रपंच, सगुण और निर्गुण दोनों ही प्रकार के ब्रह्म-विषयक वर्णन पाए जाते हैं। तथापि सगुण-ब्रह्म-संबंधी विचारों की प्रधानता है। एकेश्वरवाद की धारणा परिपक्व हो चुकी थी। वैदिक-काल के इंद्र, वरुण आदि देवताओं का स्थान ब्राह्मण-काल में प्रजापति ने ले लिया था। प्रजापति बाद को ब्रह्मा कहलाने लगे। इस के बाद श्वेताश्वेतर के समय में रुद्र या शिव की प्रधानता होने लगी। इसी युग में विष्णु की महिमा भी बढ़ी। महाभारत में विष्णु सर्वप्रधान देवता बन जाते हैं। यही समय भागवत धर्म के अभ्युदय का भी था जिस ने वासुदेव-कृष्ण का महत्व बढ़ा दिया। महाभारत से पता चलता है कि कृष्ण की ईश्वरता को बिना विरोध के नहीं मान लिया गया। युधिष्ठर के यज्ञ में शिशुपाल द्वारा कृष्ण के अपमानित किए जाने की कथा काफ़ी प्रसिद्ध है।

इसी समय दर्शन-शास्त्रों के अंकुर भी भारत की मस्तिष्क-भूमि में निकलने लगे थे। यह समझना भूल होगी कि भगवद्गीता के समय तक कोई दर्शन अपने आधुनिक प्रौढ़ रूप में वर्तमान था। इस समय के वायु-मंडल में सांख्य के विचारों की प्रधानता थी। महाभारत में सृष्टि का वरणन बहुत कुछ सांख्य-सिद्धांतों के अनुकूल है। श्वेताश्वेतर और गीता भी 'सांख्य' शब्द का प्रयोग करते हैं।

व्यावहारिक मतभेद

व्यावहारिक क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के सिद्धांत विकसित हो रहे थे। उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म और कोरे ज्ञान से ऊब कर लोग फिर ब्राह्मण-काल की ओर लौटने लगे थे। कर्मवाद या क्रियावाद का महत्व बढ़ने लगा था, पर साथ ही उस का स्वरूप भी बदलने लगा था। यज्ञादि कर्म स्वर्ग का साधन न रह कर चित्त-शुद्धि का साधन बनने लगे थे। महाभारत के एक अध्याय का शीर्षक है 'यज्ञ-निंदा' उस में याज्ञिक हिंसा की कड़ी आलोचना की

[1] हिरियन्ना, पृ० ६२

गई है। जैसे ही एक ब्राह्मण ने पशु का वध किया, उस का यज्ञ करने का सारा फल नष्ट हो गया और पशु ने जो कि वास्तव में धर्मराज थे, अपना स्वरूप धारण करके अहिंसा का उपदेश किया। अहिंसा ही संपूर्ण धर्म है (अहिंसा सकलो धर्मः)। ज्ञान से ही मुक्ति होती है, इस के पक्षपाती उपनिषदों के शिक्षक भी मौजूद थे। ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त लोगों की भक्ति-मार्ग में रुचि बढ़ रही थी। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में हम भक्ति-प्रतिपादक साहित्य का प्रथम बार दर्शन करते हैं। उस के पश्चात् भक्ति की शिक्षा सब से पहले भगवद्गीता में मिलती है। शांडिल्य और नारद के भक्ति-सूत्र बाद की चीज़ें हैं।[1] यौगिक क्रियाओं का महत्व भी बढ़ रहा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय के विभिन्न विचारक जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग का उपदेश कर रहे थे।

२—नास्तिक विचारक

आस्तिक विचारों के सिद्धांतों में इस प्रकार विभिन्नता और मतभेद देख कर लोगों में नास्तिकता और अविश्वास की भावनाएं भी जन्म लेने लगीं। यदि सत्य एक है तो उस को पालने का दंभ करनेवालों में इतना वैषम्य इतनी अराजकता क्यों? श्रुति के अनुयायियों में आपस में फूट क्यों? विश्वतत्व का स्वरूप क्या है और हमारा धर्म क्या है? इस विषय में संसार के विचारकों का एक निश्चय कभी नहीं हो सकता। बृहस्पति नामक विद्वान् ने अपने नास्तिक विचारों का प्रचार करने के लिए एक ग्रंथ सूत्रों में लिखा जो कि अब कहीं उपलब्ध नहीं है। बृहस्पति के शिष्य चार्वाक ने वेदों और वैदिक-स्मार्त धर्म के समर्थकों का कड़ी भाषा में तर्कपूर्ण खंडन किया।

नास्तिक दर्शनों में चार्वाक-दर्शन प्रधान है। चार्वाक दर्शन एक

---

[1] पाणिनि ने 'भक्ति' शब्द की सिद्धि के लिए एक अलग सूत्र की रचना की है, अर्थात् ४।३।९५ वां सूत्र।

चार्वाक-दर्शन प्रकार का जड़वाद है। भारतीय जड़वाद का कोई शृंखला-बद्ध साहित्य प्राप्त नहीं होता, केवल यत्रतत्र बिखरे हुये कुछ अंश पुराणादि में पाये जाते हैं। बृहस्पति चार्वाक-दर्शन का प्रवर्त्तक कहा जाता है और बृहस्पति-सूत्र इसका मूल ग्रंथ माना जाता है। बृहस्पति-सूत्र के कुछ अंश सर्वदर्शन संग्रह में उद्धृत किये गये हैं। चार्वाक दर्शन को लोकायत-दर्शन भी कहते हैं क्योंकि यह एक सामान्य लोकमान्य मत का प्रतिपादन करता है। सामान्य जन प्रायः जो देखते हैं उसी को सत्य मानते हैं अतः उन की दृष्टि में भौतिक जगत ही चरम सत्य और ऐहिक सुख ही परम श्रेय है। चार्वाक-दर्शन में भी केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र विश्वसनीय प्रमाण माना गया है। तथा भौतिक जगत को ही चरम-सत्य और लौकिक सुख को ही परम श्रेय माना गया है।

चार्वाक के मतानुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र विश्वसनीय प्रमाण है। अन्य प्रमाण संदिग्ध हैं अतः उन के प्रमेय भी असत्य हैं। जिस का हम साक्षात् इंद्रियों द्वारा अनुभव करते हैं वही निश्चित सत्य है। अनुमान संदिग्ध है क्योंकि अनुमान में हम प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात विषय के आधार पर एक अज्ञात विषय के संबंध में निर्णय करते हैं। यह निर्णय सदा व्याप्ति के आधार पर होता है। व्याप्ति साध्य और हेतु का नित्य तथा सार्वभौम संबंध है। 'पर्वत पर धूम है, अतः पर्वत वह्निमान् है' यह अनुमान धूम और वह्नि के व्याप्ति-संबंध पर निर्भर है। किंतु इस सार्वभौम व्याप्ति-संबंध का कोई निर्णय संभव नहीं है। सार्वभौम संबंध अनंत व्यक्तियों का संबंध है, अनंत व्यक्तियों का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान असंभव है, क्योंकि प्रत्यक्ष सीमित है। अतः प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति-ज्ञान संभव नहीं है। अनुमान को व्याप्ति ज्ञान का आधार मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। अनुमान अपने प्रामाण्य के लिये स्वयं व्याप्ति-ज्ञान पर आश्रित है फिर वह (अनुमान) स्वयं किस प्रकार व्याप्ति-ज्ञान

का साधक हो सकता है? और न श्रुति द्वारा व्याप्ति-ज्ञान संभव है, क्योंकि श्रुति कोई स्वतंत्र प्रभाव नही है। श्रुति प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान की ही शब्द-परंपरा है। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुति तीनों प्रमाणों द्वारा व्याप्ति असाध्य होने के कारण अनुमान प्रमाण अमान्य है। श्रुति भी कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। वह भी प्रत्यक्ष (तथा अनुमान) पर आश्रित है। अतः केवल प्रत्यक्ष ही एकमात्र माननीय प्रमाण है।

जब प्रत्यक्ष ही एक मात्र मान्य प्रमाण है तो प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय विषय ही एक मात्र सत्य है। प्रत्यक्ष द्वारा केवल भौतिक जगत् की उपलब्धि होती है, अतः चार्वाक मतानुसार केवल भौतिक जगत् ही सत्य है। इस के अतिरिक्त जिन अभौतिक सत्यों की कल्पना अन्य दर्शनों में की गई है वे कल्पना मात्र हैं। आत्मा, ईश्वर और स्वर्ग का कहीं अस्तित्व नहीं है। भौतिक जगत्, जो एक मात्र सत्य है, पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि, चार भूतों द्वारा निर्मित है। चार्वाक मत में चार ही भूतों को माना गया है।[1] पंचम भूत आकाश प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय नहीं है अतः वह मान्य नहीं है। इन चार भूतों के योग से ही विश्व के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति है। आत्मा भी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। मदशक्ति की भांति चार भूतों के योग से चैतन्य भी उत्पन्न हो जाता है[2]। मरने के बाद जीव नाम की कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती। चतुर्भूतों का विलय हो जाता है और उन के योग से उत्पन्न चैतन्य नष्ट हो जाता है। अतः परलोक—स्वर्ग और नरक—कवियों की सृष्टि है[3] पुजारियों ने अपनी जीविका के लिये इन का निर्माण किया। इन की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। ईश्वर

---

[1] अत्रचत्वारि-भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।—
सर्वदर्शन संग्रह

[2] चतुर्भ्यःखलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते।
किण्वादिभ्यो समेतेभ्यो द्रव्येभ्योमदशक्तिवत् ॥

[3] न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।

भी प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय नहीं है अतः वह भी असत्य है। जगत् की सृष्टि चार भूतों से स्वतः ही होती है। उस की व्यवस्था भी भूतों के स्वभाव से होती है। राजा संसार का नियंत्रण करता है। अतः न जगत्-स्रष्टा के रूप में, न जगन्नियंता के रुप में ईश्वर की अपेक्षा है। लोक में प्रसिद्ध राजा ही परमेश्वर है।[1]

जिस दर्शन में प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है तथा भौतिक जगत् ही एक मात्र सत्य है, उस में जीवन के किसी उच्च आदर्श की आशा नहीं की जा सकती। जब भौतिक जगत् ही चरम सत्य है, तो ऐहिक सुख ही चरम श्रेय है। आत्मा, ईश्वर और परलोक के न मानने पर धर्म-अधर्म का भेद व्यर्थ है। सुख की कामना स्वाभाविक है और सुख के लिये मनुष्य जो भी करे वह उचित है। चार्वाक के अनुसार सुख ही परम पुरुषार्थ है।[2] इस लघु और नश्वर जीवन में सुख ही सार है। अतः जब तक जिये सुख-पूर्वक जिये, चाहे ऋण करके भी घृतपान करे। एक बार भस्म होने पर इस अमूल्य देह का पुनरागन नहीं होता।[3] अन्य वैदिक तथा नैतिक कर्म निरर्थक हैं। वेद और वैदिक कर्मों की बृहस्पति ने बड़े कठोर शब्दों में निंदा की है। वेदों के निर्माताओं को भण्ड, धूर्त और निशाचर कहा गया है।[4] वेद तथा वैदिक कर्म सत्य नहीं, बुद्धि पौरुष-रहित पुरोहितों की जीविका के साधन हैं।[5] यदि यज्ञ में बलिदान करने से पशु स्वर्ग को जाता है तो यजमान को अपने

[1] लोक सिद्धो राजा परमेश्वरः।

[2] सुखमेव पुरुषार्थः

[3] यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

[4] त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्ड-धूर्त्त-निशाचराः।

[5] अग्नि होत्र स्त्रयोवेदास्त्रिदंड भस्मगुंठनम्।
बुद्धि पौरुष हीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।

पिता को ही बलि चढ़ाना चाहिये, जिस से वह सीधा स्वर्ग को चला जाय। यदि मरे हुये पितरों को पिण्ड पहुँच सकता है तो परदेश यात्रा करने वालों के साथ पाथेय बाँधना व्यर्थ है। अतः समस्त वैदिक तथा नैतिक कर्म निष्प्रयोजन हैं। केवल सुख को जीवन का सार मानकर उसी के उपभोग में जीवन की सार्थकता माननी चाहिये।

बृहस्पति और चार्वाक के अतिरिक्त और भी जड़वादी तथा नास्तिक विचारक वर्तमान थे।[1]

पुराणकश्यप

पुराण कश्यप के मत में पाप-पुण्य का भेद कल्पित है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार किसी में दोष नहीं है। यदि कोई तलवार हाथ में लेकर संसार के सारे प्राणियों को काट डाले तो भी उसे कोई पाप नहीं होगा। इसी प्रकार शम, दम, तप, दान, परोपकार आदि में कोई गुण नहीं है। पाप और पुण्य दोनों की धारणा भ्रम है।

अजितकेशकंबली

शायद वह दार्शनिक बालों के कपड़े पहनता था; उस के अनुयायी भी थे। उस का सिद्धांत था कि अच्छे-बुरे कर्मों का कोई फल नहीं होता। मरने पर मनुष्य का शरीर चार तत्वों (पृथ्वी, जल, वायु, तेज) में मिल जाता है। फिर भोगने वाला कौन शेष रहता है? जीव की अमरता मूर्खों का सिद्धांत है।

पकुध काच्छायन

इस दार्शनिक का मत 'शाश्वतवाद' कहलाता है। पृथ्वी, जल, वायु, तेज, सुख, दुःख और आत्मा इन सात का स्रष्टा कोई नहीं है। यह सब शाश्वत (नित्य) पदार्थ हैं। इस लिए न कोई हंता (मारने वाला) है न कोई मारा जाने वाला। जीव-हत्या में कोई दोष नहीं है।

यह बड़ा तार्किक और संदेहवादी था। 'यदि तुम मुझ से पूछो कि

---

[1] इन विचारकों के मत के लिए देखिए 'बेल्वेल्कर और रानाडे' पृ० ४२१-२८

संजय बेलट्ठपुत्त

परलोक है, तो अगर मैंच सोचता सोचता कि 'है', मैं 'हां' कह कर उत्तर देता। लेकिन मैं ऐसा नहीं कहता। मैं 'नहीं' भी नहीं कहता। क्योंकि इस प्रकार का विश्वास मुझे नहीं है। न मैं इनकार करता हूँ। यह ऐसा है' इस प्रकार का वाक्य आप मुझ से नहीं सुनेंगे।'

मक्खली गोसाल

प्राणियों की अवनति का कोई कारण नहीं है; बिना हेतु के जीवों का अधः पतन होता है। प्राणियों की उन्नति का भी कोई कारण नहीं है; बिना हेतु के जीव-वर्ग उन्नति करते हैं। चौरासी लाख योनियों के बाद जीवों का दुःख स्वयं दूर हो जायगा। नियति, स्वभाव या यदृच्छा से सब कुछ होता है। मानव-प्रयत्न और मानव-पुरुषार्थ बिल्कुल व्यर्थ हैं। यज्ञ, दान, तप यह सब निष्फल हैं।

उपर्युक्त दार्शनिकों के अनुयायी उस समय अनेक शिक्षक थे। वे कर्तव्याकर्तव्य के भेद को मिटाना चाहते थे और इस प्रकार सामाजिक जीवन की जड़ ही काट देने को तैयार थे। डाक्टर बेल्वेल्कर ने इन विचारकों की तुलना ग्रीस (यूनान) के सोफ़िस्ट लोगों से की है। उन की अपील जनता के लिए थी। दर्शनशास्त्र को जनता की वस्तु बनाने में उन का काफ़ी हाथ रहा। आस्तिक दार्शनिकों को अपने विचार सुबोध और व्यावहारिक बनाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। हिंदू-धर्म और हिंदू विचारों के लिए यह संकट का समय था। उस समय भगवद्-गीता के लेखक ने विभिन्न आस्तिक विचारधाराओं का समन्वय और नास्तिक विचारों की तीव्र भाषा में निंदा करके वैदिक धर्म के विरोधियों के विरुद्ध उस के पक्षपातियों के सम्मिलित युद्ध की घोषणा कर दी।

महाभारत और गीता

वर्त्तमान गीता महाभारत के भीष्म-पर्व का एक भाग है। युद्ध आरंभ होने से कुछ पहले दोनों ओर की सेनाओं को देख कर अर्जुन के हृदय में मोह उत्पन्न हुआ—

मैं अपने गुरुजनों को कैसे मारूँ ? उसी समय भगवान् कृष्ण ने गीता का उपदेश किया। हम ऊपर कह चुके हैं कि महाभारत की कम से कम तीन आवृत्तियां हुई हैं। सब से पहली आवृति का नाम, जिस में शायद कुरु-पांडवों के युद्ध का वर्णन मात्र था, 'जय' था। महाभारत के आदि-पर्व में लिखा है कि महाभारत में ८८०० श्लोक ऐसे हैं जिन का अर्थ व्यास और शुक को छोड़ कर कोई नहीं जानता। इस से कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि मूल महाभारत में इतने ही श्लोक थे। दूसरी आवृत्ति 'भारत' कहलाई जिस में २४,००० श्लोक थे। श्री वेल्वेल्कर इस संस्करण को प्राग्बौद्धिक (बुद्ध से पहले का) मानते हैं। योरुप के विद्वान् उसे बुद्ध से बाद की रचना समझते हैं। इस के बाद महाभारत के तीसरे और चौथे संस्करण ही नहीं हुए, बल्कि समय-समय पर प्रक्षिप्त श्लोकों की संख्या बढ़ती ही गई। इस समय हरिवंशपुराण सहित महाभारत में लगभग एक लाख सात हज़ार श्लोक हैं। अंतिम आवृत्ति ईसा के बाद की शताब्दियों में हुई, ऐसा माना जाता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि भगवद्गीता मूल महाभारत से भी प्राचीन है जो कि जनता का प्रय ग्रंथ होने के कारण बाद को महाभारत में जोड़ दी गई। यदि ऐसा न हो तो भीभगवद्गीता को जय-ग्रंथ से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता। गीता का एक श्लोक—'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' आदि (६ । २६)—बोधायनगृह्यसूत्रों में पाया जाता है, जिन का समय ४०० ई०पू० के लगभग है। इस प्रकार डाक्टर बेल्वेल्कर और प्रो० सुरेंद्रनाथ दास-गुप्त का यह मत कि गीता बौद्ध-धर्म से पहले बनी, असंगत नहीं मालूम होता।

महाभारत में स्थल-स्थल पर भगवद्गीता-विषयक संकेत मिलते हैं, जिस से वह महाभारत का अवियोज्य अंग मालूम होती है; अन्य कई गीताएं भी पाई जाती हैं जो स्पष्ट ही कृष्णगीता का अनुकरण हैं और बाद को मिला दी गई हैं। गीता जैसे मूल्यवान् ग्रंथ के अतिरिक्त महाभारत सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा दर्शनिक

विचारों से भरी पड़ी है। वर्तमान महाभारत में युद्ध की मूल कथा के अतिरिक्त सैकड़ों आख्यान और उपाख्यान हैं। संस्कृत के काव्यों और नाटकों की अधिकांश कथाएं महाभारत से ली गई हैं। शिशुपालवध, नैषध, रघुवंश, किरातार्जुनीय, अभिज्ञान-शाकुंतल, वेणीसंहार आदि के रचयिता अपनी कृतियों के लिए महाभारतकार के ऋणी हैं। शिक्षक और उपदेशक युक्तियों का काम छोटी-छोटी कथाओं और कहानियों से लेते हैं। बहुत सी कहानियों के पात्र पशु-पक्षी जगत् से लिए गए हैं। यात्राओं के भौगोलिक वर्णन भी महाभारत की एक विशेषता है। बलराम ने अपनी शुद्धि के लिए तीर्थयात्रा की थी और पांडवों ने दिग्विजय के लिए पृथ्वी का पर्यटन किया था। विराट् पर्व में गो-पालन की शिक्षा पाई जाती है। अनुशासन पर्व में भीष्म ने धर्मशास्त्र की और दार्शनिक शिक्षा दी है। महाभारत में सांख्य, योग, वेदांत आदि सब के विचार पाए जाते हैं। शांतिपर्व को तो दार्शनिक विचारों का विश्वकोष ही समझना चाहिए। इस पर्व में राज-धर्म, आपद्-धर्म और मोक्ष-धर्म का भी वर्णन है। आसुरि, कपिल, जनक, गौतम, मैत्री आदि के नाम महाभारत में मिलते हैं। वंशावलियां, तीर्थों का माहात्म्य, आदि महाभारत की दूसरी विशेषताएं हैं। महाभारत के लंबे युद्ध-वर्णनों को पढ़ कर अनुमान होता है कि महाभारतकार शस्त्रों और अस्त्रों की विद्या का पारंगत पंडित था। महाभारत का इतना परिचय देने के बाद हम अपने प्रकृत विषय भगवद्‌गीता पर आते हैं।

गीता का महत्व

हम कह चुके हैं कि भारतीय दर्शनों का दृष्टिकोण व्यावहारिक है भगवद्‌गीता को पढ़ने पर भारतीय मस्तिष्क की यह विशेषता और भी स्पष्ट हो जाती है। जिस ने भगवद्‌गीता को एक बार भी पढ़ा है, वह भारतीयों पर व्यवहार-शास्त्र में अभिरुचि न रखने का अभियोग कभी नहीं लगा सकता। जैसी व्यावहारिक समस्या अर्जुन के सामने उपस्थित हुई थी वैसी कर्तव्याकर्तव्य

की कठिनाईयां बहुत से देशों में धर्मप्राण मनुष्यों के हृदय में उठी होगी; लेकिन उन कठिनाइयों की जैसी सजीव अभिव्यक्ति भगवद्गीता में हुई है और उन के समाधान का जैसा गंभीर प्रयत्न यहां किया गया है, वैसा विश्व-साहित्य के किसी दूसरे ग्रंथ में मिलना दुर्लभ है । यही कारण गीता के लोकप्रिय होने का है । आज भगवद्गीता का संसार की सब सभ्य भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। हज़ारों नर-नारी उस का पाठ करते हैं और जीवन के आशा-निराशा भरे क्षणों में सुख और शांति लाभ करते हैं । भगवद्गीता के प्रसिद्ध होने का एक दूसरा कारण उस की समन्वय और सहिष्णुता की शिक्षा है । भगवद्गीता अनेक प्रकार की विचारधाराओं के प्रति आदर-भाव प्रकट करती है, और उन में सत्यता के अंश को स्वीकार करती है । कम से कम व्यवहार-क्षेत्र में भगवद्गीता में संसार के विद्वानों के प्रायः सभी उल्लेखनीय विचारों का समावेश हो गया है । इस का अर्थ यह नहीं है कि भगवद्गीता के तात्विक विचार (मेटाफ़िज़िकल व्यूज़) नगण्य या कम महत्व के हैं ।

गीता का तत्वदर्शन या ओंटोलोजी

गीता के विश्व-तत्व-संबंधी विचारों पर उपनिषदों की स्पष्ट छाप है । सांख्य के विचारों का भी बाहुल्य है । गीता और उपनिषदों में मुख्य भेद यही है कि जब कि उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुण रूप को प्रधानता दी गई है, गीता में सगुण ब्रह्म को श्रेष्ठ ठहराया गया है । ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को भी गीता मानती है । 'सारी विभक्त वस्तुओं में जो अभिव्यक्त होकर वर्तमान है, जिसे न सत् कहा जा सकता है न असत्, जो सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय है, जो ज्योतियों की भी ज्योति और अंधकार से परे है, जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय है' उस ब्रह्म का वर्णन और गुण-गान करने से गीता नहीं सकुचाती। परंतु उस का अनुराग सगुण ब्रह्म में ही अधिक है, जिस से ब्रह्मसूत्र के शब्दों में, सारे जगत् की उत्पति और स्थिति होती है और जिस में प्रलय-काल में समस्त संसार लय हो जाता है ।

ब्रह्मांड के अशेष पदार्थ उसी से निःसृत होते हैं। सगुण ब्रह्म या भगवान् की दो प्रकृतियां हैं—एक परा और दूसरी अपरा। पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार की अपरा प्रकृति है। परा प्रकृति जीव-रूप अथवा चैतन्य-स्वरूप है जो जगत् का धारण करती है। अपरा प्रकृति वास्तव में सांख्य की मूल प्रकृति और श्वेताश्वेतर की माया है। इसे अव्यक्त भी कहते हैं। ब्रह्मा के दिन के प्रारंभ में सारे व्यक्त पदार्थ प्रकट होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के आने पर उसी अव्यक्त-संज्ञक में लय हो जाते हैं।[1]

गीता में प्रकृति को महद्ब्रह्म भी कहा गया है जो संपूर्ण विश्व की योनि का कारण है। भगवान् स्वयं इस में बीजारोपण करते हैं। यह अव्यक्त, महद्ब्रह्म या प्रकृति तीन गुणों वाली है। सत्, रज, तम नामक प्रकृति के गुण भौतिक, मानसिक और व्यावहारिक क्षेत्रों में सर्वत्र व्याप्त हैं। सात्विक, राजस और तामस भेद से भोजन तीन प्रकार का होता है, श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तीन प्रकार के होते हैं। प्रकृति के गुण ही हमारे कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं; प्रकृति ही वास्तविक कर्त्री है। अहंकार के वश होकर हम अपने को कर्ता मानते हैं।

इस अव्तक्त से भी परे एक पदार्थ है जो स्वयं अव्यक्त और सनातन है, जो सब भूत-वर्गों का नाश हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता—इसे अक्षर कहते हैं। 'सब भूतों को क्षर कहते हैं और कूटस्थ को अक्षर।' उत्तम पुरुष इन दोनों से भिन्न है जिसे परमात्मा कहा गया है, जो अव्यय ईश्वर तीनों लोकों को व्याप्त करके उन का भरण-पोषण करता है।[3]

---

[1] गीता, ८। १८

[2] १४। ३

[3] १५। १६-१७

भगवान् ही संसार की सब वस्तुओं का एकमात्र अवलंबन हैं। उन में सब कुछ पिरोया हुआ है (मयि सर्वमिदं प्रोतम्) उन्हीं से सब कुछ प्रवर्तित होता है (मत्तः सर्वं प्रवर्तते)। दसवें अध्याय में तथा सातवें और नवें अध्यायों के कुछ स्थलों में भगवान् की विभूतियों का वर्णन है। संसार के सत्, असत् सभी पदार्थ भगवान् ही हैं। 'पृथ्वी में मैं गंध हूँ और सूर्य व चन्द्रमा में प्रकाश। मैं सब भूतों का जीवन हूँ, और तपस्यियों का तप।' (७। ९) 'मैं ही क्रतु हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषधियां हूँ; मंत्र, आज्य, अग्नि और हव्य पदार्थ मैं ही हूँ। संसार की गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी निवासस्थान, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, आधार और अविनाशी बीज मैं ही हूँ।' (९। १६, १८)

'मैं सब भूतों के भीतर स्थित हूँ, मैं उन का आदि, अंत और मध्य हूँ। आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, ज्योतियों में सूर्य, मरुद्गणों में मरीचि, और नक्षत्रों में चंद्रमा।.........अक्षरों में 'अकार' हूँ, समासों में द्वंद्व। मैं अक्षय काल हूँ, मैं सब को धारण करनेवाला, विश्वतोमुख हूं। मैं सब का हरण करने वाली मृत्यु हूं, मैं भविष्य के पदार्थों की उत्पत्ति हूं! मैं स्त्रियों की कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और सहन-शीलता हूं।' (१०। २०, २१, ३८, ३४)

ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप दिखलाकर भगवान् ने अर्जुन को अपनी विभूतियों का और संसार का अपने ऊपर अवलंबित होने का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। साथ ही उन्हों ने अर्जुन को यह उपदेश भी दिया कि उसे अपने को भगवान् के ऊपर छोड़ कर उन्हीं की उद्देश्य-पूर्ति के लिए कर्म करना चाहिए। इस प्रकार गीता ने अपने तत्व-दर्शन में सांख्यों के प्रकृतिवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद, और भागवतों के ईश्वर-वाद तीनों का समन्वय कर दिया।

गीता का मुख्य प्रयोजन जीवन की व्यावहारिक समस्याओं पर प्रकाश

गीता की व्यावहारिक शिक्षा डालना है। तत्व-दर्शन या तत्व-विचार गीताकार के लिये व्यावहारिक सिद्धांतों तक पहुँचने का उपकरण-मात्र है। गीता की व्यावहारिक शिक्षा पर अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गए हैं जिन में लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' का एक विशेष स्थान है। श्री शंकराचार्य ने अपने गीता-भाष्य में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि गीता का तात्पर्य ज्ञान में है, न कि कर्म में। कर्म से मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। निष्काम कर्म की शिक्षा नीची श्रेणी के अधिकारियों के लिए है, जिन की बुद्धि अभी वेदांत-सिद्धांत समझने के लिए परिपक्व नहीं हुई है, उन के लिए कर्मयोग का उपदेश है। श्री तिलक ने शंकराचार्य की इस व्याख्या का खंडन करके यह सिद्ध किया है कि गीता कर्म-संन्यास या कर्म-त्याग का उपदेश न देकर कर्मयोग की शिक्षा देती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, गीता के युग में मोक्षाभिलाषियों के लिए ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग और योगमार्ग इन सब की शिक्षा दी जा रही थी। अपने तत्वदर्शन की भाँति व्यावहारिक विचारों में भी गीता ने समन्वय करने की चेष्टा की है, हम यही दिखाने का प्रयत्न करेंगे।

जीवन के व्यापारों के विषय में गीता की कुछ मौलिक धारणाएं हैं जिन को केंद्र मान कर उस में विभिन्न मार्गों की सचाइयों को एकत्रित करने की कोशिश की गई है। यह मौलिक धारणाएं हमारी समझ में तीन हैं; इन्हें समझे बिना गीता की शिक्षा ठीक रूप में हृदयंगम नहीं हो सकती।

(१) गीता का कड़ा आदेश है कि मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के लिए मन और इंद्रियों का निग्रह करना आवश्यक है। 'विषयों का ध्यान करते-करते मनुष्य की उन में आसक्ति हो जाती है, इस आसक्ति से काम या वासना उत्पन्न होती है जिस के पूरे न हो सकने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृति का नाश; स्मृति नष्ट

होने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और मनुष्य का पतन होता है।'[1] अन्यत्र गीता में काम, क्रोध और लोभ को नरक का द्वार कहा गया है। इन तीनों को छोड़ देना चाहिए। प्रत्येक साधक को, चाहे वह कर्मयोगी हो या भक्त या ज्ञानी, मन और इंद्रियों का निग्रह करना चाहिए, यह गीता का दृढ़ आदेश है। इंद्रियों के दमन की कोशिश करते रहना, यह गीतोक्त साधक की साधनावस्था से भी पहले की दशा है। दैवी संपत् के नाम से जिन गुणों का परिगणन किया गया है वे गुण मुमुक्षु लोगों में स्वभावतः ही पाए जाने चाहिए। उन को प्रकृति सतोगुणी होनी चाहिए। निर्भयता, शुद्धता, स्वाध्याय-प्रेम, अमानित्व, दंभ का अभाव, ऋजुता, दानप्रियता या उदारता आदि गुण मोक्षार्थियों में जन्मजात अथवा पूर्व कर्मों के फलभूत होते हैं।

(२) गीता का विश्वास है कि साधना-पथ की कुछ मंजिलें तय कर लेने पर साधन में समत्व-बुद्धि अथवा साम्य-भावना का प्रादुर्भाव हो जाना चाहिए। स्थित-प्रज्ञ वह है जो सर्वत्र समदृष्टि हो, जो सुख-दुख को एक-सा समझे। पंडित वह है जो ब्राह्मण, शूद्र, कुत्ते आदि में एक-सी दृष्टि रक्खे। 'यहीं उन्हों ने सृष्टि को जीत लिया है, जिनका मन साम्य में स्थित है; क्योंकि, ब्रह्म निर्दोष और सम है, इस लिए उन्हें ब्रह्म में स्थित हुआ समझना चाहिए। समत्व का ही नाम योग है (समत्वं योग उच्यते)। भक्त को भी समदर्शी होना चाहिए। 'जो शत्रु और मित्र, मान और अपमान में सम है; जिसे शीतोष्ण, सुख-दुख समान हैं; जो आसक्ति-हीन है; जो निंदा और स्तुति में एक-सा रहता है; जो कुछ मिल जाय उसी में संतुष्ट, गृह-हीन, स्थिर-बुद्धि, भक्तिवाला ऐसा पुरुष मुझे प्यारा होता है।'[2] साधक किसी भी दार्शनिक संप्रदाय का अनुयायी हो,

---

[1] २।६२—६३

[2] १२।१८-१९

उस के व्यावहारिक विचार कैसे ही हों, गीता की सम्मति में समता का दृष्टिकोण बनाना उस का परम कर्तव्य है।

(३) गीता की तीसरी और सब से महत्वपूर्ण मौलिक धारणा यह है कि मनुष्य को संकल्पों का त्याग कर देना चाहिए, फलाकांक्षा को छोड़ देना चाहिए। जिस ने संकल्पों का त्याग नहीं किया है वह योगी नहीं हो सकता।[1]

गीता और योग

गीता में योग शब्द का प्रयोग पातंजल योग के अर्थ में नहीं हुआ है। वस्तुतः उस समय तक पतंजलि का योगशास्त्र बना ही नहीं था। लेकिन यौगिक क्रियाओं से लोग अभिज्ञ थे। गीता में 'योग' की परिभाषा अनेक प्रकार से की गई है। 'समत्व का ही नाम योग है।' 'कर्मों में कुशलता को ही योग कहते हैं' (योगः कर्मसु कौशलम्)। गीता के योग शब्द का सामान्य अर्थ अपने को लगाना या जोड़ना है। इस प्रकार कर्मयोग का अर्थ हुआ अपने को सामाजिक कर्तव्यों की पूर्ति में लगाना (देखिए 'हिरियन्ना' पृ० ११६)। फलाकांक्षा न रख कर कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करने का नाम ही कर्मयोग है।

गीता को पातंजल योग से कोई द्वेष नहीं है। छठे अध्याय में तो इस प्रकार के योगी को तपस्वियों से, कर्म-कांडियों से और ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ कहा गया है। 'एकांत में मन और इंद्रियों की क्रियाओं को रोक कर, सिर, ग्रीवा और शरीर को अचल स्थिर कर के, शांत होकर चित्त की शुद्धि के लिए योग करना चाहिए।' 'पाप-रहित होकर जो नित्य योगाभ्यास करता है उसे ब्रह्म-संस्पर्श का आत्यंतिक सुख प्राप्त होता है।' परंतु ऐसे योगी को भी कर्म करना छोड़ देना चाहिए यह गीता की सम्मति नहीं है। अर्जुन को योगी बनना चाहिए (तस्माद्योगी भवार्जुन) परंतु

---

[1] **न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।**

इस का अर्थ युद्ध से उपरति नहीं है। गीता उस योगी की प्रशंसा करती है जो सब प्रकार से रहता हुआ भी एकत्व भावना में मग्न रहता है।

ज्ञानमार्ग और ज्ञानियों की प्रशंसा भी गीता ने मुक्तकंठ से की है।

गीता और ज्ञानमार्ग

ज्ञान से बढ़ कर पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है (न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते), ज्ञानाग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्मसात् कर देती है (ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन)। ज्ञानी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता-सूँघता-खाता हुआ, श्वास लेता हुआ और सोता हुआ हमेशा यह समझता है (या समझे) कि मैं कुछ नहीं करता; प्रकृति के तीन गुण ही सब कुछ कर रहे हैं। भक्तों में भगवान् को ज्ञानी भक्त सब से प्रिय हैं। 'सारी इच्छाओं को छोड़ कर ममता और अहंकार-रहित जो पुरुष घूमता है, वह शांति को प्राप्त होता है। यह ब्राह्मी स्थिति है, इसे प्राप्त होकर मनुष्य का मोह नष्ट हो जाता है' (५।८, २।७१, ७२)। लेकिन ऐसे निःस्पृह ज्ञानी को भी, गीता के मत में, कर्म-त्याग करने का अधिकार नहीं है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि उन्हें संसार में कुछ करना शेष नहीं है, कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी वे लोगों के सामने उदाहरण रखने के लिए लोक-संग्रहार्थ कर्म करते हैं।

कर्म करना चाहिए, इस के पक्ष में गीता ने अनेक युक्तियां दी हैं। पहली बात तो यह है कि अशेष कर्मों को छोड़ना संभव नहीं है (न हि कश्चित्क्षणमपि जातु, तिष्ठत्यकर्मकृत्,) क्षण भर के लिए भी कोई बिना कर्म किए नहीं रह सकता। प्रकृति के गुणों-द्वारा विवश होकर हरेक को कर्म करने पड़ते हैं (३।५)। कर्म के किए बिना जीवन की रक्षा या शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता। दूसरे, यदि सब कर्म करना छोड़ दें तो सृष्टि-चक्र का चलना बंद हो जाय। [1]'यज्ञ-सहित प्रजा को उत्पन्न कर के प्रजापति ने कहा—इस से तुम देवताओं को संतुष्ट करो और देवता तुम्हारी इच्छाएं पूर्ण करें। कर्म वेद से उत्पन्न हुए हैं, और वेद ब्रह्म से,

इस लिए सर्व-व्यापक ब्रह्म नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है। जो ब्रह्मा के प्रवर्तित इस चक्र का अनुसरण नहीं करता, वह पातकी है। जो सिर्फ़ अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप को ही खाते हैं।'[1]

जो यज्ञ से बचा हुआ भाग खाते हैं (यह तीसरा हेतु है) वे विद्वान् पापों से छूट जाते हैं। कृष्ण का निश्चित मत है कि—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (१८। ५)

अर्थात् यज्ञ, दान, तप, आदि कर्म नहीं छोड़ने चाहिए; यह कर्म विद्वानों को पवित्र करने वाले हैं। 'शरीर से, मन से, बुद्धि से, और सिर्फ़ इंद्रियों से भी योगी लोग, आसक्ति को त्याग कर, आत्म-शुद्ध के लिए कर्म करते हैं।[2] क्योंकि कर्म किए बिना रहना असंभव है, इस लिए चित्त-शुद्धि करने वाले यज्ञादि कर्तव्य कर्मों को नहीं छोड़ना चाहिए।'

शायद पाठक सोचने लगें कि 'यह तो ब्राह्मण-युग का पुनरुज्जीवन-हुआ;' पर वास्तव में गीतोक्त कर्मवाद और ब्राह्मणों के कर्मकांड में महत्व-पूर्ण भेद है। गीता को वेदों को लुभानेवाली (पुष्पिता) वाणी पसंद नहीं है। 'हे अर्जुन वेद त्रैगुण्य-विषयक हैं, तू तीनों गुणों का अतिक्रमण कर।'[3] चौथे अध्याय में कुछ यज्ञों का वर्णन किया गया है; जिन के करने में द्रव्य-पदार्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहां द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञादि का वर्णन है और अंत में कहा गया है कि द्रव्ययज्ञों से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। 'सारे कर्म ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं उस ज्ञान को तत्वदर्शियों से विनम्र होकर सीख।' (४। ३३-३४) इस प्रकार गीता ने यज्ञों की बहिर्मुखता को दूर करने का प्रयत्न किया है।

---

[1] ३।१०--१३

[2] २।४२, ४४

[3] ५।११

गीता भारतीय विचारकों के इस मूल सिद्धांत को मानती है कि 'कर्मों के फल से छुट्टी पाए बिना' मुक्ति नहीं हो सकती। लेकिन कर्मफल से छुटकारा किस प्रकार मिले, इस विषय में गीता का अपना मौलिक मत है। ज्ञानमार्ग के अवलंबन से कर्मफल से मुक्ति मिल सकती है, इस में कोई संदेह नहीं है। ज्ञान के सदृश पवित्र करनेवाला कुछ भी नहीं है। गीता ज्ञान की महत्ता को स्वीकार करती है, लेकिन उस के मत में—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्। (५।४)

'ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग या कर्मयोग को बालक ही भिन्न कहते हैं न कि विद्वान्। किसी एक में भी स्थित पुरुष दोनों के फल का लाभ करता है।' कर्मफल से छूटने के लिए कर्म को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः। (६।१)

"जो कर्मफल में आसक्ति त्याग कर कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी है, वही योगी है। अग्नि को न रखनेवाला क्रियाहीन कुछ भी नहीं है।' 'काम्य कर्मों के त्याग को ही विद्वान् लोग संन्यास कहते हैं; सब कर्मों के फल के त्याग को ही मनीषी त्याग बताते हैं।'[1] जो कर्म-फल को छोड़ देता है वही वास्तविक त्यागी है।[2] इसी लिए, भगवान् अर्जुन से कहते हैं :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि। (२।४७)

'कर्म में ही तेरा अधिकार हो फल में कभी नहीं; तुम कर्मफल का

---

[1] काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः। १८।२

[2] यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।

हेतु भी मत बनो, अकर्मण्यता में भी तुम्हारी आसक्ति न हो।' प्रोफ़ेसर हिरियन्ना के शब्दों में गीता कर्मों के त्याग के बदले कर्म में त्याग का उपदेश देती है।

निष्काम भाव से, फलासक्ति को त्याग कर, कर्म करने की यह शिक्षा ही गीता का मौलिक उपदेश है। ज्ञानमार्ग की तरह ही गीता ने इस उपदेश को भक्तिमार्ग से भी जोड़ दिया है। 'कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही तेरे लिए प्रमाण है' यह कह कर गीता ने शास्त्रों का सम्मान भी कर लिया है। यह गीता की सहिष्णुता और समन्वय की 'स्पिरिट' है।

भक्तिमार्ग

'फलासक्ति को छोड़ कर कर्तव्य कर्म करो' यह तो गीता का उपदेश है ही; परंतु इस से बढ़ कर भी गीता का अनुरोध है कि 'भगवान् को प्रसन्न करने के लिए, फलेच्छा को उन में अर्पण करके, कर्म करो।' पाठक देख सकते हैं कि इस भक्ति-भावना से साधक का जीवन एकदम सरस और रोचक हो उठता है। भगवान् को प्रसन्न करने की अभिलाषा से शून्य निष्काम जीवन निरुद्देश्य जीवन-सा प्रतीत होता है। शायद निरुद्देश्य जीवन व्यतीत करना मनुष्य की पुरुषार्थ-भावना के विपरीत है; उस में हृदय, बुद्धि, इच्छा-वृत्ति और संकल्प-वृत्ति दोनों के लिए स्थान नहीं है। भगवान् को प्रसन्न करने का उद्देश्य एक साथ ही जीवन को सार्थक, पवित्र और ऊँचा बनाने वाला है।

'मेरे ही लिए कर्म करनेवाला, आसक्ति-हीन, सब प्राणियों में वैर-रहित मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है।'[1] 'अर्जुन! तुम मुझ में ही अपना मन लगाओ, मेरी ही भक्ति करो, मेरे ही लिए यज्ञ करो, मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार मुझ में अपने को लगा कर और मुझ में

---

१ ११।५५

परायण होकर तुम मुझे ही प्राप्त होगे ।'[१] 'मेरा आश्रय लेने वाला पुरुष सारे कर्मों को करता हुआ भी मेरे अनुग्रह से शाश्वत पद को प्राप्त होता है ।'[२]

'हे अर्जुन सब धर्मों को त्याग कर तुम सिर्फ़ मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सारे दोषों (पापों) से मुक्त कर दूँगा, तुम सोच मत करो ।'[३]

'यदि तुम अहंकार का आश्रय लेकर, मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा मानते हो तो तुम्हारा यह निश्चय झूठा है; क्योंकि तुम्हारा क्षत्रिय-स्वभाव तुम्हें ज़बर्दस्ती युद्ध में प्रवृत्त कर देगा ।'[४]

जो मतवादी नहीं हैं और जिन की बुद्धि पक्षपात से दूषित नहीं है, उन के लिए गीता की शिक्षा जल-प्रपात की तरह उज्ज्वल और स्पष्ट है। गीताकार ने कहीं भी अपना आशय दुरूह बनाने की कोशिश नहीं की है । साहित्यिक दृष्टि से गीता की सब से बड़ी विशेषता उस की सीधी एवं स्वाभाविक व्यंजना-शैली और सहानुभूति-पूर्ण हृदय-स्पर्शिता है । गीता साधक को उपदेश ही नहीं देती, उस की कठिनाइयों से समवेदना भी प्रकट करती है । कृष्ण मानते हैं कि मन का निग्रह करना अत्यंत कठिन है। फिर भी गीताकार का स्वर आशावादी है । 'हे अर्जुन, अच्छे कर्म करनेवाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता,' 'इस धर्म का थोड़ा सा अनुष्ठान भी महान् भय से रक्षा करता है ।' गीता के वक्ता को सत्य और धर्म की शक्ति में पूर्ण विश्वास है। यह विश्वास पाठकों को शक्ति और उत्साह प्रदान करता है ।

गीता हिंदू धर्म और हिंदू दर्शन का प्रतिनिधि ग्रंथ है । हिंदू धर्म

---

१ ६ । ३४

२ १२ । ५६

३ १८ । ६६

४ १८ । ५६

की सब से बड़ी विशेषता, पर-मत-सहिष्णुता, गीता का भी विशेष गुण है। विविध मतवादों का समन्वय करना, संसार के सब सिद्धांतों में से सचाई का अंश ले लेना, यह हिंदू धर्म और हिंदू जाति का स्वभाव-सा रहा है। अपने इसी सुंदर स्वभाव के कारण, विदेशियों के अजस्त्र आक्रमण होते हुए भी, आज हिंदू जाति और हिंदू संस्कृति जीवित हैं। कोरे वाद-विवाद में न फँस कर हिंदू-मस्तिष्क ने हमेशा सत्य को पकड़ने की कोशिश की है। दार्शनिक चिंता हमारे लिए मनोविनोद की चीज़ नहीं है, वह हमारे जीवन का गंभीर उद्देश्य रहा है। महाभारत के विषय में कहा गया है कि 'जो इस में नहीं है वह कहीं नहीं है।' गीता के विषय में हम कह सकते हैं कि आर्यों के विचार-साहित्य में जो सुबोध और सुंदर है वह गीता में एकत्रित कर दिया गया है। आज हिंदू जाति की जाँग्रति के युग में यदि जनता में गीता के प्रति श्रद्धा और सम्मान बढ़े, तो आश्चर्य ही क्या है!

पाँचवां अध्याय

जैन-दर्शन

संदेहवाद का जंतु जब एक बार किसी युग के मस्तिष्क में घुस जाता है तो वह आसानी से बाहर नहीं निकलता। संशय के बादलों को हटाने के लिए मानव-बुद्धि के सूर्य को तपस्या करनी पड़ती है। भगवद्गीता ने आस्तिक विचार-धाराओं का समन्वय तो किया, किंतु संशयवादी नास्तिकों के हृदय को संतुष्ट करने का कोई उपाय नहीं किया। गीता में हम ईश्वर को न माननेवाले, जगत् को असत्य और अप्रतिष्ठित बतानेवाले नास्तिकों की कड़ी आलोचना पाते हैं। परंतु कोरी आलोचना या निंदा से संदेह-रोग के जंतु नष्ट नहीं हो जाते। रोगी की प्रेम-पूर्वक परिचर्या करने से ही उस का कुछ उपकार हो सकता है। खेद की बात है कि दार्शनिक इतिहास में संदेहवादियों के हृदय में छिपी हुई निराशा और दुख को समझनेवाले बिरले ही हुए हैं। गीताकार का विशाल हृदय भी नास्तिकों के प्रति क्षमाभाव धारण न कर सका। उन्हों ने 'संशयात्मा विनश्यति'—संदेह करनेवाला नष्ट हो जाता है—कह कर वैदिक-धर्म में विश्वास न रखनेवालों को सदा के लिए नरक में भेज दिया।

गीता में कट्टर कर्मकांडियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया पाई जाती है, फिर भी यज्ञों की निंदा गीता ने खुले शब्दों में नहीं की है। गीता में फला-सक्ति का ही तिरस्कार किया गया है न कि याज्ञिक क्रियाओं का। यह ठीक है कि गीता द्रव्य-यज्ञों को विशेष महत्व नहीं देती, परंतु वह उन की स्पष्ट निंदा भी नहीं करती। गीताकार के मस्तिष्क में यज्ञों की महत्ता के विषय में कुछ दुबिधा-सी है। जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म में वैदिक यज्ञ-विधानों के विरुद्ध यह प्रतिक्रिया संपूर्ण हो गई और उन्हों ने याज्ञिक हिंसा

का निश्चित स्वर में विरोध किया है। जहां जैन-दर्शन में हम आस्तिक विचारकों के केवल व्यावहारिक मत का विरोध पाते हैं, वहां बौद्ध-दशन में आर्यों के व्यावहारिक और तात्विक दोनों प्रकार के विचारों का रूपांतर हो गया है।

नास्तिक का अर्थ

हिंदुओं की परिभाषा में वेद को न माननेवाले को नास्तिक कहते हैं।[1] आजकल के प्रचलित अर्थ में ईश्वर की सत्ता में विश्वास न रखनेवाला नास्तिक कहलाता है। इन दोनों ही परिभाषाओं के अनुसार जैनी और बौद्ध लोग नास्तिक ठहरते हैं। परंतु दोनों ही धर्मों के विचारक अपने को नास्तिक कहलाना पसंद नहीं करते। इस लिए उन्हों ने नास्तिकता की एक तीसरी परिभाषा दी है—नास्तिक वह है जो परलोक को नहीं मानता, अथवा जो धर्माधर्म और कर्तव्याकर्तव्य के भेद में विश्वास नहीं रखता।

हम जैनियों और बौद्धों को घोर आस्तिकों और घोर नास्तिकों के बीच में रख सकते हैं। प्रश्न यह है कि आस्तिकों और जड़वादियों से भिन्न इस तीसरी श्रेणी के विचारकों का आविर्भाव क्यों हुआ? बात यह है कि कोरे संदेहवाद से मानव-मस्तिष्क बहुत काल तक संतुष्ट नहीं रह सकता। मनुष्य प्रयत्नशील प्राणी है और सफल प्रयत्न या पुरुषार्थ के लिए विश्वास का आधार चाहिए। किसी सत्य में विश्वास के बिना जीवन-यात्रा हो ही नहीं सकती। जीवित रहने के लिए प्रयत्न करने का अर्थ है कि हमें जीवन की महत्ता में विश्वास है, हम जीवन के 'मूल्य' को स्वीकार करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि जीवन की समस्याओं का हल मानव-बुद्धि नहीं कर सकती, विचार कर के हम किसी निश्चित सिद्धांत तक नहीं पहुँच सकते। इस लिए बौद्धिक ईमानदारी के लिए, हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि संदेहवाद ही दर्शनशास्त्र का अंतिम शब्द है। लेकिन हम बुद्धि-क्षेत्र अथवा दार्शनिक चिंतन में ईमानदार क्यों बनें? हम अपनी

---

[1] नास्तिको वेदनिंदकः। (मनुस्मृति)

पराजय को सचाई से क्यों स्वीकार कर लें ? क्या सचमुच बौद्धिक सचाई का कुछ मूल्य है, जिस के कारण हम उस की रक्षा का प्रयत्न करें ? घोर जड़वादी दर्शनों में इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिल सकता। एक बार यदि हम सत्यता का किसी रूप में आदर करने लगें तो हम जड़वाद की भूमि से निकल कर आत्मवाद की सीमा में आ जाते हैं और जड़-वादी न रह कर अध्यात्म-वादी बन जाते हैं। जैनियों और बौद्धों ने हिंदू-आस्तिकों का विरोध तो किया, किंतु वे चार्वाक की तरह जड़वादी न बन सके। विशेषतः जैनियों ने तो हिंदुओं के तात्विक विचारों को थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ ही स्वीकार कर लिया।

भगवान् महावीर

श्री महावीर का बचपन का नाम वर्धमान था। वे बुद्ध के समकालीन थे पर उन से पहले उत्पन्न हुए थे। वे ५९९ ई० पू० में पैदा हुए और ५२७ ई० पू० में दिवंगत हो गए। बुद्ध की तरह वे भी राजवंश के थे। वे अपनी शिक्षा को पार्श्वनाथ, ऋषभदेव आदि प्राचीन तीर्थंकरों के उपदेशों की आवृत्ति-मात्र बतलाते थे। पार्श्वनाथ की मृत्यु शायद ७७६ ई० पू० में हुई। ऋषभदेव का नाम ऋग्वेद और अथर्ववेद में आता है। यदि जैनियों का यह विश्वास कि उन का मत ऋषभदेव ने चलाया, ठीक है, तो सचमुच ही उन का मत वैदिक मत से कुछ ही कम प्राचीन है। भागवत पुराण जैनियों के इस विश्वास की पुष्टि करता है।[1]

जैनियों के दो संप्रदाय हैं, एक श्वेतांबर और दूसरा दिगंबर। दिगंबर लोगों का विश्वास है कि संन्यासियों को नग्न रहना चाहिए और किसी चीज़ का संग्रह नहीं करना चाहिए। वे तीर्थंकरों को नग्न और नीची दृष्टि किए हुए दिखलाते हैं। श्वेतांबरों के शास्त्रों को दिगंबर जैन नहीं मानते, यद्यपि दोनों में सैद्धांतिक मतभेद नहीं के बराबर हैं।

---

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० २८७

श्री महावीर ने किन्हीं शास्त्रों की रचना नहीं की। बहुत काल तक उन की शिक्षा लोगों के कंठ में रही। ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में जब उस शिक्षा का ह्रास होने लगा तो उसे लेखनी-बद्ध करने की आवश्यकता हुई। ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी के अंत में इसी उद्देश्य से पाटलिपुत्र में एक समिति हुई। इस समिति में जैन-साहित्य को संग्रहीत करने का प्रयत्न किया गया। किंतु जैनागम का अंतिम स्वरूप इस के लगभग ८०० वर्ष बाद वलभी में होने वाली समिति में ही निर्धारित हो सका।

जैन-साहित्य

श्वेतांबरों में चौरासी ग्रंथ पवित्र माने जाते हैं। उन में ४१ सूत्र ग्रंथ हैं, १ महाभाष्य, १२ निर्युक्तियाँ अथवा टीकायें और शेष प्रकीर्णक ग्रंथ हैं। ४१ सूत्रों में ११ अंग, १२ उपांग, ५ छेद, ५ मूल तथा ८ प्रकीर्ण हैं। ये सब ग्रंथ अर्द्ध-मागधी प्राकृत में हैं। ईसा के जन्म के बाद जैनियों में संस्कृत का अनुराग बढ़ने लगा और जैन-दर्शन के उत्तर ग्रंथ संस्कृत में ही लिखे गये।

जैनियों के दार्शनिक साहित्य बहुत विस्तृत हैं। आगम ग्रंथों के ऊपर बहुत से भाष्य तथा टीका ग्रंथ हैं। इस के अतिरिक्त जैन-सिद्धांतों के प्रतिपादक अनेक स्वतंत्र ग्रंथ तथा उन पर टीकायें हैं। स्वतंत्र ग्रंथों में सब से प्राचीन तथा महत्वपूर्ण ग्रंथ उमास्वाति का 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' है, जिसे श्वेतांबर और दिगंबर दोनों ही जैन संप्रदाय अपना आदरणीय ग्रंथ मानते हैं। दिगंबर लोग उमास्वाति को उमास्वामी के नाम से पुकारते हैं; इन का समय ईसा की तीसरी शताब्दी माना जाता है। 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' जैन-दर्शन के सिद्धांतों का भाण्डार समझा जाता है। उमास्वाति ने स्वयं उस पर भाष्य बनाया। इस के अतिरिक्त देवनंदि-कृत 'सर्वार्थसिद्धि', सिद्धसेन दिवाकर-कृत 'गन्धहस्तिभाष्य', अकलंक-कृत राज 'वार्तिक' तथा विद्यानंद-कृत 'श्लोक-वार्तिक' इस ग्रंथ के प्रामाणिक तथा प्रधान भाष्य और वृत्तियाँ हैं।

उमास्वाति के बाद सब मे अधिक उल्लेखनीय नाम कुंद कुंदाचार्य का है। उनके समय के विषय में मतभेद है। इनके रचे अनेक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, जिन में नियमसार, पँचास्ति कायसार, समयसार, प्रवचनसार, जैनागम के सर्वस्व माने जाते हैं। अंतिम तीन ग्रंथ जैन संप्रदाय में नाटकत्रयी कहलाते हैं और वेदांत की प्रस्थान-त्रयी के ही समान उन का आदर है। सिद्धसेन दिवाकर (छठी शताब्दी) कृत 'न्यायावतार' समंतभद्र-कृत आप्त मीमांसा' (सातवीं शताब्दी) प्रभाचंद्र-कृत 'प्रमेयकमल मार्तण्ड' (नवीं शताब्दी) हरिभद्र-कृत 'षड् दशन समुच्चय' (नवीं शताब्दी), हेमचंद्र-कृत 'प्रमाण मीमांसा' (१२वीं शताब्दी), नेमिचंद्र-कृत 'द्रव्यसंग्रह' (१२ वीं शताब्दी), देवसूरि-कृत 'प्रमाण नव तत्वालोकालंकार' (१२वीं शताब्दी) मल्लिषेण सूरि-कृत 'स्याद्वादमंजरी' (१३वीं शताब्दी), 'विमलदास-कृत 'सप्तभंगी तरंगिणी' जैन दर्शन के अन्य प्रख्यात ग्रंथ हैं।

जैनधर्म तथा अन्य दर्शन सर्वदर्शन संग्रहके लेखक का कथन है कि 'आस्त्रव' और 'संवर' जैन-दर्शन की मुख्य धारणायें हैं।[1] इस से जैन धर्म की व्यावहारिकता प्रकट होती है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा की तरह जैनी अनेक-जीववादी हैं, पर वे जीव या आत्मा को व्यापक नहीं मानते। उपनिषदों की भाँति उन का पुनर्जन्म में विश्वास है। बौद्धों की तरह वे अनीश्वरवादी हैं। बौद्धधर्म के समान ही जैनमत अहिंसा पर ज़ोर देता है। हिंसा से बचने की चेष्टा जितनी जैन लोग करते हैं उतनी कोई नहीं करता। चीन और जापान के बौद्ध भी मछली आदि खाना बुरा नहीं समझते। जैन-धर्म ने आर्यों की याज्ञिक हिंसा का तीव्र विरोध किया। बार्थ नामक विद्वान् का विचार

---

[1] आस्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपंचनम्॥

है कि गौतम बुद्ध और महावीर एक ही ऐतिहासिक पुरुष के नाम हैं।[1] दोनों का जीवन-वृत्त बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इसी प्रकार कुछ पंडितों ने सांख्य और जैन-दर्शन में बहुत साम्य पाया है। वास्तव में जैन-दर्शन का जीव न्याय-वैशेषिक की आत्मा से अधिक मिलता है, न कि सांख्य के पुरुष से। सांख्य का पुरुष वस्तुतः असंख्य और कर्तृत्व-हीन है। अन्य सिद्धांतों में भी सांख्य का पुरुष वस्तुतः असंख्य और कर्तृत्व-हीन है। अन्य सिद्धांतों में भी सांख्य और जैनमत में विशेष सादृश्य नहीं है। बुद्ध और महावीर को एक बनाने की कल्पना भी ऐतिहासिक सामग्री से सिद्ध नहीं होती। कभी-कभी पाश्चात्य विद्वान् भारतीय ऐतिहासिक पुरुषों और लेखकों के विषय में विचित्र कल्पनाएं करने लगते हैं। इतिहास को सरल बनाने की चेष्टा हास्यास्पद है।

जैनियों की ज्ञान मीमांसा

जैनियों के अनुसार चैतन्य प्रत्येक जीव का सार है। वह सूर्य के समान स्वयं प्रभासित होने वाला तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है। निसर्गतः प्रत्येक जीव अनंत-ज्ञान विशिष्ट है। किंतु कर्मों के आवरण के कारण जीव का अनंत-ज्ञानरूप बाधित रहता है। शरीर, इन्द्रियाँ और मनस् सब कर्म-कृत आवरण हैं जो जीव के ज्ञान को सीमित रखते हैं। सम्यक् चारित्र के अनुशीलन से जीव अपने अनंत-ज्ञान रूप को प्राप्त कर कैवल्य तथा सर्वज्ञता में प्रतिष्ठित हो सकता है। अन्य दर्शनों की भाँति जैन-दर्शन में भी ज्ञान दो प्रकार का माना गया है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। किंतु इन की जैन परिभाषायें नितांत भिन्न हैं। आत्मा को किसी की अपेक्षा के बिना प्राप्त होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय-मन आदि की सहायता से प्राप्त होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं 'परोक्ष' है। परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का है—मति और श्रुति। प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं—

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० २६०

अवधि, मनः पर्य्याय तथा केवल। ये सब मिला कर जैन दर्शन में बोधि-पंचक के नाम से प्रसिद्ध हैं।

१-मतिज्ञान—मन और इंद्रियों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'मति-ज्ञान' कहते हैं। स्मृति और प्रत्यभिज्ञा (पहले जाने हुये को पह-चानना) इस में सम्मिलित हैं। तर्क का भी इस में समावेश हो जाता है।

२ श्रुति-ज्ञान—शब्दों और संकेतों या चिह्नों द्वारा जो ज्ञान होता है उसे 'श्रुति-ज्ञान' कहते हैं। यह ज्ञान शास्त्रीय और अशास्त्रीय दो प्रकार का होता है।

३—अवधि—कर्म-बंधन के आंशिक नाश से प्राप्त दिव्य-दृष्टि से भूत भविष्य और वर्त्तमान वस्तुओं का प्रत्यक्ष बोध अवधि-ज्ञान है। अंग्रेज़ी में इसे 'क्लेयर वोयेन्स' कह सकते हैं। यह ज्ञान प्रत्यक्ष होते हुये भी सीमित होता है अत एव 'अवधि—ज्ञान' कहलाता है।

४—मनःपर्याय— पर-चित्त-ज्ञान के बाधक-रूप घृणा, ईर्ष्या आदि के नष्ट होने से प्राप्त होता है।

५—केवल-ज्ञान—ज्ञान के बाधक रूप समस्त कर्मों के पूर्ण नाश होने पर आत्मा में पूर्ण सर्वज्ञता का उदय होता है। इसे केवल-ज्ञान कहते हैं। यह मुक्त जीवों का ज्ञान है। मुक्त जीव का ज्ञान-परिच्छिन्न नहीं होता, मुक्त जीव होता है।

इन पाँच प्रकार के ज्ञानों में पहले तीनों में ग़लती और अपूर्णता का भय है। ये परोक्ष ज्ञान हैं और अपेक्षित साधनों के दोष के कारण दोषपूर्ण हो सकते हैं। अंतिम दो ज्ञान कभी मिथ्या या असफल नहीं होते, क्योंकि ये विशुद्ध आत्मा के साधनाऽनपेक्षित प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। जैनी लोग इंद्रिय-जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहते क्योंकि इंद्रिय-ज्ञान में आत्मा और विषय के बीच में व्यवधान आ जाता है। कुछ के मत में इंद्रिय-ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहना चाहिये। इस मत में इंद्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष भी हो सकते हैं।

'आउट लाइन आफ़ जैनिज़्म' का लेखक बतलाता है कि श्रुतिज्ञान (२८८+४८)=३३६ प्रकार का होता है, अवधिज्ञान छः प्रकार का और मनः पर्य्याय दो प्रकार का होता है। इस प्रकार का विस्तृत श्रेणी-विभाजन ज्ञान के प्रकारों के सूक्ष्म भेदों पर निर्भर है। हिंदी भाषा के दार्शनिकों को जैन-साहित्य से शब्द-कोश यथेष्ट मिल सकता है। हमारी जैन-विद्वानों से प्रार्थना है कि वे अपने साहित्य में से मनोविज्ञान और व्यवहार-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का संकलन करें।

'हमारा ज्ञान सत्य है' इस की परीक्षा कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर देना दर्शनशास्त्र की उस शाखा का काम है, जिसे संस्कृत में 'प्रामाण्यवाद' कहते हैं। इस का विशेष वर्णन हम आगे करेंगे। जिस ज्ञान को सत्य मान कर व्यवहार करने से सफलता हो उसे यथार्थ ज्ञान समझना चाहिये। ज्ञान की सत्यता की परख व्यावहारिक होनी चाहिए।[1] इस प्रकार जैनी लोग 'परतः प्रामाण्यवादी' हैं।

जैनियों का तत्वमीमांसा

संसार में सहस्रों वस्तुएं पाई जाती हैं। दर्शन-शास्त्र का उद्देश्य एक संकीर्ण क्षेत्रफल के पदार्थों को जानना नहीं है; दार्शनिक जिज्ञासा का विषय संपूर्ण ब्रह्मांड होता है। इस लिए प्राचीन काल से संसार के दार्शनिक गण विश्व के सारे पदर्थों को कुछ थोड़ी सी श्रेणियों में विभाजित करते आए हैं। सब से प्रसिद्ध श्रेणी-विभाग वैशेषिक दर्शन का है जिस के विषय में हम आगे पढ़ेंगे। जैन-दर्शन में विश्व के पदार्थों का वर्गीकरण जीव और अजीव में किया गया है। जड़ और चेतन, इन श्रेणियों के अंतर्गत संसार की सारी वस्तुएं आ जाती हैं।

परंतु जीव और अजीव के अतिरिक्त कुछ और तत्व भी हैं जिन का देश-काल से विशेष संबंध नहीं है। 'तत्वार्थाधिगमसूत्र' का लेखक सात

---

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० २९५।

तत्त्व बतलाता है जिन को जानने से ठीक बोध हो सकता है। वे सात तत्त्व यह हैं:—

जीवा-जीवास्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ।

अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इन में 'पाप' और 'पुण्य' को जोड़ देने पर जैनमत के नौ ज्ञेय पदार्थों की संख्या पूरी हो जाती है।[1] अब हम क्रमशः इन नौ पदर्थों का वर्णन करेंगे।

(१) जीव—चेतन द्रव्य को जीव कहते हैं। चैतन्य जीव का सार और लक्षण है। सभी जीवों में वह सदा वर्त्तमान रहता है, यद्यपि चैतन्य के परिमाण भेद से जीवों की भिन्न-भिन्न कोटियां हैं। मुक्त जीवों में वह अनंत होता है। बद्ध जीवों में कर्मावरण के कारण बन्धनानुरूप सीमित होता है। ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के परिमाण तारतम्य से जीवों के अनंत भेद हैं। जीव का कोई निश्चित परिमाण और आकार नहीं है। शरीर के साथ ही जीव का परिमाण घटता-बढ़ता रहता है। वही जीव चींटी के शरीर में घुसकर चींटी के बराबर हो जाता है और हाथी के शरीर में हाथी के बराबर। जीव में आकुंचन (सिकुड़ना) और प्रसारण (फैलना) हो सकते हैं। इस का अर्थ यह हुआ कि जीव एक सावयव पदार्थ है। अवयव के बदले जैनी लोग 'प्रदेश' शब्द का प्रयोग करते हैं। जीव प्रदेशवान् पदार्थ है। जैसे सर्प फन को उठा और सिकोड़ कर रह सकता है, वैसे ही जीव और उस के अनंत प्रदेशों का संबंध समझना चाहिए।[2]

न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि में जीव को व्यापक माना जाता है। मल्लिसेन-कृत 'स्याद्वादमंजरी' में इस मत का खंडन किया गया है।

---

[1] हरियन्ना. पृ० १७०

[2] 'स्याद्वादमंजरी', पृ०६३

आत्मा को व्यापक नहीं मानना चाहिए क्योंकि सर्वत्र आत्मा के गुणों की उपलब्धि नहीं होती।' गुण और गुणी अलग-अलग नहीं रह सकते। आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, इस लिए उस की उपस्थिति का अनुमान ज्ञान, चैतन्यादि गुणों से ही हो सकता है जो कि देह के बाहर नहीं पाए जाते। यही तक जीव के अणु-परिमाण का भी विरोधी है। संपूर्ण देह में जीव के गुणों की अभिव्यक्ति होती है, इस लिए जीव को देह के परिमाण का मानना चाहिए।

जीव अनंत हैं। चैतन्य उन का मुख्य गुण है। यह चैतन्य 'ज्ञान और 'दर्शन' में अभिव्यक्त होता है। मुक्तावस्था में जीव में अनंत बुद्धि और अनंत दर्शन वर्तमान होता है। शक्ति भी अनंत हो जाती है। मुक्त जीव को ही ईश्वर कहते हैं, इस प्रकार प्रत्येक जीव ईश्वर हो सकता है।

जैनी लोग जल, वायु आदि सब में जीव मानते हैं, जीवों का श्रेणी-विभाजन कई प्रकार से किया जा सकता है। कुछ जीव 'एकेंद्रिय' हैं, कुछ दो, तीन और चार इंद्रिय वाले; कुछ पंचेंद्रिय हैं। खनिज पदार्थों, धातुओं आदि में भी जीव हैं। सर्वत्र जीव या चेतना का आरोपण करने की इस प्रवृत्ति को अंग्रेज़ी में 'हाईलोज़ोइज़्म', कहते हैं। जैनियोंका यह सिद्धांत उन के मत की प्राचीनता और स्थूलता प्रकट करता है।

कुछ जीव पार्थिव शरीरवाले या 'पृथ्वीकाय' हैं, कुछ अप्-काय, कुछ वायु-काय और कुछ बनस्पति-काय। जीवों को बद्ध और मुक्त की श्रेणियों में भी बाँटा जा सकता है। बद्ध जीवों में कुछ को 'सिद्ध' कह सकते हैं और कुछ को असिद्ध। सिद्ध पुरुष को हिंदुओं का 'जीवन्मुक्त' या 'स्थितप्रज्ञ' समझना चाहिए।

ज्ञान जीव का गुण नहीं है बल्कि स्वरूप ही है। कर्म-पुद्गल के

---

[1] वही, पृ० ४

संयोग से उस की अभिव्यक्ति में विघ्न पड़ता है। जैनियों की 'कार्मीण वर्गणा' अन्य दर्शनों की अविद्या के तुल्य है। सब अंतरायों या विघ्नों के दूर हो जाने पर जीव का अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन स्फुटित हो उठता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिये किसी ईश्वर की सन्निधि या सहायता अपेक्षित नहीं है।

(२) अजीव—चैतन्य के अतिरिक्त संसार में दूसरी जड़-शक्ति है। अजीव या जड़ के जैनी लोग पांच विभाग करते हैं, अर्थात्, काल, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। इन में से काल को छोड़ कर शेष चार को 'अस्तिकाय', कहते हैं। 'अस्तिकाय' का अर्थ समझने के लिये हमें सत्यपदार्थ का लक्षण जानना चाहिये। उमास्वामी का कथन है:—

उत्पात-व्यय-ध्रौव्य युक्तंसत् ५। २९

अर्थात् जिस में उत्पत्ति, क्रमिक नाश और स्थिरता पाई जाय उसे 'सत्' कहते हैं। परिवर्तित होते रहना और परिवर्तन में एक प्रकार की स्थिरता (ध्रुवता) रखना यह अस्तित्ववान् पदार्थों का स्वभाव है। जैन-दर्शन के अनुसार स्थिरता और विनाश दोनों ही प्रत्येक वस्तु में रहते हैं। कोई भी वस्तु एकांत नित्य और एकांत अनित्य नहीं है। सभी वस्तुएं नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की हैं। 'प्रवचनसार' नामक ग्रंथ में लिखा है:—

ण भवो भंग विहीणो भंगो वा णात्थि संभव विहीणो
उत्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण। ८।

अर्थात् 'उत्पत्ति के बिना नाश और नाश के बिना उत्पत्ति संभव नहीं है। उत्पत्ति और नाश दोनों का आश्रय कोई ध्रुव (स्थिर) अर्थ या पदार्थ होना चाहिये।' एकांत नित्य पदार्थ में परिवर्तन संभव नहीं है और यदि पदार्थों को क्षणिक माना जाय तो 'परिवर्तित कौन होता है?' इस प्रश्न का उत्तर न बन पड़ेगा। जैनियों के मत में जीव भी एकांत नित्य नहीं है, अन्यथा उस में स्मरण, चिंतन आदि विकार न हो सकें।

अपरित्यक्त स्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम्
गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ।२।४
(प्रवचनसार, संस्कृत छाया)

'जो अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता और उत्पत्ति, व्यय तथा ध्रुवत्व (स्थिरता) से संबद्ध है उस गुण और पर्यायों सहित पदार्थ को 'द्रव्य' कहते हैं। मिट्टी द्रव्य है और घट, शराब आदि उस के पर्याय। अब हम 'अस्तिकाय' का लक्षण कर सकते हैं। सत् और सावयव (प्रदेश-वाले) पदार्थ को 'अस्तिकाय' कहते हैं। काल के अवयव नहीं हैं, इस लिये वह अस्तिकाय नहीं है। जीव भी ऊपर का लक्षण घटने के कारण, 'अस्तिकाय' है; जीव 'प्रदेशवाला' है। अब हम अजीव पदार्थों का संक्षिप्त और क्रमिक वर्णन देते हैं।

काल—यह अपौद्गलिक पदार्थ है। काल 'सत्' तो है पर 'अस्ति-काय' नहीं है क्यों कि यह एक निरवयव पदार्थ है। आपेक्षिक-काल को 'समय' कहते हैं जो घड़ी से मालूम पड़ता है।

आकाशास्तिकाय—इस से सब को अवकाश मिलता है। बिना आकाश के दीवार में कील नहीं ठोंकी जा सकती और न दीपक की किरणें अधंकार का भेदन ही कर सकती हैं। आकाश के जिस भाग में विश्वजगत् है उसे 'लोकाकाश' कहते हैं, उस से परे जो कुछ है वह 'अलोकाकाश' है। केवल आकाश गति का कारण नहीं है।

धर्मास्तिकाय—यह इंद्रिय-ग्राह्य नहीं है। जैन-दर्शन में धर्म का अर्थ 'पुण्यकर्मों का फल' नहीं है। धर्म सब प्रकार की गति और उन्नति का हेतु है। धर्म रूप, रस, गंध आदि गुणों से रहित है। यह अमूर्त और गतिहीन है। जैसे ऑक्सीजन के बिना कुछ जल नहीं सकता वैसे ही 'धर्मास्तिकाय' के बिना किसी पदार्थ में गति नहीं हो सकती।

अधर्मास्तिकाय—यह भी पापकर्मों या उन के फल का नाम नहीं है। वस्तुओं की स्थिति का कारण अधर्मास्तिकाय है।

Evidence of matter

पुद्गलास्तिकाय—भारतवर्ष में परमाणुवाद के सिद्धांत को जन्म देने का श्रेय जैन-दार्शनिकों को मिलना चाहिए। उपनिषदों में अणु शब्द का प्रयोग तो हुआ है (जैसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' में) किंतु परमाणुवाद नाम की कोई वस्तु उन में नहीं पाई जाती। वैशेषिक का परमाणुवाद शायद इतना पुराना नहीं है। जैनों और वैशेषिक के परमाणु वाद में भेद भी है। पुद्गल या जड़तत्व अंतिम विश्लेषण में परमाणुरूप है। यह परमाणु आदि-अंतहीन और नित्य हैं। परमाणु अमूर्त हैं, यद्यपि सब मूर्त पदार्थ उन्हीं से बनते हैं। पृथ्वी, जल, वायु आदि सब मूल में एक ही प्रकार के परमाणुओं के रूपांतर हैं। मुक्तजीवों को छोड़ कर किसी को परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। फिर भी हर एक परमाणु में रूप, रस, गंध, स्पर्श रहते हैं। भिन्न-भिन्न परमाणुओं में विभिन्न गुण अधिक अभिव्यक्ति पा जाते हैं जिस से उन में भेद हो जाता है। परमाणुओं के संयोग या मेल से ही संसार के सारे दृश्यमान पदार्थ बनते हैं। छोटे या बड़े किसी भी परमाणु-पुंज को 'स्कंध' कहते हैं। एक तत्व का दूसरे तत्व में रूपांतरित होना जैन-मत में संभव है। यह सिद्धांत आधुनिक विज्ञान के अनुकूल ही है। भौतिक जगत कुल मिला कर 'महास्कंध' कहलाता है।

कर्म भी जैनियों के मत में पुद्गल का सूक्ष्मरूप है। अच्छे-बुरे कर्म करने पर वैसे ही परमाणु जीव को लिपट जाते हैं जिन्हें कार्माण-वर्गणा कहते हैं। इस कर्म-पुद्गल से मुक्ति पाना ही जीवन का उद्देश्य है। कार्माण पुद्गल से आत्मा की ज्योति ढक जाती है और वह अज्ञान, मोह, दुर्बलता में फँस जाता है। अच्छे कर्म करने से धीरे-धीरे बुरे कर्मों का पुद्गल जीव को छोड़ देता है, अज्ञान का आवरण हटता है और जीव मुक्त हो जाता है।

जैन-दर्शन का 'पुद्गल' शब्द अंग्रेज़ी मैटर का ठीक अनुवाद है।

भविष्य के हिंदी लेखकों से प्रार्थना है कि वे इस शब्द को अपनाएं। 'पौद्‌गलिक' विशेषण भी सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

जीव और अजीव का वर्णन करने के बाद शेष पदार्थों का वर्णन कठिन नहीं है। वास्तव में जीव और अजीव का विभाग ही प्रधान है।

(३) आस्रव—जीव और अजीव में संबंध कर्म-पुद्‌गल के द्वारा होता है। जीव की ओर कर्म-परमाणुओं की गति को 'आस्रव' कहते हैं।

(४) बंध—जीव और कर्म के संयोग को 'बंध' कहते हैं।

(५) संवर—सम्यक् ज्ञान हो जाने पर नवीन कर्म उत्पन्न होना या कर्म-पुद्‌गल का जीव की ओर गतिमान होना बंद हो जाता है। इस दशा को 'संवर' कहते हैं।

(६) निर्जरा—धीरे-धीरे कर्म-परमाणुओं के जीव से छूटने को 'निर्जरा' कहते हैं। निर्जरा संवर का परिणाम है।

(७) मोक्ष—कर्म-पुद्‌गल से मुक्त हो जाने पर जीव वस्तुतः मुक्त हो जाता है। मुक्ति-दशा में जीव अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान और अनंत वीर्य से संपन्न हो जाता है।

(८) पाप—उन कर्मों को जिन से जीव का स्वाभाविक प्रकाशमय स्वरूप आच्छादित हो जाय, पाप कहते हैं।

(९) पुण्य जीव को मोक्ष की ओर ले जाने वाले कर्म पुण्य कहलाते हैं।

जैनों का व्यवहार-दर्शन

हिंदू शास्त्रों के समान जैन-दर्शन का उद्‌देश्य भी मोक्ष प्राप्त करना है। 'जिन' शब्द का अर्थ है जयी अर्थात् इंद्रियों को जीतने वाला, इस प्रकार 'जैन' शब्द से ही उक्त धर्म की व्यावहारिकता प्रकट होती है। जैनी लोग त्याग और संन्यास के जीवन को विशेष महत्त्व देते हैं। 'तत्वार्थसूत्र' के अनुसार—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः

'सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र या व्यवहार से

मोक्ष-प्राप्ति होती है। जैन-दर्शन का ज्ञान और उस में श्रद्धा आवश्यक है, लेकिन बिना चरित्र का सुधार किए कुछ नहीं हो सकता। अच्छे आचार वाला व्यक्ति किसी धर्म का भी क्यों न हो, उस का कल्याण ही होगा। इस प्रकार जैनी सच्चरित्रता और सहृदयता अथवा अहिंसा पर ज़ोर देते हैं। अहिंसा की शिक्षा (जो कि जैन-धर्म की विशेष शिक्षा है) अभावात्मक (निगेटिव) नहीं, भावात्मक है। समाज-सेवा करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। जैन लोग बड़े दानी होते हैं। दान, अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और त्याग जैन-शिक्षा के मुख्य अंग हैं। सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र जैनियों के त्रि-रत्न कहलाते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कर्मों का नाश किए बिना मुक्ति नहीं हो सकती। कर्म अनेक प्रकार के होते हैं। वे कर्म जिन पर आयु की लंबाई निर्भर होती है, आयुकर्म कहलाते हैं। इसी प्रकार गोत्रकर्मों पर किसी विशेष जाति में जन्म होना निर्भर है। सब प्रकार के कर्म मिल कर जीव का कर्म-शरीर या कार्माण-वर्गणा बनाते हैं। कुछ विशेष प्रकार के कर्मों का नष्ट करना ज़्यादा कठिन है। यह कर्म क्रमशः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय वर्गों के कर्म हैं। ज्ञानावरणीय कर्म वे हैं जो आत्मा के ज्ञानमय स्वरूप का तिरोधान करते हैं; दर्शनावरणीय कर्म हृदय में सत्य-ज्ञान का आभास नहीं होने देते। वेदनीय कर्म आत्मा के आनंद-स्वरूप को ढक कर सुख-दुख उत्पन्न करते हैं; मोहनीय कर्म मनुष्य को सच्ची श्रद्धा और विश्वास से रोकते तथा मन को अशांत रखते हैं। आत्मा की उन्नति को रोकनेवाले सब कर्म अंतराय कर्म कहलाते हैं। उपर्युक्त चार प्रकार के अंतराय कर्म 'घातीय कर्म' कहलाते हैं।

जैन-मत संन्यास पर ज़ोर देता है। संन्यासियों के लिए कड़े नियम हैं। जैन-साधु अपने पास कुछ नहीं रखते, भिक्षा करके निर्वाह करते हैं। प्रायः वे लोग विहारों में रहते हैं। भिक्षा माँगते समय जैन-साधु मुँह से नहीं बोलते और गृहस्थों को तंग नहीं करते। परंतु वे अपने प्रति बड़े

कठोर होते हैं। वे अपने हाथों से अपने बाल तक नोच डालते हैं। जहां जैन-धर्म अपने शरीर पर अत्याचार करने की शिक्षा देता है वहां वह दूसरों के प्रति दयालु होने का उपदेश भी करता है। यदि कोई स्त्री अपने बच्चे को खिला रही हो तो जैन-साधु उस से भिक्षा नहीं लेगा। अगर मां बच्चे को छोड़ कर उठना चाहे तो भी वह भिक्षा स्वीकार नहीं करेगा। बच्चे को रुलाने का कारण बनना पाप है। परंतु अपने शरीर पर जैन-साधु दया नहीं दिखाते। बाल नोचने के नाम से ही रोमांच हो जाता है। आत्मा और शरीर में तीव्र द्वंद्व मानने वाले दार्शनिक सिद्धांत का यह व्यावहारिक परिणाम है। जड़ प्रकृति हमारे हृदय को स्पर्श क्यों करती है, इस का कोई उत्तर जैन-दर्शन में नहीं मिल सकता। प्राकृतिक सौंदर्य मोह का कारण है, यह विश्वास हो जाने पर किसी प्रकार के साहित्य की सृष्टि संभव नहीं है।

गृहस्थों का धर्म है कि वे संन्यासियों का आदर करें और उन के उपदेशों से लाभ उठाएं। चरित्र शुद्ध रखने से कालांतर में गृहस्थ भी मुक्त हो सकता है। राजा भरत गृहस्थ होने पर भी मरने पर सीधे मुक्त हो गए। ऐसे जीव को 'गृहलिंगसिद्ध' कहते हैं। चरित्र जाति और वर्ण दोनों से बढ़ कर हैं, यह जैन-धर्म का श्लाघनीय सिद्धांत है। सच्चरित्र व्यक्ति किसी भी जाति, वर्ण या धर्म का हो, उस का कल्याण ही होगा।

जैनियों का अनीश्वरवाद

परमाणुवाद के अतिरिक्त जैनियों ने भारतीय तत्व-दर्शन को दो महत्व-पूर्ण विचार दिए हैं। पहला विचार ईश्वर के बिना सृष्टि की संभावना है। इस विचार का कुछ श्रेय नास्तिक (घोर नास्तिक) विचारकों को भी हो सकता है। जैन-मत में यह सृष्टि किसी की बनाई हुई नहीं है, अनादि काल से यों ही चली आती है। ईश्वर की कल्पना, कम से कम सृष्टि-रचना के लिए, अनावश्यक है। प्राकृतिक-तत्त्व निश्चित नियमों के आधीन हैं, जिन्हें ईश्वर भी नहीं बदल सकता। मल्लिसेन का कथन है:—

कर्त्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाक विडम्बनाः स्युः तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ।

—स्याद्‌वादमंजरी, श्लो० ६

अर्थात् 'जगत् का कोई कर्ता है और वह एक, सर्वव्यापक, स्वतंत्र और नित्य है, यह जैनेतर मत के लोगों का दुराग्रह मात्र है ।' ईश्वर को मानना अयुक्त है । सृष्टि से पहले ईश्वर के शरीर था या नहीं? यदि हां, तो वह किस का बनाया हुआ था; यदि नहीं, तो बिना हाथ-पैरों के ईश्वर ने सृष्टि-रचना कैसे की ? अशरीरी (शरीर-रहित) कर्ता को संसार में किसी ने नहीं देखा है । सृष्टि बनाने में ईश्वर का उद्देश्य भी क्या हो सकता है ? उद्देश्य की उपस्थिति अपूर्णता की द्योतक है । किसी कमी को पूरी करने के लिए ही हम प्रयत्न करते हैं । आस्तिकों के पूर्ण परमेश्वर को सृष्टि-रचना के प्रयत्न की आवश्यकता क्यों पड़ी ? नैयायिक लोग कहते हैं कि जगत् सावयव होने के कारण 'कार्य' है, इस लिए उस का कोई कर्ता होना चाहिए। परंतु जगत् का कार्य होना सिद्ध नहीं है । कार्य का लक्षण भी काल्पनिक है । फिर कर्ता शरीर-रहित नहीं देखा गया है । एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, दयालु ईश्वर से इस दुःखमय जगत् की सृष्टि क्यों हुई, यह समझ में नहीं आता । कर्मों का फल देने के लिए भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है । ईश्वर का शासन कर्मों की अपेक्षा से है, यह सिद्धांत ईश्वर की स्वतंत्रता भी छीन लेता है । जैन-मत में कर्म अपना फल आप ही दे लेता है । शराब पीनेवाला उन्मत्त हो जाता है और अपने किए का फल आप पा जाता है । कर्म-पुद्‌गल जीव को चिपट कर उसे बाँध देता है । लोगों के अच्छे-बुरे कर्मों का बही-खाता रखना ईश्वर के लिए श्लाघनीय काम नहीं मालूम होता । क्या ही अच्छा होता यदि आस्तिकों का ईश्वर करुणा करके सब को एक साथ मुक्त कर देता ! क्या ही अच्छी बात होती यदि आस्तिकों का सर्वज्ञ परमात्मा

मानव-जाति पर आनेवाली विपत्तियों से उसे आगाह कर देता, अथवा उन का निवारण कर देता !

स्याद्वाद

स्याद्वाद का सिद्धांत जैन-दर्शन की दूसरी महत्त्व पूर्ण देन है। वास्तव में इस सिद्धांत से परिचित हुये बिना जैनियों की ज्ञान-मीमांसा तथा तत्व-दर्शन ठीक से नहीं समझे जा सकते। स्याद्वाद की परिभाषा करते हुये 'स्याद्वाद मंजरी' के टीकाकार हेमचन्द्र कहते हैं—

स्याद्वादोऽनेकांतवादो नित्याऽनित्याद्यनेकधर्म शबलैक वस्त्वभ्यु-पगम इति यावत्।

अर्थात् स्याद्वाद अनेकांतवाद को कहते हैं। जिस के अनुसार एक ही वस्तु में नित्यता, अनित्यता आदि अनेक धर्मों (गुणों) की उपस्थिति मानी जाती है। प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक है (पृष्ठ१६६)।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वस्तु में न केवल अनंत धर्म होते हैं अपितु विरुद्ध धर्म भी हो सकते हैं। तत्व-मीमांसा में जैन-दर्शन अनेकवादी है, तात्विक पदार्थों की संख्या अनंत है। वह ज्ञान-मीमांसा में भी अनेकवादी है। सत्य एक नहीं, अनेक रूप है। हमारा प्रत्येक सत्य एकांगी है। अभिप्राय यह है कि हमारे सब कथन आंशिक सत्य होते हैं। एक दृष्टि से जो बात सत्य मालूम होती है वह दूसरी दृष्टि से मिथ्या भी हो सकती है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्म हैं, इसलिये उस का वर्णन किसी एक वाक्य अथवा अनेक वाक्यों में भी परिसमाप्त नहीं हो सकता। प्रत्येक ऐसा वर्णन वस्तु एक अंश या एक अंग को ही स्पष्ट करता है। वस्तु के एकांगी वर्णन को उस का पूर्ण वर्णन समझ लेना भ्रांति है। आंशिक या एकांगी ज्ञान की जैन-दर्शन में 'नय' संज्ञा है। इस प्रकार के ज्ञान के व्यंजक वाक्य भी 'नय' कहलाते हैं।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं। कि प्रत्येक कथन की सत्यता आपेक्षिक है। प्रत्येक कथन कुछ विशिष्ट दशाओं की अपेक्षा से ही

सत्य होता है। कोई भी वाक्य ऐसे सत्य को प्रकट नहीं करता जो सदैव, सब दशाओं में वस्तु को लागू हो। अत एव जैन विचारकों की सम्मति है कि प्रत्येक वाक्य को 'स्यात्' (कदाचित् अथवा किसी अपेक्षा से) से विशेषित कर देना चाहिये। 'घट है' यह कथन भ्रामक हो सकता है; 'घट है' यह पूर्ण या निरपेक्ष सत्य नहीं है, वह सब दशाओं में सत्य नहीं है। क्योंकि उक्त कथन अपेक्षा विशेष से ही सत्य है, इस लिये ठीक वाक्य इस प्रकार होगा—स्यादस्ति घटः कदाचित् अथवा किसी अपेक्षा से घट है। इसी प्रकार घट का असद्भाव या अभाव कथन करते समय भी 'स्यात्' या कदाचित् जोड़ना चाहिये।

तर्क-शास्त्र में वाक्यों को दो वर्गों में बाँटा जाता है—भावात्मक (अफ़र्मेटिव) और अभावात्मक (निगेटिव)। किंतु जैन तर्क-शास्त्री वाक्यों में सात प्रकार का गुणात्मक भेद करते हैं; ये सात प्रकार 'स्यात्' जोड़ने से प्राप्त होते हैं। जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है। 'स्यात्' अथवा कदाचित् विशेषण यह प्रकट करता है कि वाक्य विशेष की सत्यता आपेक्षिक है। कथन के इन सात प्रकारों को समुदाय रूप में 'सप्तभंगी' कहते हैं। सप्तभंगी का शाब्दिक अर्थ है सात भंगों का समूह जो इस प्रकार हैं—

१—स्यादस्ति (कदाचित् घट है)

२—स्यान्नास्ति (कदाचित घट नहीं है)

३—स्यादस्ति च नास्ति च (कदाचित् घट है और कदाचित् घट नहीं है)

४—स्यादवक्तव्यः (कदाचित् घट अवक्तव्य है)

५—स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च (कदाचित् घट है और अवक्तव्य है)

६—स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च (कदाचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है)

७—स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च (कदाचित् घट है, कदाचित् नहीं है, और अवक्तव्य है)

अपने द्रव्य, स्वभाव और देश-काल के दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु 'है', घट की सत्ता है। दूसरे पदार्थों के द्रव्य, स्वभावादि की अपेक्षा से कोई वस्तु भी 'नहीं है', घट असत् है। एक ही पदार्थ घट रूप से 'सत्' है और पट-रूप से 'असत्' है। इसी प्रकार सारी वस्तुयें सदसदात्मक हैं। यह पहले तीन भंगों का अभिप्राय है।

पकाने से पहले 'घट' का एक रंग होता है और पकने के बाद दूसरा; परिस्थितियों के अनुसार रंग बदलता है। हम 'घट' का कोई ऐसा रंग नहीं बता सकते जो सदैव उस में रहता है। निरपेक्ष रूप में घट का कोई रंग ही नहीं है। इसी लिये उसे 'अवक्तव्य' कहना चाहिये। यह चौथे भंग का अभिप्राय है। प्रारंभ के तीन वाक्यों में अवक्तव्य जोड़ देने से अंतिम तीन भंग बन जाते हैं।

स्याद्वाद को समझाने के लिये जैन-लेखक एक रोचक उदाहरण देते हैं। कुछ अंधे जिज्ञासा से पीड़ित होकर हाथी को देखने गये। किसी ने पूँछ पकड़ कर कहा कि हाथी रस्सी के समान है; किसी ने टाँगें टटोल कर कहा कि हाथी तो खंभे की तरह होता है। तीसरे ने कान छूकर उसे पंखे के तुल्य बताया। यही दशा दार्शनिकवादियों की है। वेदांती कहते हैं कि तत्व पदार्थ ध्रुव और नित्य है; उस में परिवर्त्तन या विकार हो ही नहीं सकता; इस के विपरीत बौद्धों के मत में सब वस्तुयें क्षणिक हैं और तत्व निरंतर परिवर्त्तन शील है। जैनी कहते हैं—इन दोनों सिद्धांतों में सच्चाई है किंतु आंशिक; सत् पदार्थ में ध्रुवता भी रहती है एवं उत्पत्ति तथा व्यय भी (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्)। उत्पत्ति के विना नाश नहीं और नाश के बिना उत्पत्ति नहीं। यदि हम द्रव्य की दृष्टि से देखें तो वस्तु स्थिर है और यदि हम पर्य्यायों की दृष्टि से देखें तो वस्तु विकृत होती है। द्रव्य स्थिर और निर्विकार रहता है, पर्य्याय बदलते

रहते हैं इस प्रकार परिवर्तन और ध्रुवता या स्थिरता साथ साथ पाये जाते हैं। इन दोनों बातों को साथ-साथ जानना 'नय-निश्चय' है और एक का अलग-अलग ज्ञान ''नयाभास' है। किसी वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझने के लिये हमें उसे समस्त संभव दृष्टिकोणों से देखकर 'नय-निश्चय' करना चाहिये। एक प्राचीन जैन विचारक के अनुसार—

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥'

अर्थात् "जिस में एक पदार्थ को सब दृष्टियों से देख लिया है उस ने सब पदार्थों को सब प्रकार देख लिया। जिस ने सब प्रकार से सब भावों को देखा है वही एक भाव या पदार्थ को पूर्णतया जानता है।"

इस श्लोक को 'स्याद्वादमंजरी' के टीकाकार हेमचंद्र ने उद्धृत किया है। (पृष्ठ-११२ बंबई संस्करण); प्रोफ़ेसर हिरियन्ना के अनुसार गुणरत्न ने भी उक्त श्लोक को उद्धृत किया है।[1] यदि वास्तव में अनेकांतवाद का यही अर्थ है तो उस की अनेकवादी तत्व-मीमांसा से संगति बिठाना कठिन है। एक अद्वैतवादी दर्शनपद्धति ही जो विश्व के समस्त पदार्थों को एक रहस्यमय सूत्र में पिरोया हुआ मानती है, ज्ञान के संबंध में उक्त पद्य का समर्थन कर सकती है। किंतु जैन-दर्शन अनेकवादी है; विभिन्न वास्तविकताओं में घनिष्ट आंतरिक संबंध मानना उस की दार्शनिक स्थिति के विरुद्ध है। वह उपनिषद् की भांति यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि 'एक के जानने से सब कुछ जान लिया जाता है'? वास्तव में तो जैन-दर्शन को ज्ञान-मीमांसा में भी घोर अनेकवादी होना चाहिये था। आधुनिक यथार्थवाद की प्रवृत्ति भी कुछ-कुछ इसी ओर है।

---

[1] 'आउट लाइंस ऑफ़ इंडियन फिलॉसफ़ी' पृष्ठ-१७१-पादटिप्पणी

जैन-धर्म के जीवन-संबंधी विचारों, अनीश्वरवाद और स्याद्वाद सभी की आलोचना हिंदू दार्शनिकों द्वारा की गई है। बौद्धों और जैनो में भी काफ़ी संघर्ष चला था। जैन-धर्म का यह सिद्धांत कि पृथ्वी, जल आदि के प्रत्येक परमाणु में जीव है, उन्हीं के विरुद्ध पड़ता है। यदि सब जड़ जगत् जीवमय है तो जड़ और चेतन के बीच ऐसी गहरी खाईं खोदने की क्या ज़रूरत है? दूसरे, जीव के परिमाण में परिवर्तन मानना ठीक नहीं जँचता; इस से जीव अनित्य हो जायगा और कर्म-सिद्धांत में बाधा पड़ेगी। वास्तव में चैतन्य को आकाश में रहनेवाला या अवकाश घेरनेवाला कहना ही असंगत है। यह ज़रूरी नहीं है कि सब चीज़ें अवकाश या जगह घेरें। झूठ, सत्य, ईर्ष्या, द्वेष, सुख, दुःख, आदि पदार्थ अवकाश में या देश में रहने वाले नहीं हैं। जीव भी ऐसा पदार्थ हो सकता है।

आलोचना

जैन लोग परमाणुओं में आंतरिक भेद नहीं मानते। फिर एक परमाणु का दूसरे से भेद किस प्रकार होगा? क्या सांख्य की प्रकृति के समान एक जड़-तत्व को मानने से काम नहीं चल सकता?

इसी प्रकार जैन-दर्शन में जीव भी सब एक ही प्रकार के हैं। कर्म-शरीरों के नष्ट हो जाने पर सब जीव एक-से रह जायेंगे। हम पूछते हैं कि एक ही चेतन-तत्व को मानना यथेष्ट क्यों नहीं है? करोड़ों जीवों में जो प्रवृत्तियों की एकता पाई जाती है उस का कारण चैतन्य की एकता के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता।

जड़ और चेतन को सर्वथा भिन्न मानने पर उन में संबंध नहीं हो सकता।[1] संबंध एक ही श्रेणी के पदार्थों में हो सकता है अथवा एक बड़ी श्रेणी के अंतर्गत छोटी श्रेणियों में। दो गज़ और दो मिनिट में कोई संबंध क्यों नहीं दीखता? क्योंकि हमारी बुद्धि उन दोनों को एक बड़ी

[1] देखिये भाग २, योगवाशिष्ठ-प्रकरण।

श्रेणी या जाति के अंतर्गत नहीं ला सकती। इस लिए जड़ और चेतन का घोर द्वैत ज्ञान की, जो कि जीव और जड़ का संबंध-विशेष है, संभावना को नष्ट कर देता है। इस युक्ति के विषय में हम आगे लिखेंगे। 'जीवज्ञान-स्वरूप है' और 'जीव अपने से भिन्न जगत् को जानता है' यह दोनों विरोधी सिद्धांत हैं।

यदि हमारा ज्ञान संभावना-मात्र है, निश्चित नहीं है, तो जैन लोगों को ईश्वर की असत्ता में इतना दृढ़ विश्वास कैसे हुआ? शंकर और रामानुज दोनों बतलाते हैं कि एक ही पदार्थ को सत् और असत्, 'है' और 'नहीं है' कह कर वर्णित नहीं किया जा सकता। वस्तु में विरोधी गुण नहीं रह सकते। इस लिए स्याद्वाद या सप्तभंगी न्याय ठीक सिद्धांत नहीं है।

स्याद्वाद में सत्यता का कुछ अंश अवश्य है और वह अंश जैनियों की सिद्धांतवादिता (डॉग्मेटिज़्म) का विरोधी है।

अध्याय ६

भगवान् बुद्ध और आरंभिक बौद्धधर्म

विभिन्न आस्तिक विचारकों के तत्वदर्शन-संबंधी पक्षपात और तात्विक विचारों के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया शुरु हुई थी उस की परिसमाप्ति भगवान् बुद्ध की शिक्षा में हुई। जैनियों की प्रतिक्रिया वेदों की अपौरुषेयता, ईश्वरवाद और यज्ञ-विधानों तक ही सीमित रही थी। बौद्ध-धर्म ने उपनिषदों के आत्मवाद को स्वीकार करने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। सांसारिक सुखों और जीवन की क्षण-भंगुरता से प्रभावित होकर बौद्ध-लोगों ने विश्व-तत्त्व की स्थिरता में विश्वास छोड़ दिया। अपने जीवन में जिसे हम पकड़ ही नहीं सकते, मानसिक और भौतिक जगत् में जिस का चिह्न भी नहीं मिलता, उस कल्पित स्थिर तत्त्व के विषय में चिंतन करने से क्या लाभ? तत्त्वदर्शन की कल्पित समस्याओं में उलझ कर मनुष्य अपने जीवन की प्रत्यक्ष समस्याओं को भूल जाते हैं और उन का नैतिक पतन होने लगता है। इस नैतिक पतन से आर्यजाति को बचाने के लिए भगवान् बुद्ध का आविर्भाव हुआ।

आरंभिक बौद्ध-धर्म और उस के बाद के स्वरूप में काफ़ी भेद है।

साहित्य

आरंभिक बौद्ध-धर्म में व्यावहारिक विचारों की प्रधानता है, परंतु उत्तरकालीन बौद्धों में भारतीय मस्तिष्क का दार्शनिक पक्षपात फिर प्रकट होने लगता है। बौद्धों के चार प्रसिद्ध दार्शनिक संप्रदाय अर्थात् सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक बाद की चीज़ हैं। आरंभिक बौद्ध-धर्म में इस प्रकार का विचार-वैषम्य नहीं पाया जाता। बुद्ध ने कोई पुस्तक नहीं लिखी, उन के उपदेश मौखिक ही होते थे। उन की मृत्यु के बाद उन की शिक्षाओं

को पुस्तक-बद्ध किया गया। बुद्ध की शिक्षाएं पाली-ग्रंथों में संगृहीत हैं जिन्हें 'पिटक' कहते हैं। 'पिटक' का अर्थ है पिटारी। 'त्रिपिटक' भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं की पिटारियां हैं। इन का समय तीसरी शताब्दी ई० पू० समझना चाहिए। तीन पिटकों के नाम 'सुत्तपिटक' अभिधम्मपिटक' और 'विनयपिटक' हैं। 'सुत्तपिटक' भगवान् बुद्ध के व्याख्यानों और संवादों का संग्रह है। बौद्धधर्म के प्रसिद्ध पंडित रिज़ डेविड्स् ने बुद्ध के संवादों की तुलना प्लेटो के संवाद-ग्रंथों से की है।

'सुत्तपिक' पाँच निकायों में विभक्त है। इन्हीं में से एक का नाम 'खुद्दकनिकाय' है जिस का एक भाग बौद्धों की गीता, 'धम्मपद,' है। शेष चार निकायों के नाम 'दीग्घनिकाय,' 'मज्झिमनिकाय', 'संयुत्त-निकाय' और 'अंगुत्तरनिकाय' हैं। बुद्ध के दार्शनिक उपदेश मुख्यतः 'सुत्तपिटक' में ही पाए जाते हैं। दूसरा 'विनयपिटक' है जिस में भिक्षुओं की जीवन-चर्या आदि की शिक्षा है। तीसरे अभिधम्मपिटक' में बुद्ध के मनोविज्ञान और व्यवहारशास्त्र-संबंधी विचारों का संग्रह है। बौद्ध-धर्म की प्राचीन पुस्तकों में 'मिलिंदपन्हो,' अथवा 'मिलिंदप्रश्न' का भी सन्निवेश करते हैं। इस ग्रंथ में बौद्ध-शिक्षक नागसेन और यूनानी राजा मिनेंडर या मिलिंद के संवाद का वर्णन है।

बुद्ध का जीवन

भगवान् बुद्ध का जन्म लगभग ५५७ ई० पू० में शाक्यवंश के शुद्धोधन के घर में हुआ। उन के माता-पिता का दिया हुआ नाम सिद्धार्थ और गोत्र का गोतम था। कपिलवस्तु के राज्य के वे युवराज थे। वे माता-पिता के बड़े दुलारे पुत्र थे। बड़े होने पर उन का विवाह राजवंश की एक सुंदर कन्या यशोधरा के साथ कर दिया गया जिस से उन के राहुल नाम का एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। सिद्धार्थ बचपन से ही बड़े विचारशील थे। जीवन की क्षणभंगुरता के विषय में वे प्रायः सोचा करते थे। दो-एक बार शहर में घूमते हुए उन्हों ने कुछ रोग, अवस्था और अन्य प्रकार से पीड़ित

मनुष्यों को देखा। दाह-संस्कार के लिये ले जाए जाने वाले कुछ शवों पर भी उन की दृष्टि गई। उन्हों ने सारथि से पूछा—यह इस प्रकार बाँध कर इस पुरुष को कहां लिये जा रहे हैं? सारथि ने जो उत्तर दिया उसे सुन कर लाड़-प्यार में पले हुए जीवन के क्लेशों से अनभिज्ञ कुमार के कोमल हृदय को मर्मांतिक वेदना हुई। अब उन्हों ने जीवन को और भी निकट से देखना आरंभ कर दिया। उस में उन्हें दरिद्रता, निराशा और दुःख के अतिरिक्त कुछ भी न मिला। लोगों की स्वार्थ-परता को देख कर उन्हें और भी क्लेश हुआ। उन का जीवन और भी गंभीर हो गया और वे रात-दिन संसार का दुःख दूर करने की चिंता में निमग्न रहने लगे। एक दिन आधी रात को वे अपनी प्रिय-पत्नी यशोधरा और नवजात-शिशु राहुल को छोड़ कर निकल गए। संसार के सुख क्षणिक हैं; शरीर को एक दिन वृद्ध होकर मरना ही पड़ेगा। फिर जीवन की आकर्षक मृग-मरीचिका में फँसने से क्या लाभ?

बुद्ध विद्वान् थे। उन्हों ने अपने युग की आस्तिक और नास्तिक विचार-धाराओं से परिचय प्राप्त किया था। गृह-त्याग के बाद चित्त को शांति देने के लिए उन्हों ने विभिन्न मतों के शिक्षकों के पास जा-कर उन के विचारों को समझने की बड़ी चेष्टा की परंतु उन की बुद्धि को संतोष नहीं हो सका। प्रतिभाशाली विचारक दार्शनिक समस्याओं के पिछले, एकांगी और सांप्रदायिक समाधानों से संतुष्ट नहीं हो सकते। विभिन्न मतवादियों ने आत्मिक कल्याण के लिए जो मार्ग बतलाए उन से भी उन्हें संतोष न मिल सका। उन्हों ने शरीर को कष्ट दिया, कृच्छ्र-उपवास आदि किये तथा शीतोष्ण सह कर अन्य तपस्याएं भी कीं। किंतु कहीं प्रकाश नहीं मिला। जीवन की उलझनों के सुलझाने का कोई उपाय नहीं सूझा। संदेह और जिज्ञासा से पीड़ित हृदय को सांत्वना नहीं मिली। बुद्ध मत-वादों से विरक्त हो गए; आस्तिक

और नास्तिक सब प्रकार के दर्शनों से उन का विश्वास उठ गया। उन्हें विश्वास हो गया कि आत्म-शुद्धि द्वारा सत्य की खोज अकेले ही करनी होगी। वे आकाश की खोज में निर्जन वन-प्रदेशों में घूमने लगे। कभी-कभी राजकीय सुखों की याद आती थी, यशोधरा का स्मरण होता था। परंतु वैयक्तिक जीवन की बाधाओं को दूर किये बिना वे संसार का हित-साधना कैसे कर सकते थे? एक बार बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानमग्न बुद्ध को कामदेव ने अपने अनुचरों सहित घेर लिया। क्षण-भर के लिए वे विचलित हो गये। परंतु शीघ्र ही शाक्यसिंह ने अपने को सँभाल लिया और उन्हों ने अपने को बाद को दिए गए 'शाक्यमुनि' नाम का अधिकारी सिद्ध कर दिया। उसी वृक्ष के नीचे अनवरत धैर्य से साधना कर के उन्हों ने जीवन के सत्य का दर्शन किया। उन्हों ने 'बोध' या तत्व-ज्ञान प्राप्त किया और सिद्धार्थ गौतम से 'बुद्ध' बन गए। जिस सत्य को उन्हों ने देखा और प्राप्त किया था, जगत् और जीवन के विषय में जो उन में नई धारणा उत्पन्न हुई थी, उसे सर्व-साधारण में वितरित कर देना ही उन के अवशिष्ट जीवन का ध्येय बन गया।

बुद्ध-कालीन भारत

कवि की तरह दार्शनिक भी अपने युग की प्रवृत्तियों का परिचय देता है। प्रत्येक दार्शनिक-सिद्धांत पर कुछ न कुछ समय की छाप रहती है। बुद्ध जी के आविर्भाव के समय भारतवर्ष जीवन के सारे अंगों में विच्छिन्न हो रहा था, उस समय कोई एक बड़ा साम्राज्य न था, देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। संस्कृत पवित्र मानी जाती थी पर बोलचाल की भाषा बहुत थी। षड्दर्शनों का विकाश नहीं हो पाया था, यद्यपि वायुमंडल में उन के आविष्कार की योजना हो रही थी। जैसा कि चौथे अध्याय के प्रारंभ में कहा जा चुका है, जैन और बौद्ध-दर्शन के उदय और गीता के समन्वय से पहले भारतवर्ष की उर्वरा-भूमि में अनेक

विचार-स्रोत प्रवाहित हो रहे थे। दार्शनिक क्षेत्र में हलचल मची हुई थी। जितने विचारक थे, उतने ही मत थे। लोगों के मस्तिष्क में संदेह के कीटाणु भर चुके थे। ख़ूब वाद-विवाद होता था। लंबे शास्त्रार्थों का परिणाम जनता की दृष्टि में शून्य ही होता था। सैकड़ों तरह की बातें होती थीं, आत्मा-परमात्मा के विषय में तरह-तरह की कल्पनाएं और अनुमान लड़ाए जाते थे जिन से साधारण जनता को कुछ भी प्रकाश नहीं मिलता था। विचार-क्षेत्र में पूरी अराजकता थी।

लोगों के व्यावहारिक अथवा नैतिक जीवन पर इस का बुरा प्रभाव पड़ा। बुद्धि-जगत् की अराजकता और अनिश्चयवादिता व्यावहारिक जगत् में प्रतिफलित होने लगी। आचार-शास्त्र के नियमों से लोगों की आस्था उठने लगी। तार्किक वाद-विवाद में फँस कर लोग जीवन के कर्तव्यों को भूलने लगे। बुद्ध के हृदय में बाल की खाल निकालने वाले अकर्मण्य दार्शनिकों के प्रति विद्रोह का भाव जागृत हो गया। अपने समय के जन-समाज का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके क्रांतिदर्शी बुद्ध ने यही परिणाम निकाला कि जीवन से परे आत्मा, परमात्मा जैसी वस्तुओं के विषय में व्यर्थ की बहस करना जीवन के अमूल्य क्षणों को बे-मोल बेच डालना है। जो हमारे वश की बात है अर्थात् अपने आचरण को शुद्ध बनाना, उसे न कर के यदि हम व्यर्थ के वाद-विवाद में फँस जाँय तो हमें शांति कैसे मिल सकती है? बुद्ध की शिक्षा में हम मनोविज्ञान पा सकते हैं, तर्क-शास्त्र और व्यवहार-शास्त्र पा सकते हैं, लेकिन उस में तत्व-दर्शन के लिए स्थान कम है।

उस समय के लोगों का व्यावहारिक जीवन बुद्ध के कोमल हृदय को निराश करनेवाला था। भगवद्गीता और उपनिषदों के नैष्कर्म्य के आदर्श को माननेवाले पुरुष लगभग नहीं थे। ब्राह्मण-काल की स्वार्थपूर्ण यज्ञ-निष्ठता यथेष्ठ मात्रा में वर्तमान थी। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए

पशुओं का बलिदान किया जाता था। यज्ञ की हिंसा, हिंसा नहीं समझी जाती थी। हिंसा ईश्वर-भक्ति का अंग थी। बुद्ध ने ऐसे ईश्वर को मानने से इन्कार कर दिया। जो ईश्वरवाद हमें अंध-विश्वासों में फँसाता है, जो हमें प्रलोभनों से प्रेम करना सिखाता है; जो प्राकृतिक नियमों को देखने की शक्ति छीन लेता है; जो आत्मिक उन्नति के लिए हमें पर-मुखापेक्षी बना देता है जो प्रयत्नशीलता या पुरुषार्थ से रोकता है, जो पशुओं के रक्त पर पवित्रता की मुहर लगा देता है; उस ईश्वरवाद को दूर से ही प्रणाम है। कर्मफल का निर्णय करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, उस के लिए कर्म सिद्धांत ही क़ाफ़ी हैं। हिंसा का विधान करने वाले वेद किसी प्रकार भी पवित्र या प्रामाण्य ग्रंथ नहीं हो सकते। जो देवता हिंसा चाहते हैं, उन्हें देवता कहना विडंबना है।

बौद्ध धर्म और उपनिषद्

उस समय के आस्तिक हिंदुओं को भगवान् बुद्ध वेदों और वेदोक्त धर्म के मूर्तिमान विरोध दिखलाई दिए। कुछ आधुनिक विद्वानों का भी मत है कि बौद्ध-धर्म सर्वथा भारतीय मालूम पड़ता है। लेकिन ऐसा समझना अपनी ऐतिहासिक अनभिज्ञता का परिचय देना है। यदि बौद्ध-धर्म का जन्म और विकास भारतवर्ष में हुआ तो वह 'अभारतीय' कैसे कहा जा सकता है? जिस धर्म ने लगभग एक हज़ार वर्ष तक भारत के हज़ारों मनुष्यों के हृदयों पर शासन किया, उसे भारतीय चीज़ न समझना आश्चर्य की बात है। विदेशी विद्वान् भारत को नैतिक चिंतन का श्रेय नहीं देना चाहते। वस्तुतः बुद्ध के विचारों में ऐसी कोई बात नहीं है जो इन्हें भारतीय कहलाने से वंचित रख सके। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म दोनों ही के बीज उपनिषदों में विद्यमान हैं। उपनिषदों के व्यावहारिक संकेतों का विकसित रूप ही बौद्धधर्म है। उपनिषद् कहते हैं—'जो सब भूतों को आत्मा में देखता है और सब भूतों में आत्मा को, वह किसी से घृणा

नहीं करता।'[1] बौद्धधर्म ने भी विश्वप्रेम की शिक्षा दी लेकिन उस का दार्शनिक आधार इतना स्पष्ट नहीं है। बौद्धधर्म की शिक्षा है कि—

यदा मम परेषां च अयं दुःखं च न प्रियम्।
तदात्मनः को विशेषो यत्त रक्षामि नेतरम्॥[2]

'भय और दुःख मेरे समान ही दूसरों को भी प्रिय नहीं हैं। फिर मुझ में ऐसी कौन सी विशेषता है जिस के कारण मैं उन से अपनी ही रक्षा करुं दूसरों की नहीं?' बुद्ध के मत में संसार के प्राणियों को एकता के सूत्र में बाँधनेवाले वेदना के तंतु हैं। संसार में सभी दुःखी हैं, सभी अभाव का अनुभव करते हैं। दुःख की अनुभूति की समानता के कारण दुःख दूर करके शांति प्राप्त करनेकी साधना में भी एकता होनी चाहिए। हमारा व्यवहार पारस्परिक सहानुभूति पर अवलंबित हो। जहां उपनिषद् सब मनुष्यों की तात्विक एकता की शिक्षा देते हैं, वहां बौद्ध-धर्म व्यवहार और साधना के ऐक्य पर ज़ोर देता है।

उपनिषदों के समान ही बुद्ध ने वाह्य वस्तुओं से चित्त हटा कर अंतर्मुखता की शिक्षा दी। याज्ञिक आडंबरों के प्रति तिरस्कार की भावना उपनिषदों और बौद्ध-धर्म में समान है। भेद इतना ही है कि उपनिषदों ने कर्मकांड को नीची साधना कह कर छोड़ दिया और उस की बहुत खोल कर निंदा नहीं की। बुद्ध ने इस प्रकार का समझौता करने से इनकार कर दिया। जो आडंबर है, जो मिथ्या है, उस से समझौता कैसा? उस से कल्याण की आशा भी कैसे की जा सकती है? आडंबरों से मुक्त होने और मुक्त करने की जितनी उत्कंठा बुद्ध में थी उतनी उपनिषदों में नहीं।

---

[1] ईश; ६

[2] 'बोधिचर्यावतार', पृ० २३१

मानव-जीवन की व्यर्थता और क्षण-भंगुरता पर उपनिषदों में कहीं-कहीं करुण विचार पाए जाते हैं। नचिकेता और यम के संवाद में सुख और ऐश्वर्य की व्यर्थता अच्छी तरह व्यक्त की गई है। उपनिषदों के ऋषियों ने संसार की दुःखमयता को दार्शनिकों की बौद्धिक और गंभीर दृष्टि से देखा। बुद्ध का हृदय दार्शनिक से भी अधिक मानव-हृदय अथवा कवि-हृदय था। उन्हों ने विश्व की करुणा को देखा ही नहीं, अनुभव भी किया। उन के कोमल हृदय में जैसे विश्व की अंतर्वेदना घनीभूत होकर समा गई थी। जो किसी भी पीड़ित प्राणी को देख कर क्षण भर में द्रवित हो जाती थी।

इसलिए सर राधाकृष्णन् का कहना है कि बौद्ध-धर्म, कम से कम अपने मूल में, हिंदूधर्म की ही एक शाखा है।[1]

भगवान् बुद्ध की शिक्षा : दुःख की व्यापकता

जीवन दुःखमय है, यह बौद्ध मतावलंबियों का निश्चित विश्वास है। यही विश्वास बौद्ध-दर्शन और बौद्ध-मस्तिष्क को गति प्रदान करता है। जन्म दुःखमय है, जीवित रहना दुःखमय है, वृद्ध होकर मरना भी दुःखमय है। अस्तित्ववान् होने का अर्थ है दुःखानुभूति। अपने शरीर की रक्षा के लिए, अपने विचारों की रक्षा के लिए, अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए दुःख उठाना पड़ता है। संसार की सारी चीजें नष्ट हो जाती हैं; हमारी आशाएं और आकांक्षाएं, हमारे अरमान, हमारा भय और प्रेम सब का अंत हो जाता है। इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्न में दुःख है, इच्छा स्वयं दुःखमयी है। हमारे सुख-भोग के क्षण भी दुःख के लेश से मुक्त नहीं होते। शारीरिक क्रियाओं में शक्ति क्षय होती है। विचारों के बोझ से मस्तिष्क पीड़ित रहता है। तृष्णा की अग्नि जीवन के सारे क्षणों को तपाए रखती है। व्यर्थ की दुश्चिंताओं का भार हमें कभी नहीं छोड़ता। यदि अपना जीवन सुखी

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ३६१

हो, तो भी चारों ओर के प्राणियों को दुःखी देख कर हम शांत नहीं रह सकते। विपन्नों का आर्तनाद हमारे कान फाड़ डालता है। स्वार्थी से स्वार्थी मनुष्य को अपने इष्ट-मित्रों का दुःख भोगना ही पड़ता है। अपने स्वार्थ के दायरे को हम कितना भी संकीर्ण कर लें, फिर भी हम दुःख से नहीं बच सकते। सर्व-ग्रासी मृत्यु अपना मुख फैलाए निश्चित गति से प्रतिक्षण हमारी ओर बढ़ती चली आती है। एक बार यह जान कर कि हमारे सारे प्रयत्नों और शुभ इच्छाओं को सदा के लिए शून्य में लीन हो जाना है, कौन सुखी रह सकता है ?

दुःख का कारण

चिकित्सा-शास्त्र में उस के चार अंगों का वर्णन रहता है, रोग, राग हेतु, स्वास्थ्य और औषधि या उपचार। इसी प्रकार बौद्ध-दर्शन के भी चार अंग हैं, अर्थात् संसार,संसार हेतु, निर्वाण और उस का उपाय। बुद्ध अपने चारों ओर फैले हुए मानवी दुःखों का अंत करना चाहते थे। संसार में दुःख क्यों है ? दुःख वस्तुओं की क्षण-भंगुरता का नैसर्गिक परिणाम है। जिस संसार को हम अनुभव द्वारा जानते हैं उस में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। परिवर्तनशीलता या क्षणभंगुरता भौतिक और मानसिक जगत् में समान रूप से व्याप्त है। 'हे भिक्षुओ ! संसार में जो कुछ है, क्षणिक है; यह दुःख की बात है या सुख की ?' भिक्षुओं ने उत्तर दिया कि सचमुच यह दुःख की बात है। दुःख और क्षणभंगुरता एक ही चीज़ है। जिस वस्तु को हम बड़े प्रयत्न से प्राप्त करते हैं, वह क्षण भर से अधिक नहीं ठहरती। पानी में बुद्बुदों के समान हमारे हृदय में वासनाएं उठती हैं और जल हो जाती हैं। सब कुछ दुःखमय है, क्योंकि सब कुछ क्षणिक है, निर्वाण में शांति है।[1]

---

[1] **सर्वमनित्यं, सर्वमनात्मं, निर्वाणं शांतम् और सर्वंक्षणिकम, क्षणिकम्, सर्वंदुःखं दुःखम्।**

प्रतीत्यसमुत्पाद या पटीच्चसमुप्पाद

'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धांत विश्व की क्षणभंगुरता की दार्शनिक व्याख्या है। कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता है। कार्य को उत्पन्न किए बिना कारण भी नहीं रह सकता। संसार में जो कोई भी घटना होती है उस का कारण होता है; इसी प्रकार संसार की कोई घटना किसी दूसरी घटना को उत्पन्न किए बिना नहीं रह सकती। एक चीज़ के होने से दूसरी चीज़ होती है। यही 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का मूलार्थ है। दुःख का स्रोत क्या है, अथवा दुःख की उत्पत्ति कैसे होती है? दुःख कार्य-कारण शृंखला की एक कड़ी है। यह शृंखला अविद्या से शुरु होती है और दुःखानुभूति में उस का पर्यवसान होता है। अविद्या से जरा-मरण और दुःख तक प्रसरित होनेवाली शृंखला में बारह कड़ियां हैं जिन्हें 'निदान' कहते हैं।

पहली कड़ी अविद्या है। अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते हैं। यहां संस्कार का अर्थ मानसिक धर्म समझना चाहिए। संस्कारों से विज्ञान अर्थात् संज्ञा या चैतन्यानुभूति उत्पन्न होती है। यह विज्ञान या चेतना प्राचीन और नवीन को जोड़ती है।[1] मृत्यु के बाद भी यह शेष रहती है, इस का अंत निर्वाण में ही होता है। चौथी कड़ी का नाम 'नाम-रूप' है जिस का तात्पर्य मन और शरीर से है। यह व्याख्या मिसेज़ रिज़ डेविड्स की है।[2] यामाकामी के अनुसार गर्भ की विशेष अवस्था का नाम 'नामरूप' है। 'रत्नप्रभा' (शांकरभाष्य की टीका) और 'भामती' का भी यही मत है। नामरूप से षडायतन अर्थात् इंद्रियों की उत्पत्ति होती है। इंद्रियों के द्वारा ही हमारा वाह्यजगत् से संबंध होता है, इस संबंध को ही 'स्पर्श' कहते हैं जो छठवीं कड़ी है। इस स्पर्श

---

१ राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ४१४

२ यामाकामी, पृ० ७८

से वेदना उत्पन्न होती है। वेदना से तृष्णा का आविर्भाव होता है, जो उपादान या आसक्ति के कारण होती है। इस आसक्ति के कारण ही 'भव' होता है। भव जाति का कारण है। वाचस्पति मिश्र 'भव' का अर्थ धर्माधर्म करते हैं।[1] चंद्रकीर्ति की व्याख्या भी ऐसी ही है। 'भव' उन कर्मों को कहते हैं जो जाति या जन्म का कारण होते हैं। जाति या जन्म के बाद जरा-मरण (वृद्धावस्था और मृत्यु) का आना अनिवार्य है। जरा और मरण दुःखमय है, इस में किसे संदेह हो सकता है। इन बारह निदानों में कुछ का संबंध तो व्यक्ति के अतीत से है और कुछ का उस के भविष्य से। नीचे हम इन निदानों की तालिका देते हैं।[2]

क—जिन का संबंध अतीत से है :	१. अविद्या २. संस्कार
ख—जिन का संबंध वर्तमान जीवन से है :	३. विज्ञान ४. नामरूप ५. षड़ायतन ६. स्पर्श ७. वेदना ८. तृष्णा ९. उपादान
ग—जिन का संबंध भविष्य जीवन से है :	१०. भव ११. जाति १२. जरामरण, दुःख

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवी दुःखों का मूल कारण अविद्या

---

[1] शां० भा० २ । २ । १९

[2] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ४११

है। अविद्या व्यक्ति के बिना नहीं रह सकती और व्यक्तित्व अविद्या पर अवलंबित है। इस प्रकार अविद्या और व्यक्तित्व या व्यक्तिता में अन्योन्याश्रय संबंध है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए व्यक्तित्व का निःशेष होना आवश्यक है। अविद्या के दूर हुए बिना व्यक्तित्व अथवा अहंता का विलय संभव नहीं है। अब हम बौद्ध-धर्म में 'व्यक्तित्व किसे कहते हैं' इस की खोज करेंगे।

हम कह चुके हैं कि विश्व की क्षण-भंगुरता ने बुद्ध के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला था। संसार में कुछ भी स्थिर नहीं है, प्रत्येक घटना, प्रत्येक पदार्थ अपने समान ही क्षणिक कार्यों को उत्पन्न कर के स्वयं नष्ट हो जाता है। इस का अर्थ यह है कि संसार का कोई एक स्थिर कारण नहीं है। एक विकारहीन ईश्वर की कल्पना, जो सब परिवर्तनों से अलग रहते हुए भी उन का कारण बन सके, दर्शनशास्त्र को ग्राह्य नहीं हो सकती। इसी प्रकार एक अपरिवर्तनीय स्थिर आत्मतत्त्व को मानना भी, जो कि शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का कर्ता बन सके, असंगत है। मनुष्य के व्यक्तित्व में ऐसी कोई चीज़ नहीं है जो बदल न रही हो। हमारे शरीर में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। हमारे मानसिक विचार और मानसिक अवस्थाएं भी बदलती रहती हैं। किसी भी व्यक्ति का जीवन, चाहे हम शारीरिक दृष्टिकोण से देखें या उस के बौद्धिक अथवा रागात्मक स्वरूप पर दृष्टिपात करें, किन्हीं दो क्षणों में एक-सा नहीं रहता। बौद्ध-दर्शन गीता के स्थिर आत्मतत्व की सत्ता को मानने से इन्कार करता है।

नैरात्म्यवाद

भारतीय दार्शनिकों ने इस सिद्धांत को नैरात्म्यवाद का नाम दिया है। बौद्ध लोग व्यक्तित्व को एक इकाई न मान कर समूहात्मक मानते हैं। यह ठीक है कि हमारे जीवन और व्यक्तित्व में एक प्रकार की एकता पाई जाती है जिस के

कारण मोहन और सोहन जन्म भर अलग-अलग व्यक्ति रहते हैं; परंतु यह एकता विकास-शील एकता है। व्यक्तित्व के जो तत्व एकता के सूत्र में पिरोए जाते हैं उन के समान ही वह सूत्र भी अपना स्वरूप बदलता रहता है। बौद्धों का यह सिद्धांत आधुनिक मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान के बहुत कुछ अनुकूल है। पाँच स्कंधों के समवाय अथवा समन्वय (सिन्थेसिस) को ही व्यक्तित्व कहते हैं। इन पाँच स्कंधों के नाम रूपस्कंध, विज्ञानस्कंध, वेदनास्कंध, संज्ञास्कंध और संस्कारस्कंध हैं। विषय-सहित इंद्रियों को रूपस्कंध कहते हैं। रूपस्कंध के अतिरिक्त चारों स्कंध मनोमय सत्ताओं के द्योतक हैं। रूपादि विषयों के प्रत्यक्ष में जो अहमाकार बुद्धि होती है उसे 'विज्ञानस्कंध' कहते हैं। प्रिय, अप्रिय, सुख, दुःख आदि के अनुभव को 'वेदनास्कंध' कहते हैं। यह कुंडल है, यह गौ है, यह ब्राह्मण है—इस प्रकार के अनुभव को 'संज्ञास्कंध, कहते हैं। यह वाचस्पति मिश्र की व्याख्या है। मस्तिष्क में इंद्रियों के अनुभव और सुख-दुख आदि के जो चिह्न रह जाते हैं उन्हें 'संस्कारस्कंध' कहते हैं। इस प्रकार बौद्धों का व्यक्तित्व-संबंधी मत विश्लेषण-प्रधान है। व्यक्तित्व की यह व्याख्या आधुनिक मनोविज्ञान की व्याख्या से आश्चर्य-जनक समता रखती है। आजकल के मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को तीन प्रकार की क्रियाओं का संश्लिष्ट रूप मानते हैं। यह क्रियाएं संवेदन, संकल्प और विकल्प हैं। इन के अतिरिक्त आत्मा में मानसशास्त्र के विचारकों का विश्वास नहीं है।

'मिलिंदप्रश्न' नामक संवाद-ग्रंथ में नैरात्म्यवाद की व्याख्या बड़े सुंदर ढंग से की गई है। ग्रीक राजा मिनेंडर या मिलिंद नागसेन नाम के बौद्ध-भिक्षु के पास गया। कुछ बातचीत के बाद राजा ने नागसेन से पूछा—'आप कहते हैं हमारे व्यक्तित्व में कोई स्थिर चीज़ नहीं है, तो यह कौन है जो संघ के सदस्यों को आज्ञा देता है, जो पवित्र जीवन व्यतीत करता है, जो सदैव ध्यान और उपासना में लगा रहता

है ? कौन निर्वाण प्राप्त करता है और कौन पाप-पुण्य करके उन का फल भोगता है ? आप कहते हैं कि संघ के सदस्य आप को नागसेन कहते हैं। यह नागसेन कौन है ? क्या आप का मतलब है कि सिर के बाल नागसेन हैं ?,

'मैं ऐसा नहीं कहता, राजन्।'

'फिर क्या यह दाँत, यह त्वचा, यह मांस, यह नाड़ियां, ही मस्तिष्क—यह नागसेन है ?'

नागसेन ने उत्तर दिया—'नहीं'

'क्या यह बाहर का आकार नागसेन है ? क्या वेदनाएं नागसेन हैं ? अथवा संस्कार नागसेन हैं ?'

नागसेन ने कहा—'नहीं'

'तो क्या इन सब वस्तुओं को मिला कर नागसेन कहते हैं अथवा इन से बाहर कोई चीज़ है जिस का नाम नागसेन है ?'

नागसेन ने वही पुराना उत्तर दुहरा दिया।

राजा ने झुँझलाहट के स्वर में कहा—'तो फिर नागसेन कहीं नहीं है। नागसेन एक निरर्थक ध्वनिमात्र, है फिर यह नागसेन कौन है, जिसे हम अपने सम्मुख देखते हैं ?'

अब नागसेन ने प्रश्न करना शुरू किया। 'राजन् ! क्या आप पैदल आए हैं ?'

'नहीं, मैं पैदल नहीं आया, रथ में आया, हूँ।'

'आप कहते हैं कि आप पैदल नहीं आए, रथ में आए हैं। तब तो आप जानते होंगे कि 'रथ' क्या है। क्या यह पताका रथ है ?'

मिलिंद ने उत्तर दिया—'नहीं'

'क्या यह पहिए रथ हैं अथवा यह धुरी रथ है ?'

राजा ने उत्तर दिया—'नहीं'

'तो क्या यह रस्सियां रथ हैं, अथवा यह कशा (कोड़ा) रथ है?'

राजा ने इन सब के उत्तर में कहा—'नहीं'.

'फिर क्या इस के यह सब हिस्से रथ हैं?'

मिलिंद ने कहा—'नहीं'

तब नागसेन ने पूछा—'क्या इन अवयवों के बाहर कोई चीज़ है जो रथ है?'

राजा ने स्तंभित होकर कहा—'नहीं'

'तो फिर रथ नाम की कोई चीज़ नहीं है। राजन्, क्या आप झूठ बोले थे?''

मिलिंद ने कहा—'श्रद्धेयभिक्षु, मैं झूठ नहीं बोला। धुरी, पहिए, रस्सी आदि सब के सहित होने पर ही लोग इसे 'रथ' कहते हैं।'

इस पर नागसेन ने कहा—'राजन्! तुम ने ठीक समझा। धुरी, पहिए, रस्सियां आदि के संघात-विशेष का नाम ही रथ है। इसी प्रकार पाँच स्कंधों के संघात के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है।'

इस संवाद में नैरात्म्यवाद के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों को स्पष्ट कर दिया गया है।। रथ-ज्ञान उतना ही सत्य या झूठ है जितना कि आत्मज्ञान। एक स्थिर आत्मा में विश्वास करना उतना ही असंगत है जितना कि अवयवों के अतिरिक्त रथ की सत्ता में आग्रह रखना।

क्षणिकवाद की आलोचना—पुनर्जन्म बौद्धदर्शन को छोड़ कर भारतवर्ष के सारे दर्शन आत्मा की सत्ता में विश्वास रखते हैं। चार्वाक और दो चार अन्य नास्तिक दार्शनिक को छोड़ कर सब दर्शनों के शिक्षक पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धांत को मानते हैं। यदि सचमुच, जैसा कि बौद्ध कहते हैं, कोई स्थिर आत्म-तत्व नहीं है तो अच्छे-बुरे कर्मों के लिए उत्तरदायी कौन है? पाप-पुण्य का फल कौन भोगता

है ? पुनर्जन्म किस का होता है ? यदि पुनर्जन्म और कर्मफल को न मानें तो संसार के प्राणियों के जन्मगत भेदों की व्याख्या नहीं हो सकती। कुछ व्यक्ति जन्म से ही धन, स्वास्थ्य और अधीत माता-पिता का दुलार और चिंता लेकर उत्पन्न होते हैं, कुछ जन्म से ही कंगाल और दुर्बल तथा अशिक्षित मा-बाप के पुत्र होते हैं। इस का कारण क्या है ? यदि किए हुए कर्म का फल नहीं मिलता, यदि अपने कर्मों के शुभ और अशुभ परिणामों से हम बच सकते हैं, तो कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा और धर्मशास्त्रों के उपदेश व्यर्थ हैं।

'आत्मा को न मानने पर पुनर्जन्म की व्याख्या नहीं हो सकती' इस तर्क को बौद्धों के प्रतिपक्षी अकाट्य मानते हैं। वास्तव में पुनर्जन्म की समस्या बौद्धों के लिए नई कठिनाई नहीं है। जो बौद्ध मृत्यु के पहले ही आत्म-सत्ता स्वीकार नहीं करते, उन से यह आशा करना कि वे मृत्यु के बाद बच रहनेवाली आत्मा को मानेंगे, दुराशा है। मरने से पहले या मरने के बाद किसी समय भी बौद्ध लोग आत्मा का होना स्वीकार नहीं करते। अगर कोई भी क्रिया बिना स्थिर कर्ता के हो सकती है तो स्थिर आत्म-तत्व को माने बिना पुनर्जन्म भी हो सकता है। श्री आनंदकुमार-स्वामी ने अपने 'बुद्ध और बौद्धधर्म का संदेश' नामक ग्रंथ में बौद्ध-साहित्य के एक प्रसिद्ध रूपक की ओर ध्यान दिलाया है।[1] बौद्धधर्म में आत्मा की बार-बार दीपक की शिखा से उपमा दी जाती है। जब तक दीपक जलता रहता है तब तक उस की शिखा या लौ एक मालूम पड़ती है, लेकिन वास्तव में यह शिखा नए ईंधन के संयोग से प्रतिक्षण बदलती रहती है। दीपक शिखा एक ईंधन-संघात से दूसरे ईंधन-संघात में संक्रांत हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा की एकता एक क्षण के स्कंध-संघात से दूसरे क्षण के स्कंध-संघात में संक्रांत हो जाती है। यदि यह एकता

---

[1] पृ० १०६

मनुष्य के जीवन में किसी प्रकार अक्षुण्ण रह सकती है तो यह कल्पना कठिन नहीं है कि वह एक जीवन से दूसरे जीवन तक भी अविच्छिन्न भाव से बनी रहे। एक जीवन के मृत्यु-क्षण और दूसरे जीवन के जन्म-क्षण में किन्हीं दो क्षणों की अपेक्षा अधिक अंतर नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुनर्जन्म की समस्या बौद्ध-दार्शनिकों के लिए कोई नई समस्या नहीं है। सवाल यह है कि क्या क्षणिकवाद को मानकर एक ही जीवन के विभिन्न क्षणों की एकता को समझाया जा सकता है? श्री शंकराचार्य ने वेदांत-सूत्रों के भाष्य में बौद्धमत का विस्तार से खंडन किया है। वे कहते हैं कि बौद्ध-दर्शन में समुदाय-भाव की सिद्धि नहीं हो सकती।[1] अणुओं के समूह को भौतिक-जगत् में और मानसिक अवस्थाओं को आध्यात्मिक जगत् में एकता के सूत्र में पिरोने वाला कौन है? जिन अणुओं या मानसिक तत्वों अथवा स्कंधों का एकीकरण या समन्वय अपेक्षित है वे जड़ हैं, क्योंकि चेतना या चैतन्य इस एकीकरण का परिणाम है, उस के बाद की चीज़ है, न कि पहले की। बिना स्थिर चेतन-तत्व के मानसिक तत्वों का एकत्रीकरण कौन कर सकता है[2] और बिना एकत्रीकरण के चैतन्य की शिखा कैसे प्रज्वलित हो सकती है?

जिन मनस्तत्वों के मेल को तुम आत्मा कहते हो, उन मनस्तत्वों का मेल आत्म-सत्ता को पहले से मौजूद माने बिना नहीं हो सकता।

यदि मानसिक परिवर्त्तनों में स्थिर रहने वाली आत्म-सत्ता न हो, तो स्मृति (याद करना) और प्रत्यभिज्ञा (पहचानना) दोनों ही न हो सकें। 'मैं ने इस चीज़ को कल देखा था और आज फिर देखता हूं' यह ज्ञान होने के लिए आवश्यक है कि (१) जिस चीज़ को मैं 'वही' कह कर पहचानता हूँ वह कल से आज तक स्थिर रही हो; (२) मेरे व्यक्तित्व

---

[1] वेदांतसूत्र २। २। १८

[2] स्थिरस्य संहन्तु रनभ्युपगमात्।

में भी कल से आज तक किसी प्रकार की एकता रही हो। यदि कल किसी दूसरे ने देखा था तो आज कोई दूसरा स्मरण नहीं कर सकता; स्मरण तभी संभव है जब स्मरण-कर्ता क्षणिक न होकर कुछ काल तक ठहरने वाला हो। इसी प्रकार पहचानी जानेवाली वस्तु में भी स्थिरता होनी चाहिए। यदि कहो कि 'वही, समझ कर पहचानी जानेवाली वस्तु वास्तव में 'वही' नहीं होती बल्कि पहली वस्तु के सदृश दूसरी वस्तु होती है, तो ठीक नहीं। क्योंकि सादृश्य को देखनेवाले स्थायी कर्ता की आवश्यकता फिर भी रह जाती है।[१]

क्षणिकवाद को मानने पर दंड और पुरस्कार की व्यवस्था नहीं हो सकती। जिस ने चोरी की थी वह क्षणिक होने के कारण नष्ट हो गया; अब जिसे दंड दिया जा रहा है वह दूसरा व्यक्ति है। पहले कर्ता के कर्मों का उत्तरदायित्व इस सज़ा पानेवाले पर कैसे हो सकता है? यह स्पष्ट है कि क्षणिकवाद को मान कर 'कर्म अपना फल अवश्य देते हैं' यह सिद्धांत व्यर्थ हो जाता है।

क्षणिकवाद को संसार के दार्शनिकों ने गंभीरता-पूर्वक कभी नहीं माना है। आधुनिक काल में फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां ने क्षणिकवाद को पुनरुज्जीवित किया है। उन के मत में भी संसार की सारी वस्तुएं प्रतिक्षण विकसित और वर्द्धित होती रहती हैं। बर्गसां के मत से बहुत लोगों को संतोष हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में मानव-बुद्धि में स्थिरता, नित्यता और शाश्वत-भाव के प्रति एक विचित्र आकर्षण पाया जाता है, जिसे दार्शनिक तर्क से हटाया नहीं जा सकता। शायद इसी कारण बुद्ध की आत्म-विषयक शिक्षा की अनेक व्याख्याएं की गई हैं और उन का वास्तविक सिद्धांत क्या था, इस विषय में मतभेद उत्पन्न हो गया है।

बुद्ध के आत्मा-संबंधी विचारों को प्राचीन और नवीन विद्वानों ने

---

१ स्याच्चेत्पूर्वोत्तरयोः क्षणयोः सादृश्यस्य गृहीतैकः।

बुद्ध की शिक्षा की अनेक व्याख्याएं[१]

क्रमशः अभावात्मक, अनिश्चयात्मक और भावात्मक बतलाया है। प्रायः सारे ही प्राचीन हदू-लेखकों ने बुद्ध की शिक्षा का अभावात्मक वर्णन करके खंडन किया है। संस्कृत में बौद्धों को 'वैनाशिक' या 'सर्ववैनाशिक' भी कहते हैं। इस का अर्थ यही है कि बौद्ध लोग आत्मा को नहीं मानते और सब वस्तुओं को क्षणिक अथवा विनाशशील मानते हैं।

अनिश्चयात्मक व्याख्या आधुनिक है। हमारा युग भी एक प्रकार से अनिश्चयवाद, संदेहवाद अथवा अज्ञयवाद का युग कहा जा सकता है। इस 'वाद' का अभिप्रायः यही है कि हम संसार के चरम तत्वों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं कर सकते। मानव-बुद्धि की भाँति मानव-ज्ञान भी अपूर्ण ही है और अपूर्ण ही रहेगा। इंगलंड का प्रसिद्ध लेखक और दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर चरम तत्व को अज्ञय बतलाता था। जर्मनी के महादार्शनिक कांट का भी यही मत था। आधुनिक काल में 'क्रिटिकल रियलिज़्म' अर्थात् 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के समर्थक भी कुछ-कुछ ऐसा ही कहते हैं। योरुप और अमेरिका में ईश्वर-संबंधी विश्वास तेज़ी से कम हो रहा है। स्थिर आत्मतत्व के पक्षपाती भी कम हैं। जिस में विकास और परिवर्तन नहीं होता ऐसी आत्मा का पुनर्जन्म माननेवालों का मत 'ऐनिमिज़्म' अभिहित किया जाता है, जो निंदात्मक शब्द है। 'आत्मा है या नहीं' इस विषय में 'अनिश्चय' का समर्थक होने के कारण आज बौद्धधर्म की प्रसिद्धि योरुप में बढ़ रही है।

इस व्याख्या के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। बुद्ध अक्सर अपने शिष्यों को आत्म-विषयक प्रश्नों से रोक देते थे। प्रायः वे ऐसे प्रश्नों को सुनकर मौन रह जाते थे। चरम-तत्व-संबंधी प्रश्नों पर उन के मौन रह जाने के विभिन्न अर्थ लगाए गए हैं। कुछ लोग कहते हैं कि बुद्ध

---

[१] देखिए राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ६७६

का आत्मा में विश्वास न था। दूसरों का कथन है कि उन्हें आत्म-विषयक बोध न था और वे अनिश्चयवादी थे। सर राधाकृष्णन् ने इन दोनों मतों का खंडन किया है। यदि बुद्ध की शिक्षा अभावात्मक होती तो साधारण जनता पर उस का इतना प्रभाव नहीं पड़ता। सर राधाकृष्णन् कहते हैं—'यदि बुद्ध की शिक्षा अभावात्मक होती तो वे प्रारंभ में ही जटिल लोगों का, जो कि अग्निपूजक थे, मत-परिवर्तन न कर सकते।'

बुद्ध को अनिश्चयवादी भी नहीं कह सकते क्योंकि यदि ऐसा होता तो वे अपने को 'बुद्ध' अर्थात् 'बोध-प्राप्त' नहीं कहते। इस लिए बुद्ध के शिक्षा की भावात्मक व्याख्या करनी चाहिए।

'प्रज्ञा-पारमिता' पर टीका करते हुए नागार्जुन ने लिखा है कि भगवान् न तो 'उच्छेदवाद' के समर्थक थे, न 'शाश्वतवाद' के, अर्थात् न तो वे आत्मा के विनाश को ही मानते न उस की एकांत नित्यता को। इस का अर्थ यह है कि उन का मत जड़वादियों (चार्वाक आदि) और आत्मवादियों (उपनिषद्, जैनधर्म) आदि दोनों से भिन्न था। यहां अनिश्चयवादी और अभाववादी दोनों अपनी व्याख्या का समर्थन पाने की चेष्टा करते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि बुद्ध अनेक स्थलों में अपने मत को अनात्मवाद कहने से इन्कार करते हैं।

मिसेज़ रिज़ डेविड्स भी सर राधाकृष्णन् की भाँति आरंभिक बौद्ध-धर्म की भावात्मक व्याख्या की पक्षपातिनी हैं। अपनी 'बुद्धिज़म, इट्स बर्थ एंड डिस्पर्सल' (१९३४) नामक पुस्तिका में उन्हों ने उद्धरण देकर यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि बुद्ध ईश्वर और जीव दोनों की सत्ता में विश्वास रखते थे।

यदि वास्तव में बुद्ध आत्मा (और ईश्वर) को मानते थे तो उन की शिक्षाओं के विषय में प्राचीन लेखकों में भ्रम क्यों फैला? क्या कारण है कि न सिर्फ़ हिंदू-विचारक बल्कि बुद्धघोष, नागसेन आदि बुद्ध

के अनुयायी भी उन की शिक्षा को भावात्मक रूप न दे सके ? वस्तुतः 'अनिश्चयात्मक' व्याख्या में बहुत कुछ सत्यता का अंश है। बुद्ध अपने युग के नैतिक वातारण को सुधारना चाहते थे। लोग दार्शनिक वाद-विवाद में फँस कर अपने व्यक्तिगत चरित्र की सुध को खो बैठे थे। बुद्ध जी का विश्वास था कि अपने चरित्र का सुधार और अपने चित्त की शुद्धि करने से ही वास्तविक कल्याण हो सकता है। उपनिषदों के समान ही उन का विश्वास था कि जो दुश्चरितों से विरत नहीं हुआ है, जिस का मन वश में नहीं है, वह आत्मबोध और आत्मलाभ के योग्य नहीं बन सकता। उन का यह भी विश्वास था कि चित्त-शुद्धि और चरित्र-सुधार की नींव परिवर्तन-शील दार्शनिक सिद्धांतों पर नहीं रखनी चाहिए। 'आत्मा है या नहीं' इस का निश्चय करने से पहले ही मनुष्य को अपने मन और इंद्रियों को दोषों से बचाने की कोशिश करनी चाहिए।

निर्वाण

बौद्ध-साधक के जीवन का लक्ष्य निर्वाण है। निर्वाण का अर्थ है—शांत हो जाना, ठंढा पड़ जाना, बुझ जाना। 'अभिज्ञानशाकुंतल' में शकुंतला को देख कर दुष्यंत ने कहा—'अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम्'—अर्थात् नेत्रों का निर्वाण पा लिया। कालिदास की इस पंक्ति में निर्वाण का जो अर्थ है, बौद्ध-निर्वाण का अभिप्राय इस से अधिक भिन्न नहीं है। बुद्ध को आत्म-विषयक शिक्षा को लोगों ने ठीक-ठीक समझा हो या नहीं, इस में संदेह नहीं कि निर्वाण के विषय में काफ़ी भ्रम फैला हुआ है। बहुत से हिंदू और अहिंदू लेखकों ने भी निर्वाण का अर्थ व्यक्ति की सत्ता का पूर्णनाश अथवा शून्य में मिल जाना समझा है। ईसाई लेखकों ने निर्वाण के इस अर्थ पर बहुत ज़ोर दिया है। यदि वास्तव में निर्वाण का यही अर्थ होता तो भगवान् बुद्ध सैकड़ों मनुष्योंको निर्वाण का आकर्षक चित्र खींच कर अपना अनुयायी नहीं बना सकते। प्रो० मैक्समूलर और चाइलर्स ने निर्वाण-विषयक वाक्यों का सतर्क अनुशीलन करके यह परिणाम निकाला है कि निर्वाण

का अर्थ कहीं भी 'विनाश' नहीं है। बौद्धों के दार्शनिक साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्वाण का अर्थ शून्य में मिल जाना नहीं है। नागार्जुन का कथन है—

न संसारस्य निर्वाणात् किंचिदस्ति विशेषणम्।
न निर्वाणस्य संसारात् किंचिदस्ति विशेणम्।
न तयोरंतरं किंचिद् सुसूक्ष्ममपि विद्यते।

—माध्यमिक कारिका, २५। १६, २०

अर्थात् संसार में निर्वाण की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, इसी प्रकार निर्वाण में संसार की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। दोनों में अणुमात्र भी भेद नहीं है।

श्री यामाकामी सोगेन उक्त उद्धरण पर टीका करते हुए कहते हैं कि बौद्ध-दर्शन ने यह कभी नहीं सिखाया कि निर्वाण संसार से अलग होता है।[1]

वास्तव में निर्वाण का अर्थ व्यक्तित्व के उन गुणों और बंधनों का नाश हो जाना है जो मनुष्य को भेद-भाव से अनुप्राणित कर स्वार्थ की ओर प्रवृत्त करते हैं। निर्वाण की अवस्था में मनुष्य की सारी वासनाएं, एषणाएं और आकांक्षाएं नष्ट हो जाती हैं। हिंदू दार्शनिकों ने जैसा वर्णन स्थितिप्रज्ञ और जीवन्मुक्त का किया है वैसा ही वर्णन निर्वाण-प्राप्त मनुष्य का पाया जाता है। निर्वाण का अर्थ विनाश नहीं, पूर्णता है। निर्वाण उस अवस्था को कहते हैं जिस में अहंता का नाश होकर मनुष्य को पूर्ण विश्वास, पूर्ण शांति, एवं संपूर्ण सुख की प्राप्ति होती है। नागसेन ने मिलिंद को समझाया—'पूर्व या पश्चिम में, दक्षिण या उत्तर में,

---

१ 'सिस्टम्स अव् बुद्धिस्ट थाट', पृ० २३

२ यामाकामी, पृ० ३३

ऊपर या नीचे, कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां निर्वाण की स्थिति हो। [1] निर्वाण का अर्थ है बुझ जाना। सारा संसार वासना की अग्नि से जल रहा है। इस अग्नि के बुझने का नाम निर्वाण है। जन्म, वृद्धावस्था और मृत्यु, राग और द्वेष और मोह की लपटों से त्राण पाने का नाम ही निर्वाण है। निर्वाण की अवस्था का वर्णन नहीं हो सकता। निर्वाण-प्राप्त मनुष्य साधारण मनुष्यों से भिन्न होता है। नागसेन ने रूपक की भाषा में निर्वाण का अर्थ करने की चेष्टा की है। निर्वाण में एक गुण कमल का है, दो जल के, तीन औषधि के, चार समुद्र के, पाँच भोजन के, दस वाणी के, इत्यादि। निर्वाण में दोषों का स्पर्श नहीं होता, उस में कमल के समान निर्लेपता होती है। जल की तरह वह शीतल है और दुर्वासनाओं की अग्नि को बुझाता है। समुद्र की तरह वह निस्सीम और गंभीर है, पहाड़ की चोटी की तरह वह उदात्त है। निर्वाण का अर्थ है—नित्यता, आनंद, पवित्रता और स्वतंत्रता।

बौद्धधर्म और ईश्वर

बुद्ध ने किसी ईश्वर की पूजा करने की शिक्षा नहीं दी। योग दर्शन की तरह किसी पुरुष विशेष का आश्रय लेने का उपदेश उन्हों ने कभी नहीं किया। 'आप ही अपना प्रकाश बनो, आप ही अपना आश्रय लो; किसी अन्य का आश्रय मत ढूँढो।' बाद के बौद्धधर्म में, महायान संप्रदाय में, ईश्वर का प्रवेश हो गया; इस का वर्णन हम आगे करेंगे।

निर्वाण-प्राप्ति के साधन

आत्म-कल्याण के अभिलाषियों को सत्य श्रद्धा, सत्य-संकल्प, सत्य-वाणी, सत्यकार्य, सत्यजीवन, सत्यप्रयत्न, सत्यविचार और सत्यध्यान वाला होना चाहिए। हरेक को अपना उद्धार आप करना है। किसी ईश्वर के अनुग्रह से मुक्ति नहीं मिल सकती। बुद्ध का देव-भक्ति अथवा यज्ञों में विश्वास नहीं था। शिष्यों से विवाद करने के बाद वे कहते थे—'भिक्षुओ, तुम

१ आनंदकुमारस्वामी, पृ० ११६

जो कुछ कह रहे हो वह तुम ने ख़ुद ही मान लिया है और ख़ुद ही समझ लिया है।'[1] बौद्धधर्म में इंद्रिय-निग्रह, शील और समाधि पर बहुत ज़ोर दिया है। शील के अंतर्गत सत्य, संतोष और अहिंसादि गुण आ जाते हैं। समाधि का अर्थ संसार की दुःखमयता और हेयता पर विचार करते रहना है। बुद्ध जी जैनियों की भाँति शरीर-पीड़न की शिक्षा कभी नहीं दी। शरीर को दुःख देने से आत्म-शुद्धि नहीं होती। साधना मानसिक होनी चाहिये, न कि शारीरिक। धम्मपद के प्रथम श्लोक में कहा है—

मनो पुव्वंगमा धम्माः

अर्थात् सारे धर्म मनपूर्वक या मानसिक हैं। मन की शुद्धता ही यथार्थ शुद्धता है। 'जो पुरुष राग-द्वेष आदि कषायों (मलों) को बिना छोड़े काषाय वस्त्र को धारण करता है, वह संयम और सत्य से हटा हुआ है। वह उन वस्त्रों का अधिकारी नहीं है।[2]

अहिंसा का पालन शारीरिक की अपेक्षा मानसिक अधिक है। 'वैर से वैर कभी शांत नहीं होता, अवैर से ही शांत होता है, यह सनातन नियम है।'[3] 'उस ने मुझे गाली दी, मुझे मारा, मुझे हरा दिया, मुझे लूट लिया—ऐसा जो मन में विचारते हैं, उन का वैर कभी शांत नहीं होता' (धम्म० १। ३)।

'सांसारिक क्लेशों का मूल कारण अविद्या, अथवा अनित्य में नित्य का ज्ञान है। इस लिए अविद्या को दूर करने का यत्न करना चाहिए।' 'स्त्री का मल दुराचार है, दाता का मल मात्सर्य है; पाप इस लोक और

१ मज्झिम निकाय, ३८

२ धम्मपद' १। ६

३ वही, १। ५

परलोक में मल है; मलों में सब से बड़ा मल अविद्या है। हे भिक्षुओ, इस महामल को त्याग कर निर्मल बनो'। (धम्म० १८। ८, ६)

ऊपर कहा जा चुका है कि आरंभिक बौद्धधर्म की रुचि तत्व-दर्शन की

बौद्धदर्शन का मनोवैज्ञानिक आधार

अपेक्षा तर्क-शास्त्र, व्यवहार-शास्त्र और मानस-शास्त्र में अधिक थी। वास्तव में बौद्धों के तत्व-संबंधी और व्यावहारिक विचार उन के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों से घनिष्ठ संबंध रखते हैं। बौद्ध विचारकों ने व्यक्तित्व को 'नाम' और 'रूप' में विश्लेषित किया था। 'रूप' शब्द व्यक्तित्व के भौतिक आधार शरीर को बतलाता है, और 'नाम' मानसिक अवस्थाओं को।[1] नाम और रूप को ही पाँच संबंधों में भी विभक्त किया गया था जिन का वर्णन ऊपर हो चुका है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा का नाम न ले कर पंचस्कंधों की ओर ही संकेत करते हैं। विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार स्कंधों की आधुनिकता की ओर भी हम इंगित कर चुके हैं। इंद्रियों और विषयों के संयोग से विज्ञान (सेंसेशन) उत्पन्न होते हैं। विज्ञानों के प्रति भावात्मक प्रक्रिया को वेदना कहते हैं। इंद्रिओं के विषय पाँच प्रकार के हैं अर्थात् रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श। मानसिक जगत में 'संकल्प' या 'इच्छा शक्ति' का विशेष स्थान है। 'प्रतीत्य-समुत्पाद' की व्याख्या में कहा जा चुका है कि स्पर्श अथवा इंद्रिय-विज्ञान से वेदना और तृष्णा उत्पन्न होती है। मन की दशा कभी एक सी नहीं रहती। एक विज्ञान के बाद दूसरा विज्ञान आता रहता है। विज्ञानों के इस प्रवाह को 'विज्ञान-संतान' कहते हैं। इन के अतिरिक्त आत्मा का अनुभव किसी ने नहीं किया। स्काटलैंड के दार्शनिक ह्यम का मत भी ऐसा ही था। उस का कहना है कि यदि हम अपने आंतरिक जीवन का सतर्क होकर निरीक्षण करें तो इंद्रिय-विज्ञानों, वेदनाओं एवं इच्छाओं और संकल्पों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखाई

---

१ राधाकृष्णन्, भाग १ पृ० ४०१

देता। अभिप्राय यह कि आत्मा नाम की वस्तु की सत्ता अनुभव-सिद्ध नहीं है।

मानसिक संसार की तरह भौतिक जगत को भी बौद्ध लोग सतत प्रवाहशील अथवा प्रतिक्षण बदलने वाला मानते हैं। संसार में 'है' कुछ नहीं सब कुछ 'हो रहा' या 'बन रहा' है। कोई भी वस्तु दो क्षणों तक एक-सी नहीं रहती। इस प्रकार बौद्ध लोग भौतिक जगत की व्याख्या मानसिक जगत के आधार पर करते हैं।

बौद्ध मानस-शास्त्र में निःसंज्ञक मानसिक दशाओं को भी माना गया है। निःसंज्ञक से मतलब उन मानसिक दशाओं से है जो अननुभूत हैं, जिन का मानसिक निरीक्षण या अनुभव नहीं किया गया है। आधुनिक काल में वियना (आस्ट्रिया) के डाक्टर और मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने 'अंतश्चेतना' अथवा 'अव्यक्त चेतना' चित्त-प्रदेश पर बहुत ज़ोर दिया है। फ्रायड का मत है कि हमारे बाह्य जीवन की क्रियाओं पर अंतर्जगत की निचली सतह में छिपी हुई गूढ़ वासनाओं का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ता है।

हमारे संकल्पों और प्रयत्नों का स्रोत क्या है ? बौद्ध मानस-शास्त्र का उत्तर है कि हमारे सारे प्रयत्न सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए होते हैं। जब तक मनुष्य संसार को दुःखमय नही समझ लेता तब तक उसे वैराग्य नहीं होता और वह स्वार्थ-साधन से विरत नहीं हो सकता।

बुद्ध की व्यावहारिक शिक्षा मनोविज्ञान के अनुकूल ही है। उन्हों ने जगह-जगह पाप और पुण्य की मानसिकता पर ज़ोर दिया है (मनः पूर्वंगमा धर्माः)। मन की शुद्धि ही वास्तविक शुद्धि है, मन की शांति ही जीवन की शांति है। हमारे बाह्य व्यापार अंतर्जगत के प्रतिबिंब मात्र हैं। चांद्रायण, कृच्छ्र, उपवास आदि से आत्मिक कल्याण नहीं हो सकता।

यदि आप वास्तविक अहिंसक बनना चाहते हैं तो हृदय की कटुता का त्याग कर दीजिए; दूसरों के अपकारों पर विचार करना छोड़ दीजिए; शत्रु को प्रेम करना सीखिए।

बुद्ध की व्यावहारिक शिक्षा वैयक्तिक है। उन्होंने सामाजिक कर्तव्यों पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया। यह कहना ग़लत है कि बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया और उस विरोध का भारतीय इतिहास पर विशेष प्रभाव पड़ा। फिर भी ठीक है कि बुद्ध जन्म की अपेक्षा कर्मों को अधिक महत्त्व देते थे। 'न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से ब्राह्मण होता है। जिस में सत्य और धर्म है वही शुचि है, वही ब्राह्मण है।' (धम्म०, २६ । ११)

यस्य कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं
संवुतं तिहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् (२६ । ६)

'जो मन, वचन और वाणी से पाप नहीं करता, जो इन स्थानों में संयम रखता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।' 'माता की योनि से उत्पन्न होने से मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहता, वह तो 'भो-वादी' और अहंकारी है, वह तो संग्रह-शील है। मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ जो अपरिग्रही है और लेने की इच्छा न रखने वाला है।' (धम्म० २६ । १४)

बुद्ध की सफलता

बुद्ध की सफलता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उन की मृत्यु के दो-ढाई सौ वर्ष बाद ही बौद्धधर्म भारत का साम्राज्य-धर्म बन गया। एक हज़ार वर्ष से फैले हुए ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव को इस प्रकार कम कर देना बौद्धधर्म का ही काम था। तलवार लेकर प्रचार करनेवाले इस्लाम और ईसाई धर्मों को भी ऐसी सफलता नहीं मिली। इस का क्या कारण था?

बुद्ध ने कभी ईश्वर की दुहाई नहीं दी। संसार के दूसरे पैग़ंबरों की तरह उन्होंने अपने उपदेशों के लिए ईश्वरीय या स्वर्गीय होने का दावा नहीं किया। उन्होंने अपने श्रोताओं को स्वर्ग की अप्सराओं का लोभ भी नहीं दिखाया। जो मेरे अनुयायी बनेंगे उन पर ईश्वर या कोई और देवता

अनुग्रह करेगा, ऐसा भी उन्हों ने नहीं कहा। अंध विश्वास का उन्हों ने सर्वत्र विरोध किया। उन्हों ने सैदव आत्म-निर्भरता (सेल्फ़-डिपेंडेंस) की शिक्षा दी। "पाप करनेवाले को नदी का जल पवित्र नहीं कर सकता।" गंगा में गोता लगा लेने से स्वर्ग-प्राप्ति का लालच उन्हों ने कभी नहीं दिखलाया। फिर क्यों लोगों ने लालायित होकर उन के उपदेशों को सुना ? क्यों नर-नारी उन के अनुयायी बन गए ?

बुद्ध की सफलता का सब से बड़ा कारण उन का व्यक्तित्व था। बार्थ ने लिखा है—"हमें अपनी कल्पना के सामने एक सुंदर मूर्ति खड़ी कर लेनी चाहिए......शांत और उदात्त; अनंत-करुणामय, स्वतंत्र-बुद्धि और पक्षपात-रहित।' वाद-विवादों और सांप्रदायिक झगड़ों में ँसी हुई मानवजाति को बुद्ध ने सार्वभौम भ्रातृभाव की शिक्षा दी। उन्हों ने कट्टरता का विरोध किया और सहानुभूति का पाठ पढ़ाया। उन के ममता-पूर्ण सच्चे हृदय से निकले हुए उद्‌गार लोगों के हृदय पर सीधा प्रभाव डालते थे। संघ की स्थापना भी बौद्धधर्म के उत्कर्ष का कारण हुई। संघ ने भिक्षुओं के जीवन में नियंत्रण (डिसिप्लिन) ला दिया, जिस का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा।

परंतु बुद्ध की सफलता का सब से बड़ा कारण उन के मुख-मंडल में प्रतिफलित होनेवाली सार्वभौम समवेदना थी, जो दर्शकों को बरबस आकर्षित कर लेती थी और जिस की स्मृति उन के प्रचारकों को बहुत काल तक उत्साह प्रदान करती रही।

द्वितीय भाग

उपोद्घात

दर्शन शास्त्रों का उदय

षड्दर्शनों के उदय का मुख्य कारण वैदिक विचारों का वह विरोध था जो कि बौद्ध, जैन, और जड़वादी विचारकों ने किया। सांप्रदायिक शिक्षक और प्रचारक प्रायः इस तथ्य को भूल जाते हैं कि मतभेद या विरोध के बिना उन्नति नहीं हो सकती। कम से कम विचार-क्षेत्र में—और संसार की सभी महत्वपूर्ण सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं का संबंध विशेष युगों के विचारों से होता है—तर्कपूर्ण आलोचना के बिना उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। आलोचना का हंटर खाकर प्रत्येक मत अपने सिद्धांतों को व्यवस्थित, श्रृंखलित और संगति-पूर्ण बनाने की चेष्टा करता है। ऊपर कहा जा चुका है कि उपनिषदों के उत्तर-कल में और उस के कुछ बाद भारत का वायुमंडल विविध प्रकार के विचार-झोंकों से आंदोलित होने लगा था। भगवद्गीता ने विरोधी आस्तिक विचारों में सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की, लेकिन मतभेद की खाइयां बढ़ती ही गईं और उन का परिणाम षड्दर्शनों का ग्रथन हुआ।

'दर्शन' का अर्थ

साधारण भाषा में 'दर्शन' का अर्थ 'देखना' होता है। दार्शनिक प्रक्रिया का उद्देश्य समस्त ब्रह्मांड को एक साथ देखना अथवा 'संपूर्ण दृष्टि' प्राप्त करना कहा जा सकता है। भिन्न-भिन्न विज्ञान अथवा शास्त्र विश्व-ब्रह्मांड का आंशिक अध्ययन करके, जगत को किसी विशेष दृष्टिकोण से देख कर, संतुष्ट हो जाते हैं। परंतु दार्शनिक विचारक संसार की किसी घटना का निरादर नहीं कर सकता। वह विश्व को सब पहलुओं से देखना और समझना चाहता है। वह फूलों के रंग अथवा गंध अथवा पराग और केसर

को ही नहीं देखता; वह उस के सौंदर्य और मोहकता पर भी ध्यान देता है। प्रकृति सुंदर क्यों लगती है? इस प्रश्न का उत्तर कवि से नहीं, दार्शनिक से माँगना चाहिए। वस्तुतः सौंदर्य का दार्शनिक विश्लेषण प्राचीन दार्शनिकों ने नहीं किया, यह उन की कमी थी। आजकल के दर्शनशास्त्र में सौंदर्य-विज्ञान को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

संस्कृत के दर्शन शास्त्रों का नाम लेते समय हमें दर्शन के इस व्यापक अर्थ को संकुचित करना पड़ता है। 'न्याय-दर्शन' का अर्थ वह दृष्टि या 'विश्व-संबंधी सिद्धांत' है जो किसी ऋषि और उस के अनुयायियों ने मनन करके प्राप्त किए। प्रत्येक दार्शनिक की 'संपूर्ण दृष्टि' या 'संपूर्णता की दृष्टि' औरों की दृष्टि से कुछ अलग होती है। विश्व-ब्रह्मांड को सब एक ही तरह नहीं देखते। विभिन्न ऋषियों और विचारकों की इन्हीं 'दृष्टियों' का वर्णन विभिन्न शास्त्रों में है।

दर्शन-शास्त्रों के प्रणेता

परंतु इस का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि एक दर्शन-शास्त्र एक ही व्यक्ति की रचना है। इस का अर्थ तो यह होगा कि भारतीय इतिहास में पंद्रह-बीस आस्तिक और नास्तिक विचारकों से ज़्यादा पैदा नहीं हुए। यथार्थ बात यह है कि जहाँ प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व अलग होता है वहां विभिन्न व्यक्तियों में समता भी पाई जाती है। यदि ऐसा न होता तो संसार में मतभेद का अंत न होता और समाज की सत्ता असंभव हो जाती। सामाजिक संस्थाओं का आधार मनुष्यों के पारस्परिक भेदों के पीछे पाई जाने वाली एकता ही है। यह एकता कितनी तात्विक है और कितनी आकस्मिक, इस का निर्णय करना भी दर्शन-शास्त्र का ही काम है। जिन्हें हम दर्शन-शास्त्र कहते हैं उन में से प्रत्येक का पूर्ण ग्रथन और पुष्टि सहस्रों विचारकों एवं लेखकों द्वारा हुई है। भारत में ऐसा होने का कारण यहां के विचारकों में यश-लोलुपता का अभाव

था। यहां पर शंकर, रामानुज, वाचस्पति जैसे धुरंधर दार्शनिकों ने भी अपने को टीकाकार कह कर संतोष कर लिया और मौलिक होने का दावा नहीं किया। इस प्रकार भारतीय दर्शनशास्त्रों की रचना का श्रेय व्यक्ति-विशेषों को न होकर संपूर्ण हिंदू जाति को प्राप्त हो गया है।

दर्शनशास्त्रों की आलोचनात्मक शैली-प्रमाण-परीक्षा

भारतीय मस्तिष्क के आलोचनात्मक होने का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि यहां के दर्शनों में 'प्रमाण-परीक्षा' को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। न्याय-दर्शन में प्रमाणों का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। वेदांत-परिभाषा जैसे आधुनिक ग्रंथों में भी यही बात पाई जाती है। हम क्या जान सकते हैं और किस हद तक जान सकते हैं ; हमारे ज्ञान की सीमा है या नहीं; ज्ञान के सच्चे और झूठे होने की परीक्षा कैसे हो, आदि प्रश्नों का विवेचन दर्शन-शास्त्र की एक विशेष शाखा में होता है। अंग्रेज़ी में इस शाखा को 'एपिस्टेमालोजी' कहते हैं। संस्कृत में यह शाखा कई अंगों में विभक्त है। इस शास्त्र के, भारतीय मत में, मुख्य प्रश्न यह है:—

१—प्रमाण अथवा ज्ञान-प्राप्ति के साधन क्या हैं और कितने हैं? इस विषय की आलोचना को 'प्रमाण-परीक्षा' कहते हैं।

२—ज्ञान की प्राप्ति और प्राप्ति के बाद प्रामाण्य का ज्ञान एक ही साधन से होता है या भिन्न-भिन्न साधनों से? इस विचार को 'प्रामाण्य वाद' कहते हैं। प्रामाण्यवाद पर नैयायिकों और मीमांसकों में बड़ी कलह रही है। यह दर्शन-शास्त्र की टेढ़ी खीर है। आधुनिक योरुपीय दार्शनिकों में भी इस विषय में कठिन मत-भेद है।

३—ज्ञान का स्वरूप क्या है? ज्ञान आत्मा का गुण है या आत्मा का स्वरूप ही है? इस विचारणा को 'संवित्-शास्त्र' कह सकते हैं। संवित् का अर्थ है ज्ञान। इस विवाद में मुख्य प्रतिपक्षी नैयायिक और वेदांती हैं।

भारतीय दर्शनशास्त्र में प्रमाण एक से लेकर आठ तक माने

गए हैं। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है; बौद्ध लोग अनुमान को भी मानते हैं; आस्तिक विचारक श्रुति या शब्द की गिनती भी प्रमाणों में करते हैं। नैयायिकों ने उपमान को अलग प्रमाण माना है। प्रभाकर और कुमारिल अर्थापत्ति नाम का अलग प्रमाण मानते हैं, इत्यादि। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, यह तीन प्रमाण मानते हैं।

प्रमाणों की संख्या

इंद्रिय-जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि का ज्ञान। व्याप्ति-जन्य ज्ञान अनुमान कहलता है। यथार्थवादी आप्त-वाक्य को शब्द-प्रमाण कहते हैं। सारे आस्तिक विचारक श्रुति अर्थात् वेद को प्रमाण मानते हैं। तथापि पूर्वमीमांसा और वेदांत में श्रुति का विशेष महत्त्व है। न्याय और वैशेषिक तो नाममात्र को ही श्रुति के अनुयायी हैं। उन के परमाणुवाद जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का मूल श्रुतियों अर्थात् उपनिषदों में नहीं पाया जाता। यहां दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए। एक यह कि आस्तिक का अर्थ, भारतीय दर्शन-शास्त्र में, श्रुति को माननेवाला है। दूसरे श्रुति से तात्पर्य प्रायः उपनिषदों से होता है। वेद के संहिता-भाग का दार्शनिक-क्षेत्र में विशेष महत्त्व नहीं है। आरंभ में शब्द-प्रमाण से तात्पर्य श्रुतियों से ही था। बाद को किसी भी 'यथार्थवक्ता' के वाक्य को शब्द- प्रमाण कहा जाने लगा।

यहां प्रश्न यह उठता है कि क्या दर्शनशास्त्र में शब्द को प्रमाण मानना उचित है? जो ग्रंथ और जो व्यक्ति एक के लिए आप्त हैं वे दूसरे के लिए अनाप्त या अप्रमाण हो सकते हैं। आप्तता का निर्णय करने की हमारे पास कोई कसौटी नहीं है। योरुपीय दार्शनिकों ने, कम से कम आजकल के स्वतंत्र-चेता विचारकों ने, शब्द को प्रमाण न मान कर उसे विचार-स्वातंत्र्य में बाधक माना है। इस के विपरीत भारतीय विचारकों ने

ऋषियों के कथन को सदैव महत्त्व दिया है। इस विरोध के वातावरण में हमें शब्द-प्रमाण की उपयोगिता पर कुछ गंभीरता से विचार करना चाहिए।

'शब्द' का व्यवहार दो अर्थों में होता है। शब्द उस ध्वनि को कहते हैं जो कानों से सुनाई देती है और जिसे नैयायिक आकाश का गुण बताते हैं। दर्शन-शास्त्र में शब्द-प्रमाण का इन ध्वनियों से विशेष संबंध नहीं है। वर्णात्मक ध्वनियां जिस अर्थ की अभिव्यक्ति करती हैं वही शब्द-प्रमाण से अभिप्रेत है। जैसा कि हम कह चुके हैं प्रारंभ में शब्द का अर्थ प्राचीन विश्वासों को लिखित रूप में प्रकट करनेवाले ग्रंथ समझा जाता था। बाद को शब्द की व्याख्या कुछ आलोचनात्मक हो गई। शब्द-प्रमाण कहे जानेवाले ग्रंथो में प्राचीनता के अतिरिक्त 'संगति' का गुण भी होना चाहिए। श्रुतियों को परस्पर-विरोधी नहीं होना चाहिए।

यह मानना ही पड़ेगा कि बिना शब्द-प्रमाण के सभ्य संसार का काम नहीं चल सकता। अपने जीवन में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक बात का अनुभव नहीं कर सकता। हमें पद-पद पर दूसरों के लिखित अनुभव पर विश्वास करना पड़ता है। लेकिन इस का अर्थ यह नहीं है कि हम दूसरों की बात को अंधे बनकर मान लें, अथवा अपने अनुभव से उस की परख न करें। अपनी बुद्धि से काम लेना छोड़ देने की सलाह कोई बुद्धिमान् मनुष्य नहीं दे सकता। इस लिए जब भारतीय विद्वानों ने शब्द को प्रमाण माना तो उस के साथ कुछ शर्तें लगादीं। जिन-जिन आचार्यों ने श्रुतियों को प्रमाण माना है उन्हों ने अपने-अपने भाष्यों द्वारा यह दिखाने की कोशिश भी की है कि सारी श्रुतियां एक ही दार्शनिक सिद्धांत की शिक्षा देती हैं। अदालत में उस साक्षी की गवाही ज़्यादा प्रबल मानी जाती है जो आदि से अंत तक अपने कथन में संगति दिखा सकता है और जो 'वदतो व्याघात' (आप अपना खंडन या विरोध करने) के दोष से बचा रहता है। दार्शनिक पंडितों ने यही शर्त श्रुतियों पर भी लगा दी।

विरोधी श्रुतियों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए वेदांत-सूत्रों की रचना हुई जिन पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भाष्य लिखे।

संगति या सामंजस्य के अतिरिक्त शब्द-प्रमाण में कुछ और भी विशेषताएं होनी चाहिए। एक शर्त यह है कि श्रुति या आप्त-द्वारा बतलाई गई बात संभव हो। यदि श्रुति कहे कि आकाश में फूल लगते हैं या ख़रगोश के सींग होते हैं तो नहीं माना जा सकता। शब्द-प्रमाण की शिक्षा को बुद्धि-विरुद्ध भी नहीं होना चाहिए। तीसरे, शब्द-प्रमाण को ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डालना चाहिए जिन तक दूसरे प्रमाणों की पहुँच नहीं है। जहां प्रत्यक्ष और अनुमान की सहायता से पहुँचा जा सकता है वहां शब्द का आश्रय लेना व्यर्थ है। शास्त्रीय भाषा में श्रौत सत्य को 'अलौकिक' होना चाहिए। यहां मतभेद की संभावना स्पष्ट है। कुछ लोग किसी तथ्य को अलौकिक कहेंगे, कुछ उसे अन्य प्रमाणों का विषय बता देंगे। नैयायिक लोग ईश्वर की सिद्धि अनुमान से करते हैं जब कि सांख्यकार का मत है कि ईश्वर प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता।

शब्द-प्रमाण का महत्त्व भारतवर्ष में एक दूसरे कारण से भी माना गया है। भारतीयों का विश्वास है कि केवल तर्क से तत्त्वज्ञान नहीं मिल सकता। तत्त्व-दर्शन और तत्त्वज्ञान के लिए साधना की अपेक्षा है, मानसिक पवित्रता की आवश्यकता है। जिन ऋषियों ने सब प्रकार के मतों से मुक्ति पा ली थी उन की दृष्टि विश्व के रहस्यों को देखने में ज़्यादा समर्थ थी। ऋषि सत्यवादी थे, उन्हों ने जो जैसा देखा वैसा कह दिया। इस लिए उन में अविश्वास करने का अवसर बहुत कम है। वस्तुतः कठिनाई तब पड़ती है जब विभिन्न ऋषि विभिन्न सिद्धांतों का उपदेश करने लगते हैं। सत्य एक ही हो सकता है, इस लिए दो विरोधी सिद्धांत एक साथ सच्चे नहीं हो सकते। फिर भी यह उचित ही है कि आध्यात्मिक अनुभवों का आदर किया जाय और उन पर गंभीरता-पूर्वक विचार किया जाय। दर्शन-शास्त्र में किसी समस्या के ठीक रूप तक पहुँचना उतना ही महत्वपूर्ण है

जितना कि किसी समस्या का हल या समाधान पा जाना। भारतीय दर्शन-शास्त्र की बहुत सी समस्याओं का उद्गम उपनिषदों से हुआ। पुन-र्जन्म जैसा महत्वपूर्ण सिद्धांत भारत में शब्द-प्रमाण के आधार पर ही माना जाता है। हर्ष की बात है कि आज कल के योरपीय विचारकों का ध्यान भी इस की ओर गया है। 'साइकिकल रिसर्च' की सोसाइटियां पुन-र्जन्म सिद्ध करने का प्रयत्न कर रही हैं।

इन सब बातों पर विचार करते हुए यह कहना ठीक न होगा कि शब्द-प्रमाण को मान कर भारतीय विचारकों ने अपनी स्वतंत्रता कम कर ली। यह दोषारोपण कुछ हद तक ही ठीक हो सकता है। वास्तव में उपनिषदों में पाए जानेवाले विचारों और संकेतों की बहुलता के कारण यहां के दार्शनिकों को तरह-तरह के सिद्धांतों का आविष्कार करने में कोई अड़चन नहीं पड़ी। न्याय और सांख्य के विचारों में कुछ भी समानता नहीं है। नैयायिक लोग तो शब्द-प्रमाण को यों भी विशेष महत्व नहीं देते। वे ईश्वर, जीव, अदृष्ट आदि को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण का ही आश्रय लेते हैं। वेदों के विषय में भारतीय विचारकों ने क़ाफ़ी स्वतंत्रता से काम लिया है। मीमांसक उन्हें अपौरुषेय मानते हैं, जिस का अर्थ है कि वेद ईश्वर के भी बनाए हुए नहीं हैं। नैयायिक वेदों को ईश्वर-कृत मानते हैं। वेदांती उन्हें ब्रह्म से ऋषियों के हृदय में अभिव्यक्त हुआ बतलाते हैं। सारांश यह कि 'वेदों ने भारतीय मस्तिष्क को स्वतंत्र विचरण करने से रोका' यह कथन एक छोटे अंश तक ही ठीक कहा जा सकता है। दर्शनों की निर्भीक विचार-शैली इस के विरुद्ध साक्षी देती है।

दार्शनिक सूत्र

सांख्य को छोड़ कर सब दर्शनों के प्राचीन सूत्र पाए जाते हैं। सांख्य-सूत्र भी हैं, परंतु उन की रचना बहुत बाद को हुई है। सांख्य-दर्शन की सब से प्राचीन

पुस्तक 'सांख्यकारिका' है जिस के रचयिता ईश्वर कृष्ण हैं। सूत्रों के समय के विषय में बहुत मत-भेद है। यदि महाभाष्यकार पतंजलि और योगसूत्र के रचयिता पतंजलि एक हों तो योग-दर्शन का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० ठहरता है। परंतु कुछ विद्वानों का अनुमान है कि दोनों पतंजलि एक नहीं हैं। प्रोफ़ेसर कीथ का मत है कि मीमांसा-सूत्र सब सूत्रों से पुराने हैं। परंतु वेदांत-सूत्रों में जैमिनि का नाम आता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वे बादरायण के समकालीन थे। इसी प्रकार पूर्व-मीमांसा में उत्तर मीमांसाकार के प्रति संकेत है। इस अवस्था में उन के आपेक्षिक समय का निर्णय करना कठिन हो जाता है। कुछ लोग (जैसे श्री नंदलाल सिंह) वैशेषिक सूत्रों को सब से प्राचीन मानते हैं। मैक्स-मूलर के मत में न्याय-दर्शन वैशेषिक से प्राचीन है। श्री नंदलाल सिंह का कथन है कि न्याय-दर्शन में 'अनुमान' का ज़्यादा विशद वर्णन है इस लिए वह वैशेषिक के बाद की रचना है (देखिए वैशेषिक-सूत्र, भूमिका, पाणिनि आफ़िस से प्रकाशित)। न्याय में हेत्वाभासों का भी अधिक सुंदर विवेचन है। उक्त विद्वान् के मत में तो वैशेषिक का समय छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी ई० पू० तक हो सकता है।

परंतु योरुपीय विद्वान् सूत्रों को इतना प्राचीन मानने से हिचकते हैं। मीमांसा को छोड़ कर लगभग सभी सूत्रों में शून्यवाद और विज्ञान-वाद का खंडन पाया जाता है। इन दोनों मतों का प्रतिपादन-काल ईसा के बाद बतलाया जाता है। इस हिसाब से सूत्रों की रचना का समय तीसरी-चौथी शताब्दी ईसवी तक हो सकता है। प्रोफ़ेसर हिरियन्ना सूत्रों का समय, याकोबी के अनुरोध से, २००—५०० ईसवी मानते हैं। सूत्रों का समय कुछ भी हो हमें यह याद रखना चाहिए कि सूत्रोक्त सिद्धांत सूत्रों की रचना से कहीं प्राचीन हैं। सूत्रकारों ने उन प्राचीन सिद्धांतों को शृंखलाबद्ध अवश्य कर दिया। इस का अर्थ यह है कि न्याय सूत्रों से पहले भी न्याय के सिद्धांत भारतवर्ष में प्रचलित थे जिन के आविष्कर्ता,

कुछ हद तक, एक विशेष ऋषि हो सकते हैं। जिन ऋषियों ने भी सूत्र बनाए होंगे उन्हों ने उन्हें प्राचीन सिद्धांतों के आधार पर ही लिखा होगा। यदि वस्तुतः न्यायसूत्र गोतम ऋषि ने बनाए, तो भी उन्हें सूत्रोक्त सिद्धांतों का आविष्कर्ता मानना आवश्यक नहीं है, तथापि यह सर्वथा संभव है कि उन्हों ने न्याय-सिद्धांतों में बहुत कुछ संशोधन और परिवर्धन किया।

नास्तिक दर्शन

षडदर्शनों के अतिरिक्त इस भाग में बौद्धों के चार दर्शनिक संप्रदायों का वर्णन भी किया जायगा। इन चारों में यदि हम चार्वाक-दर्शन और जैन-दर्शन जोड़ दें तो आस्तिक दर्शनों की भाँति नास्तिक दर्शनों की संख्या भी छः हो जाती है। यह नहीं कहा जा सकता कि नास्तिक दर्शनों का महत्व आस्तिक दर्शनों से कम है। आधुनिक काल में बौद्ध दर्शनों, विशेषतः शून्यवाद और विज्ञानवाद का महत्व बढ़ गया है। वास्तव में भारतवर्ष को दोनों ही कोटि के विचारकों पर गर्व होना चाहिए। यह मानना ही पड़ेगा कि श्रुति का बंधन न होने के कारण नास्तिक दर्शनों में अधिक स्वच्छंदता और साहस पाया जाता है। आस्तिक विचारकों की स्वतंत्र तर्कशैली का भी बहुत कुछ श्रेय बौद्ध विचारकों को है। क्योंकि वे श्रुति को नहीं मानते थे इस लिए आस्तिकों को उन का सामना करने में अपनी युक्तियों को तेज़ करना पड़ा। दर्शनों के युक्ति-प्रधान होने का एक और कारण भी है। विभिन्न आस्तिक संप्रदाय एक-दूसरे की कड़ी आलोचना किया करते थे जिस के कारण हर संप्रदाय की कमज़ोरियां एवं विशेषताएं अच्छी तरह प्रकट हो जाती थीं। प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने भारतीय विचारकों की निर्भीकता और स्पष्टता की भूरि-भूरि प्रसंशा की है। भारत के दार्शनिक अपने सिद्धांतों के अप्रिय परिणामों को निर्भय होकर स्वीकार कर लेते हैं। वे किसी भी दशा में विपक्षी से समझौता नहीं करते और न अपने मत को रूपक की अस्पष्ट भाषा में प्रकट करके छिपाना ही चाहते हैं।

दर्शनों में जहां भेद है वहां कहीं-कहीं एकता भी है। सब से बड़ी समानता व्यावहारिक है। साधना के विषय में

कुछ सामान्य सिद्धांत

दर्शनों में विरोध बहुत कम है। सभी दर्शन (आस्तिक और नास्तिक) यौगिक क्रियाओं, प्राणायाम आदि का महत्व स्वीकार करते हैं; इंद्रिय-दमन और मनोनिग्रह की आवश्यकता को सब मानते हैं। 'किए हुए का फल अवश्य मिलता है' इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है। आस्तिक दर्शन सभी आत्मसत्ता में विश्वास रखते हैं और श्रुति का सम्मान करते हैं। बौद्धों के दो संप्रदाय (सौत्रांतिक और वैभाषिक) तथा न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग और दोनों प्रमुख मीमांसक (कुमारिल और प्रभाकर) बाह्य जगत की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास रखते हैं। श्री शंकराचार्य भी जगत को स्वप्न से विलक्षण मानते हैं। श्री रामानुजाचार्य, श्री वल्लभाचार्य, श्री मध्वाचार्य सभी जगत की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के अधिकांश दार्शनिक, आधुनिक परिभाषा में, यथार्थवादी (रियलिस्ट) हैं।

वेदांत और मीमांसा को छोड़ कर अन्य दर्शनों में व्यावहारिक आलोचनाएं नहीं पाई जातीं। इस का कारण यह है कि भारतवर्ष में आचारशास्त्र पर स्वतंत्र ग्रंथों में विचार किया गया है, जिन्हें स्मृति-ग्रंथर कहते हैं। कर्त्ता कर्म करने में स्वतंत्र है या नहीं यह प्रश्न भारत में गंभीरतापूर्वक कभी नहीं उठाया गया। पाणिनि का एक सूत्र—स्वतंत्रः कर्त्ता—स्वतंत्रता कर्ता के लक्षण का अंग बतलाता है। जो स्वतंत्र नहीं है उसे कर्ता ही नहीं कह सकते। भारतीय दार्शनिकों ने कर्ता की स्वतंत्रता और पुरुषार्थ की प्रयोजनीयता में कभी अविश्वास नहीं किया। गीता का उपदेश है, उद्धरेदात्मनात्मानं, अर्थात् आप अपना उद्धार करे। बुद्ध ने भी ऐसी ही शिक्षा दी थी। वेदांत-सूत्र में एक जगह कर्ता के स्वातंत्र्य पर विचार किया गया है। वहां परिणाम यही निकाला गया है कि यद्यपि ईश्वर को प्रेरक कहा जा सकता है, पर ईश्वर की प्रेरणा कर्त्ता के प्रयत्न-सापेक्ष

होती है। सामाजिक कर्तव्यों पर भारतीय बिचार देखने के लिए स्मृति-ग्रंथों को पढ़ना चाहिए।

द्वितीय भाग की प्रगति

पुस्तक के इस भाग में हम पहले बौद्धों के चार दार्शनिक संप्रदायों का वर्णन करेंगे। फिर न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा के दो संप्रदायों के विषय में लिखेंगे। दो-दो दर्शनों को एक ही अध्याय में देने के दो कारण हैं। एक तो यह कि उक्त दर्शनों के विचारों में सैद्धांतिक मतभेद बहुत कम है। न्याय और वैशेषिक एवं सांख्य और योग एक-दूसरे के पूरक हैं। दूसरे ऐतिहासिक दृष्टि से भी उन में घनिष्ट संबंध रहा है। फिर भी विद्यार्थियों की सुविधा के लिये अध्याय के आरंभ में दोनों दर्शनों का सामान्य परिचय देकर, बाद में उनके विशेष सिद्धांतों का पृथक् पृथक् निरूपण किया गया है। इस के बाद हम वेदांत के विभिन्न आचार्यों का मत लेंगे। इन आचार्यों में गंभीर मतभेद है। समानता इतनी ही है कि यह सब ख़ास तौर से श्रुति पर निर्भर रहते हैं और सब ने प्रस्थानत्रयी अर्थात् उपनिषद् भगवद्‌गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे हैं। हरेक ने यह दिखलाने की कोशिश की है कि प्रस्थानत्रयी में उसी के मत का प्रतिपादन और समर्थन पाया जाया है। अंत में भारत की आधुनिक दार्शनिक प्रगति पर दृष्टिपात करके हम ग्रंथ समाप्त करेंगे।

पहला अध्याय

बौद्धधर्म का विकास—दार्शनिक संप्रदाय

किसी भी युग-प्रवर्तक और धर्म-शिक्षक की वाणी संकेतपूर्ण और काव्यमयी होती है। वह अपने युग के बहुत से मनुष्यों को प्रभावित करती है और तरह-तरह के मस्तिष्कों को वश में कर लेती है। धर्म-प्रवर्तकों के मोहक व्यक्तित्व के सामने मानस-शास्त्र की दृष्टि से भिन्न स्वभाव के पुरुष भी एकता के जाल में फँस जाते हैं। परंतु उस महापुरुष के मरते ही उस के अनुयायियों के आंतरिक भेद प्रकट होने लगते हैं। उस के वचनों एवं उपदेशों की अनेक प्रकार से व्याख्या की जाती है और एक धर्म के अंतर्गत, एक ही नामधारी, अनेक धर्म या दार्शनिक संप्रदाय चल जाते हैं। संसार के हर देश के इतिहास में ऐसा ही हुआ है। अफ़लातून और अरस्तू के दार्शनिक विचारों की व्याख्या में क़ाफ़ी मतभेद रहा है। भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषदों के तो अनेक भाष्य प्रसिद्ध ही हैं। जैनियों के दो संप्रदाय हैं; ईसाइयों के भी दो दल हैं। आधुनिक काल में हीगल और कांट की अनेक व्याख्याएं हो चुकी हैं।

आंतरिक भेद

बुद्ध के मरने के बाद उन के अनुयायियों में भी तीव्र मतभेद फैल गया। प्रोफ़ेसर कीथ का अनुमान है कि बुद्ध के बाद बौद्धों के कम से कम अठारह संप्रदाय बन गए थे। परंतु इतने संप्रदायों के विषय में न तो बहुत जानकारी ही है न उन का वर्णन महत्वपूर्ण है। उत्तर-कालीन बौद्धधर्म के दो ही प्रमुख संप्रदाय हैं—हीनयान और महायान। यान का अर्थ यात्रा का साधन या मार्ग समझना चाहिए। यह स्पष्ट है कि 'हीनयान' नाम महायान संप्रदाय वालों का दिया हुआ है।

हीनयान संप्रदाय को थेरवाद या स्थविरवाद अथवा वृद्धों का संप्रदाय भी कहते हैं। हीनयान-पंथी अपने मत को बुद्ध की सच्ची शिक्षा मानते हैं। उन का कथन है कि 'त्रिपिटक' ग्रंथ उन्हीं के मत का पोषण करते हैं।

बुद्ध जी की वास्तविक शिक्षा क्या है यह निर्णय करने के लिए उन की मृत्यु के कुछ ही काल बाद राजगृह में एक सभा हुई जिस में धर्म और विनय का स्वरूप स्थिर किया गया। लगभग सौ वर्ष बाद दूसरी सभा वैशाली में हुई जिस में स्थविर-पक्ष या वृद्ध-पक्ष की जीत हुई। परंतु पराजित महासंघिकों ने सभा के निर्णय को नहीं माना। दोनों का विरोध चलता ही रहा। यह विरोध आगे चल कर हीनयान और महायान के भेद में पल्लवित हुआ।

तीसरी सभा सम्राट् अशोक के समय में हुई। उस समय तक बौद्धों में अनेक संप्रदाय बन चुके थे। बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार और प्रसार अशोक के समय में हुआ। यह प्रसिद्ध ही है कि कलिंग-विजय के बाद सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। अशोक ने संपूर्ण भारत में बुद्ध जी के उपदेशों को प्रचारित किया; साथ ही लंका, सीरिया, मिश्र और यूनान में भी अपने शिक्षकों को भेजा। लंका में तो अशोक ने अपने पुत्र या भाई महेंद्र को ही भेजा था। अशोक के प्रयत्नों से बौद्धधर्म, हिंदू-धर्म की एक शाखा न रह कर विश्वधर्म बन गया। अशोक ने बौद्ध-धर्म को और बौद्ध-धर्म ने अशोक को अमर बना दिया। तीसरी शताब्दी ई० पू० में ही बौद्ध-धर्म नेपाल, तिब्बत, मंगोलिया, चीन और जापान में प्रवेश कर चुका था।

अशोक के बाद बहुत काल तक उत्तर भारत में जो सम्राट् हुए उन्हों ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया। यह सम्राट् यवन, शक, कुशन आदि जातियों के थे। लगभग एक हज़ार वर्ष तक बौद्धधर्म भारत में विजयी होता रहा, इस के बाद गुप्तवंश के आधिपत्य में हिंदूधर्म की उन्नति और बौद्धधर्म का पतन होने लगा। सातवीं शताब्दी में कुमारिल

ने बौद्धधर्म का तीव्र खंडन किया। इस के बाद शंकराचार्य ने बौद्धों के बचे हुए प्रभाव को भी नष्ट कर डाला।

बौद्धधर्म के दो संप्रदाय प्रसिद्ध हैं, हीनयान और महायान। लंका (सीलोन) और वर्मा के लोग अभी तक हीनयान के अनुयायी हैं। चीन और जापान में महायान का प्रभुत्व है। दोनो में भेद क्या है?

हीनयान का वर्णन

हीनयान-मत का विश्वास पाली ग्रंथों में है; महायानों ने पाली ग्रंथों की और पाली-भाषा की विशेष परवाह न कर के संस्कृत में ग्रंथ-रचना की। हीनयानों का मोक्ष 'विज्ञान-संतान' का रुक जाना अथवा चेतना का नाश हो जाना है। हीनयान क्षणिकवादी हैं। निर्वाण को 'प्रति-संख्या-निरोध' भी कहते हैं। पाटक इस लंबे-चौड़े शब्द का अर्थ याद रक्खें। प्रतिसंख्या का अर्थ है प्रतीप या विपरीत बुद्धि। विज्ञान-प्रवाह की नाशक बुद्धि या बोध अथवा ज्ञान को 'प्रतिसंख्या' कहते हैं। इस से विज्ञानों के रुक जाने को 'प्रतिसंख्या-निरोध' कहते हैं। जो कि जीवन का लक्ष्य है। ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे कारणों से (जैसे गहरी नींद में) जो चेतना-प्रवाह रुक-सा जाता है उसे 'अप्रतिसंख्यानिरोध' कहते हैं। 'जो भाव सत् हैं उन्हें असत् कर दूँ यह बुद्धिप्रतिसंख्या है' (देखिये शांकर भाष्य पर रत्नप्रभा—२। २। २२)।

आत्मा और संसार दोनों झूठे हैं, मिथ्या हैं। मोक्षार्थी को किसी से प्रेम नहीं करना चाहिये। तीव्र वैराग्य और कठिन तपस्या अर्हत् बनने के लिये अनिवार्य हैं। अर्हत् से तात्पर्य हिंदुओं के जीवन्मुक्त से है। अर्हत् को स्वयं अपना निर्वाण या मोक्ष-साधन करना चाहिये। मुमुक्षु को किसी से मतलब नहीं रखना चाहिए; कुछ संग्रह नहीं करना चाहिये; जनसंसर्ग से सर्वथा बचना चाहिए। संसार को पवित्र बनाने की अभिलाषा करना उचित नहीं है। अपने को मुक्त कर लेना ही

सब से बड़ा काम है। हीनयान बौद्धों ने बुद्ध जी के उदार जीवन और उस से मिलनेवाली शिक्षाओं को भुला दिया। वैयक्तिक पवित्रता और तपस्या पर उन्हों ने ज़ोर दिया, यह अच्छी बात थी। परंतु संन्यासी के जीवन से पीड़ित मानवता के प्रेम का बहिष्कार करना ठीक नहीं कहा जा सकता।

हीनयानों के दार्शनिक सिद्धांत भी महायान से भिन्न हैं, इन पर हम बाद को दृष्टिपात करेंगे। संक्षेप में कहें तो हीनयान यथार्थवादी, अनेकवादी और नैरात्म्यवादी हैं।

महायान का अभ्युदय हीनयानों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का फल था।

महायान का वर्णन

हीनयान भिक्षुओं के कठिन तपश्चरणों से लोग विरक्त होने लगे। अशोक से कनिष्क के काल तक जो प्रवृत्तियां छिपे-छिपे काम कर रही थीं वे महायान के रूप में परिणत हो गईं। हीनयान धर्म में हृदय और उस के मनोवेगों के लिये स्थान न था; प्रेम और भक्ति के लिए जगह न थी। मनुष्य के इतिहास में यह अक्सर देखा जाता है कि अतिशय बुद्धिवाद के बाद एक ऐसा युग आता है जिस में भावनाओं को प्रधानता दी जाती है। शंकराचार्य के बाद रामानुज का आना कुछ ऐसा ही था। महायानों का दावा है कि वे ही बुद्ध के वास्तविक उत्तराधिकारी हैं; बुद्ध जी की शिक्षा के हृदय को उन्हों ने ही पहचाना है। उन का दर्शन हीनयानों की तरह, अभावात्मक नहीं है। महायान धर्म ने प्रेम और भक्ति के लिए स्थान बनाने की कोशिश की। यहां ईश्वर, आत्मा और निर्वाण सब की धारणाएं भावात्मक हो गईं। इस में संदेह नहीं कि बौद्धधर्म के इस परिवर्तन में अन्य धर्मों से आए हुए अनुयायियों का क़ाफ़ी हाथ था। इन लोगों ने बुद्ध की शिक्षा में कुछ विजातीय अंश मिला कर उसे जनता के लिए रुचिकर बना दिया।

बुद्ध को भगवान बुद्ध बना दिया। उन्हें 'धर्मकाय' का नाम दिया गया। धर्म का मूर्त स्वरूप ही भगवान् बुद्ध हैं। सर्वव्यापिनी आध्यात्मिक शक्ति ही धर्म है। वही आदि बुद्ध है। यही महायानों का ब्रह्म है। इसी का अवतार बुद्ध हैं। प्रत्येक व्यक्ति 'बुद्ध' बन सकता है, इस लिए बुद्ध अनेक हैं। ऐतिहासिक बुद्ध आदिबुद्ध या धर्मकाय की, जो कि एक-मात्र तत्व है, अभिव्यक्ति मात्र हैं। धर्मकाय देश-काल की उपाधियों से मुक्त है। निर्वाण का अर्थ शून्यता नहीं, बल्कि आदि-बुद्ध की पवित्रता को प्राप्त करना है। धर्मकाय जब नामरूप धारण कर लेता है तो उसे 'संभोगकाय' कहते हैं। वेदांत में इन्हें क्रमशः ब्रह्म और ईश्वर कहा गया है। धर्मकाय से बोधिसत्वों की उत्पत्ति होती है। महायान ने अर्हत् के आदर्श के बदले जो संसार विमुख रह कर अपनी मोक्ष के साधनों में लगा रहता है, "बोधिसत्व" का आदर्श रक्खा।[१] हिंदू धर्म के अवतारों की तरह संसार के कल्याण के लिए धर्मकाय से 'बोधिसत्व' उद्भूत् हैं।[२] बुद्ध संसार में अपने लिए साधना करने नहीं आए। दुःखितों का प्रेम ही उन के अवतार का कारण हुआ। बोधिसत्व अविराम संसार के मोक्ष के लिए प्रयत्न करते हैं और वे अकेले आप मुक्त होने से इन्कार कर देते हैं। 'जब तक संसार दुःख से मुक्त न होगा, हम भी अपना निर्वाण स्वीकार नहीं करेंगे', यह बोधिसत्वों की प्रतिज्ञा है। सिर्फ़ अपने आनंद का ध्यान रखना बोधि-सत्वों ने नहीं सीखा। बोधिसत्वों में स्वार्थ का लेश नहीं होता। संसार में कुछ दिन ठहर कर बोधिसत्व फिर बुद्ध भाव को प्राप्त हो जाते हैं। इन देव-भावापन्न बुद्धों का संसार में अवतार होने पर उन्हें "निर्माणकाय" कहा जाता है। अमिताभ, अवलोकितेश्वर आदि

---

[१] आनंद कुमारस्वामी, पृ० २२९

[२] वही, पृ० २३९

अन्य बुद्धों के नाम हैं जो कि देवभावापन्न अवस्था में ऐतिहासिक बुद्ध के साथ रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महायान धर्म में हिंदूधर्म की सभी चीजें वर्तमान हैं। बौद्धधर्म ने हिंदूधर्म का रोचक रूप धारण करके उन्नति की और फिर हिंदूधर्म के लगभग समान हो जाने के कारण अपना आकर्षण खो दिया। भारतवर्ष से बौद्धधर्म के लोप हो जाने का एक कारण यह भी था। उधर ब्राह्मणों ने बुद्ध को अपना अवतार मान लिया, इधर महायानों ने हिंदूधर्म का विरोध छोड़ दिया और रामकृष्ण की पूजा की वैधता तक स्वीकार कर ली।[1] वैष्णवधर्म और शैवधर्म का उदय होने पर महायान में कोई विशेषता नहीं रह गई। भिक्षुओं का उत्साह भी कम हो गया; उन के जीवन की पवित्रता कम हो गई। संघ कमज़ोर पड़ गया। इन्हीं कारणों से बौद्धधर्म का ह्रास हुआ।

बौद्धधर्म का विकास और ह्रास वास्तव में भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास का विषय है। यहां उन का थोड़ा-सा वर्णन ऐतिहासिक तारतम्य को सुबोध बनाने के लिए किया गया है। इस के आगे बौद्धों के दार्शनिक संप्रदायों का वर्णन होगा।

मनुष्य में दार्शनिक चिंतन की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इस का प्रमाण यह है कि बुद्ध जी के अनुयायी उन की चेतावनी को भूल कर दार्शनिक प्रश्नों में उलझने लगे। विश्व शाश्वत है या अशाश्वत; सीमित है या असीमित? आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न? मृत्यु के बाद ज्ञात अथवा बुद्ध पुरुष जीवित रहता है या नहीं? इत्यादि प्रश्नों पर चिंतन करना बुद्ध जी को उचित नहीं लगता था। हमें पीड़ित मनुष्यों के दुःख, उस के कारण तथा दूर करने के उपाय इन्हीं

---

[1] राधाकृष्णन, भाग १, पृ० १९८

को समझने की चेष्टा करनी चाहिए; दूसरी तर्कनाएँ व्यर्थ हैं। बुद्ध जी के निर्वाण की कुछ शताब्दियों बाद बौद्धों में भी दार्शनिक संप्रदाय जन्म लेने लगे। यों तो भारत तथा बाहर के बौद्ध दार्शनिक संप्रदायों की संख्या तीस से भी अधिक है, किंतु उन में चार अधिक प्रसिद्ध हैं। अर्थात् माध्यमिकों का शून्यवाद, योगाचारों का विज्ञानवाद, सौत्रांतिकों का बाह्यानुमेयवाद और वैभाषिकों का बाह्य प्रत्यक्षतावाद। अंतिम दो को, जो हीनयान से संबद्ध हैं, सर्वास्तिवादी भी कहते हैं। प्रथम दो संप्रदाय महायान के अंतर्गत हैं।

महायान का दर्शन-साहित्य

हम ने ऊपर संकेत किया कि दूसरी धर्म-परिषद् के बाद महासंघिक लोग थेरवादियों से अलग हो गए जिसे हम महायान कहते हैं, उस की प्रवृत्तियाँ क्रमशः इन विद्रोहियों में पल्लवित होती रहीं। प्रथम शताब्दी ई० पू० से तीसरी-चौथी शताब्दी ईसवी तक बहुत से ग्रंथ लिखे गए और बाद में महायान सूत्र कहलाने लगे।[१] इन सूत्रों में प्रायः बुद्ध जी दार्शनिक शिक्षा देते हुए पाए जाते हैं। महायान दर्शन यह बतलाता है कि विश्व अथवा विश्व की वस्तुएँ सारहीन एवं अनिर्वचनीय अथवा शून्य हैं; हीनयान वाले वस्तुओं को क्षणिक तो बतलाते हैं पर उन्हें अतात्त्विक घोषित नहीं करते। महायान के सूत्र ग्रंथों में 'लंकावतार सूत्र' का विशेष-स्थान है। उस में बुद्ध जी ने रावण को शिक्षा दी है। अश्वघोष का 'श्रद्धोत्पाद शास्त्र' भी महायान का एक प्राचीन ग्रंथ है। अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' नामक काव्य भी लिखा है; उस का समय ईसा की पहली शताब्दी है। शून्यवाद का सब से प्रबल प्रतिपादक नागार्जुन भी इसी शताब्दी का विचारक है। उस का प्रसिद्ध ग्रंथ 'माध्यमिकशास्त्र है।' जिस पर आर्यदेव, कुमारजीव, बुद्धपालित और चंद्रकीर्ति ने टीकाएँ लिखीं।

---

[१] दे० दासगुप्त, भाग १, पृ० १२५

आर्यदेव नागार्जुन का शिष्य था, उस ने अन्य कई पुस्तकें भी लिखी हैं। चंद्रकीर्ति, संभवतः, शून्यवाद का अंतिम महत्वपूर्ण लेखक है।

विज्ञानवाद का सब से महत्त्वपूर्ण विचारक असंग (चौथी शताब्दी) है जिसे 'सप्तदश भूमिसूत्र' 'महायान सूत्र' 'उपदेश', 'महायानसंपरिग्रह शास्त्र' 'योगाचार भूमिशास्त्र' और 'महायान सूत्रालंकार' नामक ग्रंथों का प्रणेता बताया जाता है। इन में अंतिम ही उपलब्ध है। असंग का छोटा भाई वसुबंधु बाद में विज्ञानवादी बन गया और उस ने अनेक सूत्रग्रंथों पर टीकाएं लिखीं, यथा 'अवतंसक' 'निर्वाण' 'सद्धर्म-पुण्डरीक' 'प्रज्ञापारमिता' आदि पर। उस ने 'विज्ञानमात्रसिद्धि', 'रत्नत्रय' आदि का संकलन भी किया।

माध्यमिक का शून्यवाद

शून्यवाद का विशद प्रतिपादन नागार्जुन की कारिकाओं (माध्य-मिक शास्त्र) में हुआ है। अपनी साहसपूर्ण तर्कना-शैली के कारण यह ग्रंथ संस्कृत के दर्शन-साहित्य में अद्वितीय है। दर्शन के प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी बुद्धि के परिष्कार के लिए इस ग्रंथ को पढ़ना चाहिए। इस ग्रंथ में नागार्जुन ने उत्पत्ति, गति, दुःख बंधन, मोक्ष, कर्मफल आदि धारणाओं की परीक्षा करके यह सिद्ध किया है कि वे सब विरोधग्रस्त अथवा शून्य हैं। पहली ही कारिका में नागार्जुन बतलाता है कि 'उत्पत्ति' का कोई संगत अर्थ नहीं है, अतः मानना चाहिए की कोई पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता। कारिका इस प्रकार है :—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः
उत्पन्ना जातु विद्यंते भावाः क्वचन केचन।

न स्वतः उत्पद्यन्ते भावाः तदुत्पादवैयर्थ्यात्। अति प्रसंग दोषाच्च। नहि स्वात्मना विद्यमानानां पदार्थानां पुनरुत्पादे प्रयोजनमस्ति। न परतः

उत्पद्यन्ते भावाः सर्वत्र सर्व-संभव-प्रसंगात्। द्वाभ्यामपि नोत्पद्यन्ते उभय पक्षाभिहित दोष-प्रसंगात्। अहेतुतो नोत्पद्यन्ते भावाः सदा च सर्वतश्च सर्वसंभवप्रसंगात् (बुद्धपालित)।

उक्त कारिका पर बुद्ध पालित का उपर्युक्त भाष्य चंद्रकीर्ति ने उद्धृत किया है। कारिका कहती है कि संसार में अपने से उत्पन्न, दूसरे भाव पदार्थों से उत्पन्न, उभयथा अथवा हेतु बिना उत्पन भाव पदार्थ कहीं कोई भी नहीं है। भाव पदार्थों का सर्वथा अभाव है।

यदि कहो कि भाव पदार्थ अपने से उत्पन्न होते हैं तो ठीक नहीं क्योंकि ऐसी दशा में उत्पत्ति व्यर्थ हो जायगी। कोई नई चीज़ पैदा न हो सकेगी। अतिप्रसंग दोष भी होगा। जो पदार्थ मौजूद हैं उन की उत्पत्ति का प्रयोजन ही क्या हो सकता है? यदि कहा जाय कि स्वेतर (अपने से भिन्न) भाव पदार्थों से दूसरे पदार्थ उत्पन्न होते हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि उस दशा में किसी वस्तु से कोई भी दूसरी वस्तु उत्पन्न हो जायगी। भावपदार्थ अपने से और अपने भिन्न दोनों से उत्पन्न होते हैं, यह पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि इस में पहले दोनों पक्षों के दोष मौजूद हैं।

यदि कहो कि बिना कारण के ही भावपदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं, तो यह भी असंगत है। कारण के बिना कार्य नहीं होता यह सर्वमान्य सिद्धांत है। यदि बिना हेतु के पदार्थ उत्पन हो सकते तो सर्वत्र सब चीज़ें संभव होतीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव पदार्थों की उत्पत्ति समझ में नहीं आती। इस लिए कहीं से भी उत्पन्न हुए भावपदार्थ नहीं हैं। माध्यमिक का यह विचार बड़ा दुस्साहस मालूम होता है। शून्यवाद की सिद्धि के लिए यही एक तर्क यथेष्ट है पर पाठकों को मानों विश्वास दिलाने के लिए ही नागार्जुन विविध बौद्धिक धारणाओं की परीक्षा करने को अग्रसर होता है।

अनुभूत पदार्थों में गति का अनुभव बहुत साधारण है। प्रत्येक भौतिक क्रिया में गति या स्पंदन होता है। नागार्जुन का कथन है कि गति नाम की कोई चीज़ तर्क के आगे नहीं ठहरती। इसी प्रकार गमन, गंता और गत (गया हुआ मार्ग) की धारणाएं भी निरर्थक हैं। नीचे हम कुछ कारिकाएं अनुवाद सहित देते हैं (द्वितीय प्रकरण देखिए):—

यदेव गमनं गंता स एव हि भवेद्यदि
एकीभावः प्रसज्येत कर्त्तुः कर्मण एव च।
अन्य एव पुनर्गन्ता गतेर्यदि विकल्प्यते
गमनं स्यादृते गन्तुर्गन्ता स्याद् गमनादृते।
एकीभावेन वा सिद्धिर्नानाभावेन वा ययोः
न विद्यते तयोः सिद्धिः कथं नु खलु विद्यते।

अर्थः—जो गमन (जाना) है वही यदि गंता (जाने वाला) भी हो तो कर्ता और कर्म का एकीभाव हो जायगा। और यदि गंता को गमन से अलग माना जाय तो गंता के बिना गमन (जाने वाले के बिना जाने का कर्म) और गमन के बिना गंता को मानना पड़ेगा, जो संभव नहीं है। जिन की अलग-अलग सिद्धि नहीं होती और जो एक करके भी समझ में नहीं आते उन की (वास्तविकता की) सिद्धि किसी प्रकार हो सकती है?

गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते
गतागतविनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते।
गन्ता न गच्छति तावदगन्ता नैव गच्छति
अन्यो गन्तुरगन्तुश्च कस्तृतीयो हि गच्छति।
गन्ता तावद् गच्छतीति कथमेवोपपत्स्यते
गमनेन बिना गन्ता यदा नैवोपपद्यते।
गते नारभ्यते गन्तुं गन्तुं नारभ्यतेऽगते
नारभ्यते गम्यमाने गन्तुमारभ्यते कुह।

भावार्थः—जिस रास्ते पर चला जा चुका उसे 'गत' कहते हैं; जहां नहीं चला जा चुका उसे 'अगत' कहना चाहिए। जो गत है उस पर नहीं जाया जाता—जो रास्ता तय कर लिया उस पर नहीं चला जाता—जो अगत है उस पर भी 'चला जा रहा है' ऐसा नहीं कह सकते। गत और अगत के अतिरिक्त गम्यमान कोई स्थान नहीं है जहाँ चलने की क्रिया की जाती है।

रास्ता दो ही प्रकार का हो सकता है, या तो वह जिस पर गंता चल चुका या वह जिस पर अभी नहीं चला है। नागार्जुन का कहना है कि गत और अगत दोनों पर ही जाने की क्रिया संभव नहीं है। तीसरा कोई स्थान नहीं है जहां गमन क्रिया संभव हो सके।

'गंता जाता है' यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि गमन के बिना 'गंता' संज्ञा ही नहीं हो सकती। गंता के साथ 'जाता है' जोड़ना व्यर्थ है। 'अगंता जाता है' यह तो स्पष्ट ही ठीक नहीं है। गंता और अगंता के अतिरिक्त तीसरा कौन है जिस के साथ 'जाता है' क्रिया लगाई जा सके ?

जो रास्ता तय कर चुके उस पर जाना शुरू नहीं किया जाता; जो रास्ता तय नहीं किया गया है उस पर भी जाना शुरू नहीं हुआ—अन्यथा वह 'अगत' न कहलाता। इन दोनों के अतिरिक्त कौन सा स्थान है जहां जाना शुरू किया जाता है ?

इसी प्रकार स्थिति भी संभव नहीं है। जो स्थित है वह स्थित होना प्रारंभ नहीं करता, जो स्थित नही है उस ने भी स्थित होना शुरू नहीं किया; इस का अर्थ यह है कि, स्थित होने' का आरंभ नहीं हो सकता।

नवम प्रकरण का नाम है 'अग्नीन्धन-परीक्षा'। नागार्जुन कहता है कि अग्नि के बिना इंधन और इंधन के बिना अग्नि समझ में नहीं आते। इंधन के बिना अग्नि की सत्ता संभव नहीं है और जो अग्नि के लिये जलाया नहीं जाता, उस का नाम इंधन नहीं हो सकता ।

माध्यमिक कारिका के प्रकरण किसी क्रम का अनुसरण नहीं करते। दार्शनिक धारणाओं की समीक्षा करके नष्ट-भ्रष्ट करना ही उन का उद्देश्य मालूम होता है। चौथे प्रकरण में कार्य-कारण संबंध का विरोध दिखाया गया है। यदि कार्य-पदार्थ कारण-पदार्थ से भिन्न है तो इस का मतलब यह हुआ कि कारणहीन कार्य संभव है। कार्य की भिन्नता कारणता की घातक है। यदि कार्य कारण से अभिन्न है तो दो नाम देना व्यर्थ है। कारणता में उत्पत्ति की भावना वर्तमान है—कारण-कार्य को उत्पन्न करता है, लेकिन हम देख चुके हैं कि उत्पत्ति सर्वथा असंभव है।

बारहवें प्रकरण में नागार्जुन ने सिद्ध किया है कि 'दुःख' नाम की वस्तु मिथ्या है। दुःख न स्वयंकृत हो सकता है न परकृत, न दोनों, न निर्हेतुक (अकारण); इसलिये दुःख नहीं हो सकता।

पन्द्रहवें प्रकरण में यह परिणाम निकाला गया है कि किसी वस्तु का, किसी भाव पदार्थ का 'स्वभाव' या स्थिर धर्म नहीं है। वस्तुओं में कोई ऐसा गुण या धर्म नहीं पाया जाता जिन से उन की निश्चित पहचान हो सके।

सोलहवें प्रकरण का नाम है बंधन-मोक्ष-परीक्षा। जिस प्रकार दुःख संभव नहीं है उसी प्रकार बंधन और मोक्ष भी संभव नहीं हैं। कर्मफल की धारणा भी विरोधग्रस्त है, यह अगले प्रकरण का विषय है।

सब प्रकार के परिवर्तन में गति होती है। गति न हो सकने का अर्थ है परिवर्तन का अभाव। इस का अभिप्राय यह हुआ कि नैतिक उन्नति भी भ्रम है। बाइसवें प्रकरण में बतलाया है कि 'यथागत' अथवा बुद्ध या मुक्त की सत्ता भी स्वविरोधिनी है। जिस के पंचस्कंध हों, वह तथागत नहीं होता, विना स्कंधों के भी तथागत के अस्तित्व का क्या अर्थ होगा?

शून्यता का अर्थ

नागार्जुन विश्व के अशेष पदार्थों को शून्य घोषित करता है। इस

शून्यता का क्या अर्थ है? माध्यमिकों के हिंदू आलोचक 'शून्य' का सीधा अर्थ लेते हैं, अर्थात् सत्ता का अभाव। 'किसी प्रकार भी उत्पन्न पदार्थ विद्यमान नहीं हैं,' और 'तथागत का अस्तित्व कोई अर्थ नहीं रखता' आदि व्यंजनायें शून्य की उक्त व्याख्या को पुष्ट करती जान पड़ती हैं। किंतु वास्तव में माध्यमिक की शून्यता का यह सीधा अर्थ नहीं है। नागार्जुन का ही कथन है :—

या प्रतीत्यसमुत्पादा शून्यतां तां प्रचक्ष्महे २४।१८

अर्थात् 'जो कारणों या हेतुओं से उत्पन्न हुआ है उसे हम शून्यता कहते हैं।' अभिप्राय यह है कि शून्यता का सिद्धांत 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के मंतव्य की ही एक व्याख्या या निष्कर्ष है। संसार में किसी वस्तु का कोई धर्म ऐसा नहीं जो हेतुओं पर निर्भर न हो, अतः कोई वस्तु या धर्म ऐसा नहीं जो परतंत्र न हो; और जो परतंत्र है वह शून्य है—उस में अपने (स्वतंत्र) स्वभाव का अभाव है। नागार्जुन का सिद्धांत यह है कि सब वस्तुएँ सापेक्ष अतएव अपने में अनिर्वाच्य अथवा लक्षण करने के अयोग्य हैं, उन के स्वभाव को खोज निकालना असंभव है; क्योंकि उन का स्वभाव अलक्ष्य-अवर्ण्य (जिस का लक्षण या वर्णन न हो सके) ही नहीं अपितु अज्ञेय है, इसलिये कहना चाहिए कि वे निःस्वभाव (स्वभाव शून्य) हैं।'[1] सुजुकी कहता है कि 'वस्तुओं की शून्यता का अर्थ यही है कि वे कारणों पर निर्भर करती हैं और अनित्य होती हैं।'[2] रूसी विद्वान् डॉ शर्वात्स्की ने शून्य का अनुवाद आपेक्षिक या अनित्य तथा शून्यता का सापेक्षता या अनित्यता किया है।[3]

---

[1] दे० दासगुप्त, भाग २, पृ० १६३-६४

[2] आउट लाइन्स ऑव् महायान बुद्धिज़्म, पृ० १७३

[3] दि कन्सेप्शन ऑव बुद्धिस्ट निर्वाण पृ० १४२

माध्यमिक यह नहीं कहता कि वस्तुएँ सत्ता-शून्य अथवा असत् हैं; वह उन्हें एकांत अतात्त्विक (जैसा कि शश-शृंग या आकाश कुसुम हैं) नहीं बतलाता। वस्तुएँ एकांत तात्त्विक भी नहीं हैं। शून्यवादी मध्यममार्ग का पोषक है—वस्तुएँ न पूर्णतया अतात्त्विक हैं न पूर्णतया तात्त्विक, वे सापेक्ष अथवा परतंत्र हैं। यही बुद्ध के "प्रतीत्य-समुत्पाद" का भी अर्थ है।

यदि शून्यवाद की उक्त व्याख्या को स्वीकार किया जाय तो उस में और वेदांत में, जगत् के संबंध में, विशेष मतभेद नहीं रहता। वेदांत भी जगत् को सत् और असत् से विलक्षण मिथ्या अथवा मायिक घोषित करता है, जगत् की व्यावहारिक सत्ता मानता है।

क्या इस शून्य अथवा अतात्त्विक जगत् के पीछे या परे कोई ऐसा तत्त्व है जिसे तात्त्विक कहा जा सके, जो कार्य-कारण-शृंखला से बाहर हो? वेदांत में इस का उत्तर स्पष्ट है—ब्रह्म ऐसी तात्त्विक सत्ता है। शून्यवाद में उक्त प्रश्न का उत्तर स्पष्ट नहीं है। यदि माध्यमिक तथा अन्य बौद्ध 'शाश्वतवाद' के विरोधी हैं तो वे ऐसी सत्ता में कैसे विश्वास कर सकते हैं? किंतु कहीं-कहीं माध्यमिक ऐसे तत्त्व की ओर संकेत करता है—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्

अर्थात् 'वहाँ न निरोध है, न उत्पत्ति; वह न नाशवान है, न शाश्वत; न अनेकार्थ है, न एकार्थ; उस में न आगमन है, न निर्गमन।' यह अवर्णनीय तत्त्व क्या है? माध्यमिक यह भी कहता है कि—

शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयञ्चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते।

अर्थात् 'उसे न शून्य कहना चाहिए न अशून्य; न दोनों; न दोनों से भिन्न; लोगों के समझाने के लिए ही कुछ कहना पड़ता है।'

प्रथम वर्णन संभवतः निर्वाण का है। तो क्या निर्वाण वेदांत के ब्रह्म का पर्याय है? अथवा गीतोक्त ब्राह्मी स्थिति या जीवन्मुक्ति का? क्या माध्यमिक व्यवहार-जगत् से भिन्न किसी निरपेक्ष, स्वतंत्र, हेतुहीन तत्त्व में विश्वास करता है? यदि हाँ, तो वह प्रच्छन्न वेदांती है। वस्तुतः उक्त प्रश्न पर शून्यवाद की स्थिति दुविधा-शून्य नहीं है। माध्यमिक निर्वाण का वर्णन वैसे ही करता है जैसे वेदांती चरम तत्त्व का; वेदांतों की भाँति वह संवृति सत्य (व्यावहारिक सत्य) और परमार्थ सत्य में भेद भी करता है। किंतु यदि माध्यमिक का एक हेतुहीन चरम तत्त्व में विश्वास है तो उसे यह नहीं कहना चाहिए कि वह 'शाश्वतवादी, नहीं है।

विज्ञानवाद

अश्वघोष, मैत्रेय, असंग और वसुबंधु विज्ञानवाद के प्रमुख शिक्षक समझे जाते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार दिङ्नाग और धर्मकीर्ति भी विज्ञानवादी हैं। दिङ्नाग की हाल में उपलब्ध 'आलम्बनपरीक्षा, पुस्तक उस के विज्ञानवादी होने का प्रमाण है। धर्मकीर्ति को कुछ विद्वान् सौत्रांतिक भी बतलाते हैं। विज्ञानवाद के मुख्य उपलब्ध ग्रंथ 'लंकावतार सूत्र', अश्वघोष का 'श्रद्धोत्पादशास्त्र' तथा 'महायान सूत्रालंकार' हैं।

माध्यमिक सब पदार्थों को शून्य घोषित करता है; विज्ञानवादियों के अनुसार चित्त अथवा विज्ञान-परंपरा अर्थात् द्रष्टा के अनुभव को शून्य नहीं कहा जा सकता, उस की वास्तविकता माननी ही पड़ेगी। यदि मानसिक दशायें अथवा क्रियायें भी सत्य नहीं हैं तो स्वयं माध्यमिक के तर्कों का भी कोई महत्त्व नहीं रहेगा। अतः विज्ञानवाद का कहना

है कि मानसिक जगत की सत्यता अवश्य स्वीकार करनी चाहिए। इस का मतलब यह है कि वाह्य वस्तु-जगत का अस्तित्व मानना आवश्यक नहीं; वाह्य विश्व है ही नहीं। जो वस्तुएँ मन के बाहर दीखती हैं वे वस्तुतः मन के भीतर हैं, मन के प्रत्यय या विज्ञान (अनुभव) मात्र हैं। अनुभूत वस्तुएँ वास्तव में उन वस्तुओं की चेतना, अनुभूति अथवा विज्ञानमात्र हैं। विश्व मनोमय है मन से बाहर विश्व की सत्ता नहीं है। प्रत्ययों, विज्ञानों अथवा अनुभूतियों की परंपरा या प्रवाह ही एक मात्र तत्त्व है।

क्यों वाह्य विश्व को, वाह्यवस्तुओं की, सत्ता नहीं माननी चाहिए, इस के उत्तरमें विज्ञानवाद अनेक युक्तियाँ देता है।

(१) जिन वाह्य पदार्थों को विपक्षी विचारक मानते हैं वे या तो परमाणुरूप हैं, अथवा परमाणुओं के समूह-रूप हैं। दोनों दशाओं में कठिनाई उपस्थित होती है। यदि पदार्थ परमाणु-रूप हैं तो वे ज्ञान के विषय नहीं हो सकते क्योंकि परमाणु नितांत सूक्ष्म हैं और उन तक इंद्रियों की पहुँच नहीं है।

यदि वस्तुएँ परमाणु-समूह-रूप हैं तो प्रश्न उठता है कि ये परमाणु-समूह परमाणुओं से भिन्न हैं या अभिन्न? यदि अभिन्न हैं तो सूक्ष्म होने के कारण उन का ज्ञान नहीं हो सकता; यदि भिन्न हैं तो उन में और परमाणुओं में गो-अश्व के समान अत्यंत भेद होगा—तब यह कैसे कहा जा सकेगा कि वस्तुओं का परमाणुओं से कोई संबंध है और उन की ज्ञान के वाहर सत्ता है?

(२) सहोपलंभ-नियम से भी वस्तु और उस के ज्ञान की एकता सिद्ध होती है। दो वस्तुओं का भेद देखा जाय इस के लिये यह आवश्यक है कि वे अलग-अलग ज्ञान का विषय हों जो चीज़ें चेतना के सम्मुख एक साथ आती हैं उन के भेद का ग्रहण नहीं हो सकता

क्योंकि नील पदार्थ और नील-बुद्धि का ग्रहण या उपलब्धि एक साथ होती है इसलिए उन दोनों में अभेद मानना चाहिए। वस्तु का प्रत्यक्ष और वस्तु-बुद्धि अथवा वस्तु के विज्ञान का प्रत्यक्ष या ग्रहण एक साथ होते हैं; अतः उन का भेद कभी नहीं देखा जा सकता; अतः वे अभिन्न या एक हैं, अर्थात् वस्तुएँ ज्ञान-रूप हैं।

(३) यह सर्व-सम्मत है कि स्वप्न में हमें बाह्य पदार्थों की अनुपस्थिति में ही उन का ज्ञान होता है, अर्थात् स्वप्न में हमारे अपने प्रत्यय या विज्ञान ही वस्तु-रूप मालूम पड़ते हैं। तब यह मानने में क्या हर्ज है कि जागृत अवस्था में भी हमारे विज्ञान ही गृहीत हो कर बाह्य वस्तुओं का भ्रम उपजाते हैं? यदि बिना बाह्य पदार्थों की उपस्थिति के हम स्वप्न में उन्हें देख सकते हैं तो जागृतावस्था में क्यों नहीं? निष्कर्ष यह कि बाह्य वस्तुओं की कल्पना व्यर्थ है, और कल्पना-गौरव एक दार्शनिक दोष है। जब विज्ञान स्वतः अनुभव उत्पन्न कर सकते हैं तो उन के आलंबन-भूत पदार्थों को मानना अनावश्यक है।

यदि बाह्य पदार्थ नहीं हैं तो अनुभव-जगत की विचित्रता का क्या रहस्य है? उत्तर है—वासना-वैचित्र्य ही उक्त वैचित्र्य का प्रचुर कारण है। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज निकलता है वैसे ही विज्ञान एवं वासनायें एक-दूसरे के हेतु बन जाते हैं। स्वप्न इस तथ्य का निश्चित निदर्शन है।[१]

योगाचारों की मिथ्या-दर्शन की व्याख्या आत्म-ख्याति कहलाती है।

आत्म-ख्याति

शुक्ति या सीप में रजत या चाँदी दिखाई पड़ती है, रज्जु (रस्सी) में सर्प दिखाई देता है,

---

१—विज्ञानवादी युक्तियों का विशद उल्लेख ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य तथा भामती (२।२।२८) में पाया जाता है।

इस का क्या कारण होता है? योगाचार का उत्तर है कि मानसिक विज्ञान ही बाहर रजताकार में परिणत हो जाता है। विज्ञान-संतान या विज्ञान-शृंखला की ही एक कड़ी, जिसे दूसरी कड़ियों से अलग करके नहीं देखा जा सकता, रजत-रूप में दिखाई देने लगती है। रजत का दूसरा कोई आधार नहीं होता है।

आत्म-ख्याति के आलोचकों का कहना है कि सुख, दुःख आदि की तरह रजत को आंतरिक नहीं माना जा सकता। फिर 'बाहरपन' का भ्रम क्यों होता है, यह विज्ञानवादी नहीं बता सकते। जिस ने कभी सर्प नहीं देखा है उसे सर्प का भ्रम नहीं हो सकता, इस प्रकार जिसे बाह्यता (बाहरपन) का स्वतंत्र अनुभव नहीं है, उसे उस का भ्रम भी नहीं हो सकता। जिस का भ्रम होता है उस का कहीं सत्य अनुभव भी होना चाहिए। विष्णुमित्र वंध्या-पुत्र (बाँझ का बेटा) प्रतीत होता है, ऐसा भ्रम किसी को नहीं होता।[1] कारण यही है कि बाँझ के पुत्र का प्रत्यक्ष अनुभव किसी ने नहीं किया है।

इस के बाद हम विज्ञानवाद के कुछ विशिष्ट विचारकों का वर्णन करेंगे। इन विचारकों में आंतरिक मतभेद भी हैं। विज्ञानवाद का सब से प्राचीन विचारक 'अश्वघोष' है।

अश्वघोष का भूत-तथता दर्शन

संसार की सारी वस्तुएं विज्ञान का ही विकार हैं। विज्ञान के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है। नदी, पर्वत, वृक्ष जीवजंतु सब विज्ञान स्वरूप हैं—सर्वं बुद्धिमयं जगत्। यह विज्ञानवाद की मूल शिक्षा है। इस विज्ञान-प्रवाह के पीछे क्या कोई शाश्वत तत्व है? विज्ञानवाद के अत्यंत प्राचीन शिक्षक अश्वघोष ने इस का उत्तर भावात्मक दिया था। अश्वघोष कनिष्क

---

१ वेदांत सूत्र, शांकरभाष्य २, २, २८

का समकालीन था (१०० ईसवी) । वह दार्शनिक और कवि दोनों था। प्रसिद्ध 'बुद्धचरित' की रचना अश्वघोष ने ही किया है। विज्ञान-संतान के पीछे जो विश्व-तत्व है उसे अश्वघोष ने 'भूततथता' नाम दिया था। अश्वघोष ने उपनिषदों का अध्ययन किया था और उस की 'भूततथता' का वर्णन निष्प्रपंच ब्रह्म के वर्णन से मिलता है। हमारे आध्यात्मिक जीवन के दो पहलू हैं, एक का संबंध भूततथता से है और दूसरे का परिवर्तनशील विज्ञान-प्रवाह से। मनुष्य स्थिर और अस्थिर का मिश्रण है। वास्तव में भूततथता निःस्पंद और एकरस है। अनादि वासना के कारण हमें उस में विज्ञान-बुद्बुद् उत्पन्न होते दीखते हैं।[1] भूततथता का वर्णन नहीं हो सकता। वह न सत् है न असत्, न एक है न अनेक। भूततथता अभावात्मक है क्योंकि वह जो कुछ है, उस से परे है। वह भावात्मक है क्योंकि सब कुछ उस के अंतर्गत है, उस से परे कुछ भी नहीं है। अविद्या के मुक्त होने पर भूततथता या विश्वतत्व का वास्तविक रूप प्रकट होता है। अज्ञान के झोंके से चलायमान चित्त में वासना की लहरें उत्थित होती हैं। अविद्या के कारण 'अहंभाव' उत्पन्न होता है जिस से दुःख होता है। वस्तुतः न दुःख है, न बंधन। सब सदा से मुक्त ही हैं। भूततथता में सृष्टि और प्रलय का दृश्य अज्ञान के कारण है। चित्त के शांत होने पर वस्तुओं की अनेकता अपने आप नष्ट हो जाती है।

लंकावतारसूत्र

लंकावतार सूत्र का दर्शन अश्वघोष के सिद्धांतों से काफ़ी समानता रखता है। यह ग्रंथ महायानों में पवित्र माना जाता है 'भूततथता' के स्थान पर लंकावतार सूत्र में 'आलयविज्ञान' शब्द का प्रयोग भी किया गया है। हमारा दृश्य

---

१ इंडियन आइडियलिज़्म, पृ० ८०

जगत का ज्ञान बिल्कुल निराधार है, दृश्य पदार्थों में कोई तत्त्व नहीं है। दृश्य जगत न तो आलय विज्ञान ही है न उस से भिन्न; लहरों को समुद्र से न भिन्न कहा जा सकता है न अभिन्न।[1] वास्तव में लंकावतार में दो प्रकार का दर्शन पाया जाता है, एक उच्च और एक नीची श्रेणी का।[2] कहीं-कहीं तो एक चरम तत्व—आलयविज्ञान या भूततथता—में विश्वास प्रकट किया गया है, कहीं अश्वघोष के सिद्धांत की आलोचना की गई है।[3] एक आलय-विज्ञान या भूततथता नाम का अंतिम तत्त्व है, यह कथन लोकबुद्धि के साथ एक प्रकार की रियायत है। अश्वघोष की 'तथता' शून्यता नहीं है, बल्कि एक भावात्मक पदार्थ है। 'लंकावतार' का किसी भाव पदार्थ में विश्वास नहीं है।[3] सत् असत् की धारणाएँ झूठी है। कार्य-कारण में विश्वास भी मिथ्या है। संसार के पदार्थ माया-मात्र हैं और स्वप्न सृष्टि के समान झूठे हैं। लंकावतार कहीं-कहीं 'आलय-विज्ञान' के चरम तत्व होने का वर्णन करता है, परंतु उस का अंतिम मत यही है कि विश्व में कोई तत्त्व नहीं है। अश्वघोष ने 'भूततथता' का सुंदर वर्णन किया है। 'भूततथता' के अनेक नाम हैं। यदि इसे चित्त को शांति देने वाला कहें तो यह निर्वाण है। यही बोधि है जो अज्ञान का नाश करती हैं। प्रेम और बुद्धि का स्रोत होने से यही धर्मकाय कहलाती है। यही कुशलमूल है।' (यामाकामी) लंकावतार को यह वर्णन स्वीकार नहीं होगा।

दर्शन-क्रिया वास्तव में सृष्टि-क्रिया है। देखने और जानने का अर्थ दृश्य और ज्ञेय पदार्थों को उत्पन्न करना है। स्मरण भी एक प्रकार की सृष्टि है। विज्ञानवाद

असंग और वसुबंधु

[1] इंडियन आइडियलिज़्म, पृ० ९२

[2] वही, १०३

[3] वही, पृ० १०१

के मुख्य सिद्धांत का प्रचार करने का बहुत कुछ श्रेय असंग और वसुबंधु को है। उन का एक नया तर्क हम नीचे देते हैं।

आत्माकगति (अपनी अवगति या अनुभूति) में आत्मा स्वयं ही ज्ञेयऔर ज्ञाता होता है। 'मैं हूँ' के ज्ञान में जानने वाला और ज्ञेय एक ही पदार्थ है। इसी प्रकार सारे विज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय दोनों हैं। ज्ञातृरूप से देखने पर विज्ञान-संतान 'आत्मा' प्रतीत होता है और ज्ञेयरूप से देखने पर 'पदार्थ-समूह'; वास्तव में विज्ञानों के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है।

असंग और वसुबंधु के दर्शन में 'आलयविज्ञान' का प्रयोग अश्वघोष के 'श्रद्धोत्पाद सूत्र' से भिन्न अर्थ में हुआ है। यहां आलयविज्ञान भेद-शून्य अनिर्वचनीय पदार्थ की संज्ञा नहीं है। आलय-विज्ञान का अर्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधमय वैचित्र्य-पूर्ण संसार है।[1] यही वैयक्तिक चेतनाकेंद्रों का आधार है। अश्वघोष की भूततथता या लंकावतार के आलय-विज्ञान के लिए यहां "विज्ञप्ति मात्र" का प्रयोग होता है जो कि अनुभव से परे है।[2] वेदांतियों के ब्रह्म के समान ही 'विज्ञप्ति' विशुद्ध चैतन्य और आनंद-स्वरूप है; वह अपरिवर्तनीय और अनिर्वचनीय है। आलय-विज्ञान का प्रवाह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धांत का अनुसरण करता है। एक क्षणिक विज्ञान दूसरे को उत्पन्न करता है। पहले विज्ञान का अवसान और दूसर का उदय साथ ही होते हैं। मुक्ति या निर्वाण का अर्थ है किसी विशेष चेतनाकेंद्र से संबद्ध विज्ञानों या वासनाओं के प्रवाह का रुक जाना। मुक्त चेतनाकेंद्र से संबद्ध होकर आलय-विज्ञान सक्रिय नहीं रहता। जब किसी चैतन्यकेंद्र की सारी वासनाएं और भावनाएं विशुद्ध आनंद में निमग्न हो जाती हैं तब उसे मुक्त हुआ

---

[1] इंडियन आइडियलिज़्म, पृ० ११६

[2] वही, पृ० ११६

कहते हैं। इस प्रकार असंग और वसुबंधु की मुक्ति अश्वघोष की अपेक्षा वेदांत से अधिक मिलती है।

सर्वास्तित्ववाद

सौत्रांतिक और वैभाषिक संप्रदाय

सौत्रांतिक और वैभाषिक हीनयान के दार्शनिक संप्रदाय हैं दोनों यथार्थवादी हैं अर्थात् वाह्य विश्व की मन अथवा ज्ञान के बाह स्वतंत्र सत्ता मानते हैं; अनेकवादी हैं अर्थात् तत्त्व पदार्थ को अनेकात्मक घोषित करते हैं; और नैरात्म्यवादी हैं अर्थात् स्थिर आत्म तत्त्व में विश्वास नहीं करते। वे सर्वास्तिवादी कहलाते हैं क्योंकि वे बाहरी और भीतरी, भौतिक एवं अभौतिक, सब पदार्थों को यथार्थ मानते हैं।

कात्यायनी पुत्र का 'ज्ञान प्रस्थान' जिस पर बाद में 'महाविभाषा' टीका लिखी गई, शारिपुत्र का 'धर्मस्कन्ध', पूर्ण का 'धातुकाय', मौद्गलायन का 'प्रज्ञा सं शास्त्र', वसुमित्र का 'प्रकरण पाद' आदि प्राचीन ग्रंथों में [1] तथा वसुबंधु का 'अभिधर्मकोश' बाद के ग्रंथों में प्रसिद्ध हैं। डॉ० दासगुप्त धर्मकीर्ति के 'न्याय विन्दु' को, धर्मोत्तर टीकाकार के बल पर, सौत्रांतिक कृति बतलाते हैं। [2]

विज्ञानवाद की आलोचना

विज्ञानवाद के खण्डन एवं वाह्य जगत की स्वतंत्र सत्ता के मण्डन में सौत्रांतिकों ने अनेक तर्क दिये हैं। उन में मुख्य ये हैं :—

(१) सौत्रांतिक वाह्य जगत और अंतर्जगत दोनों की स्वतंत्र सत्ता

---

[1] दे०. कीथा, बुद्धिस्ट फ़िलासफी, पृ० १२४

[2] दे० हिस्टरी, भाग १, पृ० १२१

मानते हैं। विज्ञानवादी कहता है कि भ्रांतिवश (आत्म-ख्याति) आंतरिक मनोदशाएं या विज्ञान वाह्य जैसे प्रतीत होते हैं। वास्तव में वाह्य कुछ है नहीं। किंतु यह अयुक्त है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प का भ्रम उसी को हो सकता है जिस ने सर्प को देखा है उसी प्रकार आंतरिक विज्ञान में बाह्यता का भ्रम उसी को होगा जिसे 'बाहरपन' का अनुभव है। यदि ऐसा न हो तो विष्णुमित्र में बंध्यापुत्र होने की भ्रांति भी होनी चाहिए।

(२) सहोपलंभ नियम भी यह सिद्ध नहीं करता कि वस्तुएं विज्ञान मात्र हैं। जब-जब हमें किसी वस्तु का (घट का) अनुभव होता है, तब-तब यह महसूस होता है कि वस्तु बाहर है और वस्तु-ज्ञान आंतरिक। शुरू से ही यह प्रतीति होती है कि वस्तु की सत्ता वस्तु-ज्ञान से अलग है। इस प्रतीति में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं।

(३) यदि दृष्ट घट-घट ज्ञान से अथवा द्रष्टा से अभिन्न है तो यह प्रतीति होनी चाहिए कि मैं 'घट हूँ।' किंतु ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती, अतः घट और घट-ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता, अलग-अलग सत्ताएं हैं।

सौत्रांतिकों के अनुसार प्रेक्षण अथवा प्रत्यक्ष-ज्ञान के चार हेतु हैं; विषय या पदार्थ जो विज्ञान (चेतना) को अपना आकार देता है; चेतन चित्त; विशिष्ट इंद्रिय (चक्षु, घ्राण आदि): तथा प्रकाश आदि सहकारी कारण। ये कारण चित्त में पदार्थ की प्रतिलिपि उत्पन्न करते हैं, जिस के बल पर वाह्य पदाथ का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार सौत्रांतिक वस्तु जगत को अनुमेय मानते हैं। हमें प्रत्यक्ष विज्ञानों का होता है; विज्ञानों के बल पर, उन की विचित्रता अथवा विविधता के कारण की खोज करते हुए, हम वाह्य वस्तु-जगत का अनुमान करते हैं। इस प्रकार सौत्रांतिकों अनुसार वाह्य विश्व अनुमान-गम्य है, प्रत्यक्ष-

गम्य नहीं। इसीलिए सौत्रांतिक दर्शन को 'बाह्यनुमेयवाद' भी कहते हैं। इस के विपरीत वैभाषिक लोग बाह्य विश्व को प्रत्यक्षगम्य बतलाते हैं। उक्त दोनों संप्रदायों में यही प्रमुख भेद है।

सामान्य सिद्धांत

अब हम सर्वास्तिवादियों के कतिपय सामान्य सिद्धांतों का वर्णन करेंगे। वे लोग क्षणिकवादी और नैरात्म्यवादी हैं। न भौतिक जगत में न मानसिक जगत में कोई ऐसा तत्त्व है जो स्थिर एवं अविकारी हो। जो सत् है वह क्षणिक है। भूत और भौतिक, चित्त और चैत्त (चित्त के कार्य या विकार) यही चार प्रकार के पदार्थ हैं। सर्वास्तिवादी रमाणुवादी भी है। पृथ्वी के परमाणु काठिन्य स्वभाव वाले हैं, जल के स्नेह-स्वभाव, अग्नि के उष्ण-स्वभाव, वायु के गतिस्वभाव। यही परमाणु पृथिव्यादि संघात के रूप में इकट्ठे हो जाते हैं। मानसिक जगत पाँच स्कंध से निर्मित है। विषय सहित इंद्रियों को रूपस्कंध कहते हैं; अहंता का अनुभव विज्ञान-स्कंध है; सुखादि का अनुभव वेदना स्कंध है; गो, अश्व आदि नाम-विशिष्ट सविकल्पक प्रत्यय संज्ञा स्कंध है; राग, द्वेष, मोह आदि संस्कार स्कंध है। विज्ञान-स्कंध ही चित्त कहलाता है। इन स्कंधों से भिन्न कोई स्थिर आत्मा नहीं है।[1]

क्षणिकवाद

'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धांत यह बतलाता है कि वस्तुओं का अस्तित्व हेतुओं (कण्डिशन्स) पर निर्भर करता है। प्रत्येक घटना सकारण है और प्रत्येक घटना दूसरी घटना या घटनाओं को जन्म देती है। इस प्रकार घटनाओं का प्रवाह चलता रहता है। इस प्रवाह

---

[1] दे० ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (२।२।१८) तथा उस पर रत्नप्रभा और भामती।

के बाहर स्थिर तत्त्वों (जैसे आत्मा) की खोज व्यर्थ है। कोई वस्तु या तत्त्व कारण हीन अथवा शाश्वत नहीं है, न कोई घटना दूसरी घटना को उत्पन्न किये बिना नष्ट होती है। बुद्ध का सिद्धांत शाश्वतवाद और विनाशवाद दोनों से बच कर मध्यमार्ग का अवलंब लेता है। 'प्रतीत्य-समुत्पाद, बौद्ध-दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रारंभ में क्या था और अंत में क्या रहेगा इन प्रश्नों को बचा कर बौद्ध सिद्धान्त वस्तुओं के वर्तमान स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

सर्वास्तिवादियों को 'प्रतीत्य-समुत्पाद' का मंतव्य मान्य है, पर साथ ही वे वस्तुओं को क्षणिक सिद्ध करने के लिए एक और युक्ति देते हैं। यह युक्ति सत्पदार्थ के लक्षण या स्वरूप से प्राप्त होती है। किं: उस लक्षण और युक्ति का वर्णन करने से पहले हम बौद्धों के सामान्य-संबंधी मत का उल्लेख करेंगे।

सामान्य लक्षण का निषेध

मनुष्यत्व बहुत से मनुष्यों में रहता है इसलिए मनुष्यत्व को सामान्य या जाति कहते हैं। इसी प्रकार घटत्व जाति पटत्व जाति आदि मानी जाती हैं। नैयायिकों के इस मत का बौद्ध लोग खंडन करते हैं। घट ही वास्तविक है, घटत्व (घड़ापन) वास्तविक नहीं है। वैभाषिकों और सौत्रांतिकों का कथन है कि 'घटत्व' या 'मनुष्यत्व' केवल कल्पना की चीज़ें हैं; इन की कहीं सत्ता नहीं है। प्रत्येक वस्तु का अपना अलग गुण है; सामान्य गुण नहीं पाए जाते। संसार के सारे पदार्थ 'स्वलक्षण' हैं; स्वलक्षणों का समुदाय ही जगत है। सामान्य-लक्षणों का अभाव है; अथवा वे कल्पना की चीज़ें हैं। वैभाषिकों के मत में इसी प्रकार गुण, कर्म, नाम, और द्रव्य भी काल्पनिक हैं। यह हमारी बुद्धि की धारणाएं मात्र हैं। बाह्य जगत में इन जैसी कोई वस्तु नहीं है। सर्वास्तित्ववादियों का यह मत कुछ-कुछ अरस्तू और कांट से मिलता है। अरस्तू ने सामान्यों (यूनिवर्सल्स) की अलग सत्ता

नहीं मानी और कांट ने भी द्रव्य, गुण आदि की धारणाओं को मनः सापेक्ष या बुद्धि-सापेक्ष ठहराया है।

सत्पदार्थ का लक्षण

नैयायिकों के मत में सत्पदार्थ उसे कहते हैं जिस का सत्ता सामान्य से योग हो (सत्तासामान्ययोगित्वं सत्त्वम्) असत् पदार्थ वह है जिस का 'सत्ता' नामकस महासामान्य से संबंध नहीं है। 'अश्वत्व' 'गोत्व' 'घटत्व' आदि जातियां छोटी या कम व्यापक जातियां हैं; इन्हें अपर सामान्य कहते हैं। पशुत्व जाति अश्वत्व या गोत्व की अपेक्षा बड़ी है अर्थात् ज़्यादा व्यापक है इसलिए पशुत्व जाति अश्वत्व की अपेक्षा 'पर सामान्य' हैं। 'सत्ता' जाति सब से बड़ी जाति है; सत्ता की अपेक्षा कोई जाति 'पर' नहीं है। इस सत्ता जाति से जिस का योग हो वह 'सत्पदार्थ' है।

बौद्ध लोग इस मत का खंडन करते हैं। यदि हम नैयायिकों का मत मानें तो स्वयं 'सत्ता' जाति में सत्पदार्थ का यह लक्षण नहीं घटता, इसलिए नैयायिकों का लक्षण 'अव्याप्त' है। फिर बौद्ध-विचारक सामान्य लक्षण या जाति के पृथक् अस्तित्व में विश्वास भी नहीं रखते। प्रश्न यह है कि बौद्धों के मत में सत्पदार्थ का क्या लक्षण है?

सत्पदार्थ वह है जो कुछ करे, जिस में अर्थ-क्रिया-कारिता हो (अर्थ-क्रियाकारित्वं सत्त्वम्)। जो कुछ करता नहीं वह असत्पदार्थ है। सत्पदार्थ की मुख्य पहचान यही है कि वह अपने अस्तित्व के प्रत्येक क्षण में कुछ करता है। सत्पदार्थ प्रतिक्षण अपने कार्यों को उत्पन्न करता रहता है। प्रत्येक सत्पदार्थ प्रत्येक क्षण में किसी कार्य का कारण होता है; वह कुछ न कुछ कार्य उत्पन्न करता रहता है। सत्पदार्थ के इस लक्षण से 'क्षणिक-वाद' का सिद्धांत सिद्ध होता है।

संसार के सारे पदार्थ क्षणिक हैं: वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। विश्व

क्षणिकवाद

में कुछ भी स्थिर नहीं है। आध्यात्मिक जगत और भौतिक जगत में सभी कुछ परिवर्तनशील है, जिन्हें हम 'वही' कह कर पहचानते और स्मरण करते हैं वे वास्तव में 'वही' नहीं होते। जीवन के किन्हीं दो क्षणों में हम स्वयं 'वही' नहीं रहते। क्षणिकवाद की युक्ति सत्पदार्थ की परिभाषा से प्राप्त होती है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इस युक्ति को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। कार्य को उत्पन्न करने का अर्थ है कारण का कार्यरूप में परिणत हो जाना। मिट्टी घट नामक कार्य को उत्पन्न करती है इस का अर्थ है कि मिट्टी घटरूप हो जाती है। हम देख चुके हैं कि सत्पदार्थ का लक्षण 'कुछ करते रहना' अर्थात् अनवरत कार्यों को उत्पन्न करते रहना है। इस का अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक सत्पदार्थ प्रतिक्षण कार्य उत्पन्न करता रहता है अथवा कार्यरूप होता रहता है। प्रत्येक सत्पदार्थ प्रतिक्षण अपना स्वरूप परिवर्तित करता रहता है। इस का साफ़ अर्थ यही है कि प्रत्येक सत्पदार्थ क्षणिक है (यत्सत् तत्क्षणिकम्)।

आप कहेंगे कि 'सत्पदार्थ वह है जो कार्य उत्पन्न करे', इसे मान कर भी क्षणिकवाद से बचा जा सकता है। यह क्या ज़रूरी है कि एक सत्पदार्थ अभी अपना कार्य उत्पन्न करे। मिट्टी आज या अभी ही घड़ा क्यों बन जाय, कल क्यों न बने? लेकिन बौद्ध इस आलोचना से सहमत नहीं होंगे। मान लीजिए कि विवाद-ग्रस्त सत्पदार्थ 'क' है जो कि 'ख' 'ग' आदि कार्यों को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। यदि 'क' में 'ख' को उत्पन्न करने की क्षमता है तो वह 'ख' को तुरंत उत्पन्न कर डालेगा; और यदि उस में यह क्षमता नहीं है तो वह 'क' को कभी उत्पन्न नहीं करेगा। 'ख' को उत्पन्न करने की क्षमता रखते हुए 'क' अकर्मण्य रहे अर्थात् 'ख' को उत्पन्न न करे, यह असंभव है। यदि 'ख' को उत्पन्न करने के लिए 'क' को किसी और वस्तु 'व' की आवश्यकता पड़ती है तो कहना चाहिए कि 'क' में 'ख' को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। परंतु

यदि 'क' में किसी भी कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है तो वह 'है' वह सत्पदार्थ है, इसी में संदेह है।

प्रत्येक वर्तमान पदार्थ को या तो अपना कार्य अभी उत्पन्न करना चाहिए या कभी नहीं। 'ख' को उत्पन्न करने की क्षमता रखते हुए यदि 'क' आज अकर्मण्य रह सकता है तो कल क्यों नहीं रह सकता? जो वर्तमान क्षण में कुछ नहीं कर सकता उस से भविष्य में क्या आशा की जा सकती है? और अगर 'क' अभी 'ख' को उत्पन्न करता है तो इस का अर्थ यह है कि 'क' 'ख' में परिणत हो जाता है, बदल जाता है। 'क' के नष्ट होने पर ही 'ख' उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सारे सत्पदार्थ क्षणिक हैं।

क्षणिकवाद की आलोचना

भारतवर्ष के प्रायः सभी बौद्धेतर विचारकों ने क्षणिकवाद का खण्डन किया है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में जैनों की ओर से क्षणिकवाद की समीक्षा इस प्रकार की गई है :—

> कृतप्रणाशा कृतकर्मभोग भवप्रमोक्षस्मृतिभंग- दोषान् ।
> उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभंगमिच्छन्नहो महासाहसिकःपरोऽसौ।

अर्थात् क्षणिकवाद को मानने पर किये हुये कर्मों का फल नहीं मिल सकता, इसलिए 'कृतप्रणाश' (कृत कर्म के फल की अप्राप्ति) दोष आता है। इसी प्रकार वर्त्तमान कर्त्ता को जो कर्मफल प्राप्त होता है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि जिन कर्मों का फल मिल रहा है वे अन्य क्षणिक कर्त्ता ने किये थे। यह 'अकृत कर्मभोग' अथवा 'अकृताभ्यागम' दोष हुआ। क्षणिकवाद को मानकर बंध-मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं हो सकती। स्मृति भी असंभव हो जायगी क्योंकि जिस ने अनुभव किया था वह कर्त्ता स्मरण करते समय मौजूद नहीं हो सकता।

सांख्य-सूत्र कहता है कि क्षणिकवाद कार्य-कारणभाव का विघातक है। क्योंकि,

पूर्वापाये उत्तरा भोगात्। (१।३६) पूर्वस्य कारणस्य अपाय काले उत्तरस्य कार्यस्य उत्पत्त्यनौचित्यात्। (विज्ञानभिक्षु)

जब तक कार्य उत्पन्न होता है तब तक क्षणिक होने से कारण नष्ट हो चुकता है। नष्ट हुए कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

नैयायिकों ने बौद्धों की सत्पदार्थ की परिभाषा का खंडन किया है। 'अर्थ-क्रिया कारिता' सत् पदार्थ का लक्षण है। इस का अर्थ है कि किसी पदार्थ को जानने के लिए उस की 'अर्थक्रियाकारिता' या व्यावहारिक योग्यता को जानना चाहिए। इस का अर्थ यह है कि आप किसी पदार्थ को जानने के लिए उस के कार्य का ज्ञान प्राप्त करें। पर उस कार्य का ज्ञान कैसे होगा? कार्य के कार्य—ज्ञान से। यदि क-ख-ग-घ कारण-कार्य शृंखला है तो 'क' को जानने के लिए 'ख' का ज्ञान आवश्यक है; 'ख' को जानने के लिए 'ग' का' और इसी प्रकार आगे। यह अनवस्था दोष है; आप 'क' को कभी नहीं जान सकते।

वैभाषिक संप्रदाय

वैभाषिकों और सौत्रांतिकों के प्रायः सब सिद्धांतों में मतैक्य है। भेद यही है कि वैभाषिक जगत को अनुमेय न मानकर प्रत्यक्ष-गम्य मानता है। सौत्रांतिकों की भाँति वैभाषिक मानते हैं कि बाह्य जगत तथा अंतर्जगत दोनों यथार्थ हैं। किंतु वस्तु-जगत को प्रत्यक्ष-ग्राह्य मानना चाहिए। प्रत्यक्ष के बिना अनुमान भी संभव नहीं है। धुएँ की उपस्थिति से अग्नि का अनुमान किया जा सकता है क्योंकि हम पहले धुएँ और अग्नि दोनों को साथ प्रत्यक्ष से ग्रहण कर चुके हैं। जिस ने कभी अग्नि

देखा ही नहीं है वह धुएँ की उपस्थिति से उस का अनुमान कैसे करेगा ? यदि बाह्य पदार्थों का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता तो उन का अनुमान भी नहीं हो सकता। इसलिये या तो हम वस्तु-जगत की स्वतंत्र-सत्ता से इनकार करके विज्ञानवाद को स्वीकार करें या फिर यह मानें कि वस्तु-जगत का विज्ञानों के साथ ही प्रत्यक्ष होता है। वैभाषिक बाह्य प्रत्यक्षतावाद का समर्थक है।

बाद के बौद्ध दर्शन में मुख्यतः निम्न विषयों पर आलोचना-प्रत्यालोचना पाई जाती है—प्रत्यक्ष, अनुमान, क्षणिकवाद और अर्थ क्रियाकारिता। इन विषयों पर हिंदू तथा बौद्ध विचारक एक दूसरे से अनवरत झगड़ते रहे। पाँचवी शताब्दी ईसवी से बौद्ध तर्कशास्त्र में विशेष प्रगति होती पाई जाती है।

बौद्ध तर्कशास्त्र

बौद्धों का प्रथम महान् तर्कशास्त्री दिङ्नाग (४२५ ईसवी) है। उस का प्रमुख ग्रंथ 'प्रमाण समुच्चय' है जो संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। दूसरा ग्रंथ 'न्यायमुख' भी अप्राप्य है। 'प्रमाणसमुच्चय' पर धर्मकीर्त्ति का प्रसिद्ध 'प्रमाणवार्तिक' कर्णकगोमी की टीका सहित हाल ही में किताबमहल, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। 'प्रमाणवार्तिक' पर मनोरथनंदी की टीका भी मिली है। 'वार्तिक' बौद्ध-तर्कशास्त्र का सर्व श्रेष्ठ ग्रंथ है। धर्मकीर्ति की अन्य कृतियों में 'न्यायबिंदु' (जिस पर धर्मोत्तर ने टीका लिखी है तथा 'हेतुबिंदु' उल्लेखनीय हैं। धर्मकीर्ति के 'प्रमाणविनिश्चयं' 'सन्तानान्तरसिद्ध' तथा 'संबंधपरीक्षा' नामक ग्रंथ तिब्बती अनुवादों में ही उपलब्ध हैं।

दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति की गणना विश्व के महान् तर्कशास्त्रियों में होनी चाहिए।

प्रत्यक्ष और अनुमान

दिङ्नाग की कृतियों के कुछ अंश बाहरी स्रोतों से प्राप्त हो कर छपे हैं। आचार्य के मत में प्रत्यक्ष उस ज्ञान को कहते हैं जो विशुद्ध इंद्रिय-जन्य है और जिस में नाम-जाति आदि का समावेश नहीं है (प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढं नामजात्याद्यसंयुतम्)। मतलब यह कि जिसे हिंदू दार्शनिक सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं वह वास्तव में प्रत्यक्ष नहीं; उस में बौद्धिक कल्पना का अंश आ जाता है। सविकल्प प्रत्यक्ष वस्तुतः बौद्धिक ज्ञान है, इंद्रिय-जन्य प्रत्यक्ष मात्र नहीं। असली प्रत्यक्ष ज्ञान में नाम,जाति आदि की चेतना नहीं हो सकती; वह केवल 'स्वलक्षण' को ग्रहण करता है। वस्तुओं का कोई सामान्य गुण प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत नहीं होता। धर्मकीर्ति कल्पनाऽपोढ अभ्रांत ज्ञान को प्रत्यक्ष कहता है। असली प्रत्यक्ष केवल वस्तु द्वारा उत्पन्न होता है, उस में बुद्धि की कल्पनाओं का हाथ नहीं रहता।

अनुमान अविनाभाव अथवा व्याप्ति संबंध पर निर्भर करता है। चार्वाक का यह कहना ठीक नहीं कि अनुमान अप्रमाण है। वास्तव में अनुमान की अप्रमाणता भी अनुमान द्वारा ही सिद्ध हो सकती है, प्रत्यक्ष द्वारा नहीं। अतः चार्वाक की स्थिति ठीक नहीं।

अविनाभाव संबंध या तो कार्य-कारण संबंध पर निर्भर करता है या फिर तादात्म्य पर। धूम और वह्नि में कार्य-कारण संबंध है, वृक्ष और शिंशपा (शीशम) में तादात्म्य।

आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार हेतु तीन प्रकार का होता है, कार्य लक्षण, स्वभावलक्षण तथा अनुपलब्धि लक्षण।[1] इस मत में मात्र अन्वय (जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होती है) और व्यतिरेक

[1] दे० प्रमाणवार्तिक, पृ० २०

(जहां अग्नि नहीं वहाँ धूम भी नहीं) से व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता। (नैयायिक लोग अन्वय-व्यतिरेक द्वारा व्याप्ति की सिद्धि करते हैं।)

आचार्य दिङ्नाग का यह मत मालूम पड़ता है कि अनुमिति-ज्ञान वस्तुओं के अपने गुणों या संबंधों को न बतला कर बुद्धि-कल्पित गुण संबंधों को ग्रहण कराता है; अनुमान स्वलक्षणों को नहीं पकड़ता अपितु सामान्य संबंधों में रमता है और ये संबंध बाह्य-जगत पर बुद्धि द्वारा आरोपित होते हैं।[1] यह मत जर्मन दार्शनिक काण्ट की याद दिलाता है।

---

[1] दे० कीथ, बुद्धिस्ट फ़िलासफी, पृ० ३०६

दूसरा अध्याय

न्याय-वैशेषिक

इस के बाद जिन संप्रदायों का वर्णन किया जायगा वे 'आस्तिक दर्शन' कहलाते हैं। वेद या श्रुति में विश्वास ही उन की आस्तिकता है। न्याय और वैशेषिक में बहुत कुछ सैद्धांतिक सादृश्य है; भेद शैली या आलोचना-प्रकार मात्र का है। वैशेषिक की तत्वदर्शन में अधिक अभिरुचि है और न्याय की प्रमाण-शास्त्र या तर्कशास्त्र में। सर्वसाधारण में नैयायिक का अर्थ तार्किक समझा जाता है। वस्तुतः न्याय और वैशेषिक एक दूसरे के पूरक या सहायक हैं। दोनों को मिलाकर ही संपूर्ण दर्शन बनता है। दोनों के अनुयायियों ने भी इस बात को समझ लिया था। यही कारण है कि कुछ काल के बाद दोनों दर्शनों पर सम्मिलित ग्रंथ लिखे जाने लगे। इस प्रकार के ग्रंथों में अन्नभट्ट का 'तर्कसंग्रह' और विश्वनाथ की 'कारिकावली' सब से प्रसिद्ध हैं।

न्याय का साहित्य

न्याय का साहित्य बहुत विस्तृत है और आयतन में शायद वेदांत से ही कम है। गौतम का 'न्यायसूत्र सबसे प्राचीन ग्रंथ है। 'न्यायसूत्र' का ठीक समय नहीं बताया जा सकता। 'भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास' (अंगरेज़ी में) के प्रसिद्ध लेखक श्री सतीशचंद्र विद्याभूषण न्याय के प्रवर्त्तक मेधातिथि गोतम का समय (५५०—५०० ई० पू०) बतलाते हैं।[1] अष्टावक्र का

---

[1] पृ० १७

भी लगभग यही समय है।[1] भारतीयों ने वाद-विवाद और शास्त्रार्थ करना ईसा से पहले बहुत पहले सीख लिया था। बृहदारण्यक में तो गार्गी जैसी स्त्रियां भी शास्त्रार्थ में निपुण बतलाई गई हैं। गार्गी को याज्ञवल्क्य भी कठिनता से निरुत्तर कर सके। जनक जैसे प्राचीन राजा पण्डितों का शास्त्रार्थ सुनते थे। महाभारत में नारद के विषय में लिखा है—पंचावयव युक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित्[2] अर्थात् कोई नारद पंचावयव-युक्त वाक्य के गुण-दोषों को जानने वाले थे। न्यायशास्त्र का सब से प्राचीन नाम 'आन्वीक्षिकी' है कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र (तृतीय शताब्दी ई० पू०) में आन्वीक्षिकी का नाम आदरपूर्वक लिया गया है।

आन्वीक्षिकी, त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेतिविद्याः।[3]
प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्व धर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता।[4]

अर्थात् आन्वीक्षिकी, त्रयी (वेद), वार्त्ता और दण्डनीति यह चार विद्याएं हैं। इस उद्धरण में आन्वीक्षिकी का नाम सब से पहले लिखा गया है। न्याय को हेतु-विद्या भी कहते हैं 'न्याय' शब्द पारिभाषिक है। पंचावयवों का समूह न्याय कहलाता है; अंगरेज़ी में इसे 'सिलॉजिज़्म' कहते हैं। कौटिल्य ने लगभग ३२ पारिभाषिक शब्दों की सूची दी है। अत्यंत प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों में प्रत्यक्ष, ऐतिह्य, अनुमान तर्क, वाद, युक्ति, निर्णय, जल्प, प्रयोजन, प्रमाण, प्रमेय, वितण्डा आदि

---

[1] वही, पृ० ४३
[2] वही, पृ० ५
[3] वही, पृ० ३८
[4] वही, पृ० ३८

शब्द प्रयुक्त पाये जाते हैं। चरक संहिता में मेधातिथि गौतम के सिद्धांतों का वर्णन है।

न्याय सूत्रों[1] पर वात्स्यायन का 'न्याय भाष्य' सब से प्राचीन टीका है। वात्स्यायन ने विज्ञानवाद और क्षणिकवाद का खण्डन किया है। उन का समय चौथी शताब्दी ईसवी समझना चाहिए। दिङ्नाग (५०० ई०) ने वात्स्यायन की आलोचना की जिस का उत्तर उद्योतकर (६०८—६८८) ने अपने वार्त्तिक में दिया। उद्योतकर शायद हर्षवर्धन के समकालीन थे। उन का वार्त्तिक प्रोफ़ेसर रेण्डिल के शब्दों में, तर्क-शास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जिस का स्थान विश्व-साहित्य में है।[2] वार्त्तिक पर प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) ने 'तात्पर्यटीका' लिखी जिस पर श्री उदयानाचार्य (१० वीं शताब्दी) ने 'तात्पर्यटीका परिशुद्धि' की रचना की। वाचस्पति मिश्र ने अपनी तात्पर्य-टीका दिङ्नाग के समर्थक धर्मकीर्ति के 'न्यायबिंदु' ग्रंथ के उत्तर में लिखी थी। 'न्याय सूची निबंध' और 'न्याय सूत्रोद्धार' का नाम भी वाचस्पति की कृतियों में है। उदयनाचार्य का सब से प्रसिद्ध ग्रंथ 'कुसुमाञ्जलि' है जिस में ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण विस्तार-पूर्वक दिये गये हैं। उन्हों ने 'किरणावली' और 'न्यायपरिशिष्ट' भी लिखे। जयंतभट्ट ने सूत्रों पर 'न्यायमञ्जरी' लिखी। इस का समय निश्चित नहीं है[3]।

दसवीं शताब्दी के बाद न्याय-वैशेषिक पर मिलाकर ग्रंथ लिखे जाने लगे। बारहवीं शताब्दी में गंगेश ने 'तत्त्वचिंतामणि' लिखकर

---

[1] श्री विद्याभूषण के मत में सूत्रों के लेखक अक्षपाद हैं जिनका समय १५० ई० पू० है। वह मत वात्स्यायन और उद्योतकर के अनुकूल है देखिये, वह, पृ० ४७

[2] इ'ण्डियन लाजिक, पृ० ३५

[3] विद्याभूषण के अनुसार जयंत भट्ट का समय दसवीं सदी है।

नव्य-न्याय की नींव डाली। 'तत्त्वचिन्तामणि' युग-प्रवर्तक ग्रंथों में है। इस पुस्तक ने नैयायिकों की युक्तिशैली अथवा तर्क करने की रीति को बिलकुल बदल दिया। जटिल परिभाषाओं की सृष्टि हुई। नवीन नैयायिक 'घट' की जगह 'घटत्वावच्छिन्न' कहना पसंद करते हैं। नव्य-न्याय ने सभी दर्शनों को प्रभावित किया है। अलंकारशास्त्र भी इस के प्रभाव से नहीं बचा। 'तत्त्वचिंतामणि' की रचना के बाद सूत्रों का अध्ययन कम हो गया। सूत्रों के अध्ययन का पुनरुज्जीवन हमारे समय में हुआ है। इस में संदेह नहीं कि नव्य नैयायिकों में शब्दाडंबर बहुत हैं और दार्शनिकता कम। फिर भी युक्तियों की अभिव्यक्ति को वैज्ञानिक बनाने में नव्यन्याय का काफ़ी हाथ रहा है।

'तत्त्वचिंतामणि' पर अनेक टीकाएं और उपटीकाएं लिखी गईं। वासुदेव सार्वभौम (१५०० ई०) की 'तत्त्वचिंतामणि व्याख्या' और रघुनाथ की 'दीधिति' प्रसिद्ध हैं। गंगेश के बाद नव्य न्याय में सब से बड़ा नाम गदाधर मिश्र (१६५० ई०) का है जिन्हों ने 'दीधिति' पर टीका लिखी। बाद के ग्रंथों में तर्कसंग्रह, कारिकावली, 'तर्कामृत, तर्क-कौमुदी आदि उल्लेखनीय हैं। इन का समय सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियां समझना चाहिए।

वरदराज की 'तार्किकरक्षा' और केशव मिश्र की 'तर्कभाषा' न्याय वैशेषिक का सम्मिलित वर्णन करनेवाले आरंभिक ग्रंथ हैं जो ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में लिखे गए। इन में वैशेषिक पदार्थ न्यायोक्त 'प्रमेय' के अंतर्गत वर्णित हैं। शिवादित्य की 'सप्त पदार्थी' में वैशेषिक न्याय का संनिवेश किया गया है।

वैशेषिक का उत्तरकालीन साहित्य न्याय से भिन्न नहीं है। तर्क-

वैशेषिक का साहित्य

संग्रह को वैशेषिक और न्याय दोनों का ही ग्रंथ कह सकते हैं। वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद ने

'पदार्थ धर्मसंग्रह' लिखा है। इसपर चार टीकाएं लिखी गईं—व्योम-शिवाचार्य की 'व्योमवती', श्रीधर की 'न्यायकन्दली', उदयन की 'किरणावली' और श्रीवत्स की 'लीलावती'। शंकरमिश्र का 'वैशेषिकसूत्रोपस्कार' आधुनिक रचना है जो बड़े महत्त्व की है। अन्य ग्रंथों का वर्णन ऊपर कर चुके हैं। वैशेषिककार कणाद का नाम उलूक और कणभुक भी है; वैशेषिक मत को औलूक्य-दर्शन भी कहते हैं।

न्याय-दर्शन का परिचय

न्यायदर्शन पर अनेक ग्रंथ लिखे जाने पर भी न्यायसूत्रों का महत्त्व कम नहीं हुआ है। न्याय-सूत्र की शैली बड़ी वैज्ञानिक और भाषा प्रौढ़ है। प्रमाणों तथा तर्कशास्त्र के प्रश्नों में आचार्य की विशेष रुचि दिखाई देती है। पहले सोलह ज्ञेयपदार्थों का नामोद्देश है; फिर उन के लक्षण दिये गये हैं; उस के बाद लक्षणों की परीक्षा है। पूर्वपक्ष का प्रतिपादन करने में आचार्य हमेशा निष्पक्षता और उदारता से काम लेते हैं। प्रतिपक्षी की कठिन से कठिन शंकाओं को उठाने से वे नहीं डरते। सूत्रकार का अपने सिद्धांतों में अटल विश्वास और उन पर अभिमान जगह-जगह प्रकट होता है। युक्तियों की सूक्ष्मता से मन मुग्ध हो जाता है। न्यायदर्शन में पाँच अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक। प्रत्येक आह्निक में साठ-सत्तर से अधिक सूत्र नहीं है। अंतिम अध्याय सबसे छोटा है। नीचे हम न्याय के कुछ सूत्र अनुवाद सहित देते हैं जिस से पाठकों को सूत्रों की शैली और गांभीर्य का कुछ अनुमान हो जाय।

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जाति-निग्रह-स्थानां तत्व-ज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। १।१।१

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क,

निर्णय, वाद, जल्प, हेत्वाभास, वितण्डा, छल, जाति और निग्रहस्थानों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् (मुक्ति) की प्राप्ति होती है। (१।१।१)

प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः प्रमाणानि । १ ।१ । ३

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द यह चार प्रमाण हैं (१।१।३)

इंद्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि-व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् । १ । १ । ४

इंद्रिय और अर्थ या विषय के संनिकर्ष (संबंध या संपर्क) से उत्पन्न ज्ञान को, जिस में संदेह न हो और जो व्यभिचारी भी न हो, प्रत्यक्ष कहते हैं । (१।१।४)

[दूर से रेता पानी दिखाई देता है और स्थाणु (सूखा वृक्ष) पुरुष जैसा दीखता है; यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ क्योंकि यह संदिग्ध और व्यभिचारी है । प्रत्यक्षज्ञान केकारण इंद्रियां 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहलाती हैं यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं; प्रमाणों द्वारा जाननेवाले की 'प्रमाता' संज्ञा है; जिस वस्तु का ज्ञान होता है उसे 'प्रमेय' कहते हैं ।]

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टंच ।१।१।५

अनुमान तीन प्रकार का है पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट । अनुमान प्रत्यक्ष-पूर्वक होता है; व्याप्ति का प्रत्यक्ष हुए बिना अनुमान नहीं हो सकता । [कारण द्वारा कार्य का ज्ञान 'पूर्ववत्' अनुमान है जैसे घनघोर बादलों को देखकर वृष्टि का अनुमान करना । कार्य को देखकर कारण का अनुमान करना 'शेषवत्' अनुमान है जैसे भीगे फर्श को देखकर 'वृष्टि हुई है' ऐसा अनुमान करना । धुएं को देखकर वह्नि का अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' है ।] (१।१।५)

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् १।१।६

प्रसिद्ध साधर्म्य (गुणों की समता) से साध्य का साधन उपमान

प्रमाण है। ['नीलगाय गौ के समान होती है' यह सुनकर कोई व्यक्ति बन में जाकर नीलगाय की पहचान कर सकता है] (१।१।६)

आप्तोपदेशः शब्दः। १।१।७

आप्तों का उपदेश शब्द प्रमाण है। (१।१।७)

आत्मशरीरेंद्रियार्थ बुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु-प्रमेयम् ।१।१।६

आत्मा, शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग यह प्रमेय हैं; (१।१।६)

[आत्मा के गुण इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और ज्ञान हैं। कर्मों में प्रवृत्त करानेवाले 'दोष' हैं। पुनरुत्पत्ति को प्रेत्यभाव कहते हैं। प्रवृत्ति-दोषों का परिणाम 'फल' कहलाता है। अपवर्ग मोक्ष का नाम है। दुःखों से अत्यंत मुक्त होना अपवर्ग है।]

पहले अध्याय में सोलह पदार्थों का नाम और लक्षण बताकर शेष ग्रंथ में उन लक्षणों की परीक्षा की गई है। द्वितीय अध्याय में प्रतिपक्षी पूर्वपक्ष करता है कि 'संशय' या 'संदेह' होना ही असंभव है जिसे दूर करने के लिये विवाद और शास्त्रोपदेश किया जाय। जिस वस्तु को जानते हैं उस के विषय में संदेह नहीं होता; जिस को नहीं जानते उस के बारे में भी संदेह संभव नहीं है। अज्ञात-वस्तु के विषय में प्रश्न कैसे हो सकता है? इसलिये संशय नहीं होता। ऋषि का उत्तर है कि वाद-विवाद की सत्ता ही संशय का अस्तित्व सिद्ध करती है! अन्यथा वाद-विवाद और झगड़ा न हो सकता।

प्रमाणों द्वारा सब प्रमेयों को जाना जाता है, फिर प्रमाणों को किस के द्वारा जाना जाय? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। सूत्रकार उत्तर देते हैं कि जैसे दीपक और पदार्थों के साथ अपने को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार प्रमाण अपनी सिद्धि भी करते हैं। जब हम प्रमाणों की परीक्षा

करते हैं तब वे 'प्रमेय' बन जाते हैं। सब प्रमाणों का प्रतिषेध भी बिना प्रमाण के नहीं हो सकता इसलिये प्रमाणों को मानना अनिवार्य है। जैसे बाट पहले स्वयं तोले जाकर बाद को सब चीज़ों को तोलने के काम आते हैं इसी प्रकार 'प्रमाण' कुछ देर को प्रमेय बनकर भी बाद को 'प्रमेयों' के ज्ञान का साधन बन जाते हैं।

इस के बाद हम वैशेषिक दर्शन का परिचय और उस के कुछ सूत्र अनुवाद और व्याख्या सहित देते हैं।

वैशेषिक का परिचय

वैशेषिक दर्शन में दस अध्याय हैं जिन में से प्रत्येक में दो आह्निक हैं। अंतिम तीन अध्यायों में न्याय- दर्शन की भाँति प्रमाणों, कारणता आदि का विचार है। व्यवहार-शास्त्र के प्रश्नों पर छठवें अध्याय में विचार किया गया है। चौथे अध्याय में परमाणुवाद का वर्णन है। शेष अध्यायों में द्रव्यादि पदार्थों का विवेचन किया गया है। वैशेषिक का आरंभ 'अब धर्म की व्याख्या करेंगे' इस सूत्र से होता है। दूसरे सूत्र में धर्म का लक्षण दिया है।

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (१ । १ । २)

अर्थात् जिस से संसार में अभ्युदय हो और जिस से मोक्ष प्राप्ति हो वह धर्म है। धर्म से मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ?—

धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष-समवायानांपदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। १ । १ । ४

"धर्मविशेष से उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य-पूर्वक तत्वज्ञान से मुक्ति या निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। (१ । १ । ४)"

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मामन इतिद्रव्याणि १-१-५

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये द्रव्य हैं-१-१-५,

रूपरसगन्धस्पर्शाःसंख्याःपरिमाणानि पृथक्त्वंसंयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःख इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः-१-१-६-

रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न यह गुण हैं। (१।१।६) सूत्रकार के अनुसार पदार्थों की संख्या छः और गुणों की सत्रह है।

सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणा-विशेषः-१-१-८

सत्ता, अनित्यता, द्रव्यवत्ता, कार्यत्व, कारणत्व, सामान्य और विशेष वाला होना यह द्रव्य, गुण, कर्म के सामान्य धर्म हैं। (१।१।८)

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् १-१-१५ कारण भावात्कार्याभावः-१-२-१.

क्रिया और गुणवाला, समवायिकारण द्रव्य होता है। (१।१।१५)

कारण भावात्कार्याभावः-१-२।१ न तु कार्याभावात्कारणाभावः-१-२-२.

कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है। (१।२।१) पर कार्य के अभाव से कारण का अभाव नहीं होता। (१।२।२)

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्-१-२-३

सामान्य और विशेष बुद्धि की अपेक्षा से हैं अर्थात् सामान्य और विशेष की सत्ता बुद्धि के आधीन या बौद्धिक है; यह देश-काल में रहने वाली चीजें नहीं हैं। (१।२।३)

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी-२-१-१

रूप, रस गंध, स्पर्शवाली पृथ्वी है (२।१।१)

रूपरसस्पर्शवत्यापो द्रवाः स्निग्धाः-२-१-२

जल में रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व और स्निग्धता गुण हैं। (२।१।२)

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति २-२-६

नित्य पदार्थों में काल का अनुभव नहीं होता, अनित्यों में होता है। इसलिये काल को उत्पत्तिवाले पदार्थों का निमित्तकारण कहते हैं। (२।२।६)

सदकारणवन्नित्यम्-४-१-१

सत् और कारणहीन पदार्थ को नित्य कहते हैं। (४।१।१)

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत्-६-१-१

क्रिया और गुण का व्यपदेश (कथन) न होने के कारण उत्पत्ति से पहले कार्य असत् होता है।(६।१।१)

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्-१०-२-६

ईश्वर का वचन होने के कारण...वेदों का प्रामाण्य है। १०।२।६

न्याय-दर्शन

न्याय-सूत्र के आरंभ में जिन सोलह पदार्थों की गणना की गई है उन का उल्लेख पीछे हो चुका है। यहाँ हम उन की संक्षिप्त व्याख्या देते हैं।

१—प्रमाण—यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा यथार्थ ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। न्यायदर्शन के अनुसार प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन का विस्तृत विवेचन यथास्थान किया गया है।

२—प्रमेय—प्रमेय का अर्थ प्रमाण का विषय है। प्रमाण यथार्थ-ज्ञान के साधन हैं और उन के द्वारा जो विषय जाने जाते हैं वे प्रमेय कहलाते हैं। न्यायसूत्र में बारह प्रमेय गिनाये गये हैं जो इस

प्रकार हैं—आत्मा, शरीर, इंद्रिय, अर्थ (इंद्रियों के विषय) बुद्धि अथवा ज्ञान, मन अथवा अन्तःकरण, प्रवृत्ति अथवा वाणी, मन और शरीर की चेष्टा, दोष (राग-द्वेषादि), प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल (सुखदुखानुभाव), दुःख (पीड़ा, संताप) और अपवर्ग (मोक्ष अर्थात् अत्यंत दुःख निवृत्ति)। यह प्रमेय विषयों की संपूर्ण सूची नहीं है। इस में केवल उन बारह प्रमेयों की गणना की गई है जिन का ज्ञान मोक्ष के लिए आवश्यक है।

३—संशय—अनिश्चय की अवस्था का नाम संशय है। जब एक ही वस्तु के विषय में अनेक विकल्पों की उत्पत्ति होती है तो मन में संदेह उत्पन्न होता है कि उन में कौन ठीक है। किसी निर्णायक-विशेष-लक्षण के अभाव में यह ठीक निश्चय नहीं हो पाता। जैसे दूर कोई वस्तु दिखाई देने पर संशय होता है कि 'यह स्थाणु है अथवा पुरुष'।

४—प्रयोजन—कार्य के उद्देश्य का नाम प्रयोजन है। प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य किसी न किसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर ही कार्य में प्रवृत्त होता है, वह उद्देश्य चाहे किसी वस्तु को प्राप्त करना हो अथवा किसी वस्तु से बचना।

५—दृष्टांत—एक सामान्य सिद्धांत को पुष्ट करने के लिए जो उदाहरण दिया जाता है उसे दृष्टांत कहते हैं। वही उदाहरण दृष्टांत बन सकता है जो दोनों पक्षों के लिए मान्य हो। 'यहाँ धूम है अतः यहाँ अग्नि अवश्य होनी चाहिए' इस वाद के प्रसंग में रसोई का दृष्टांत दिया जा सकता है, क्योंकि रसोई में धूम के साथ अग्नि की उपस्थिति सब को मान्य है।

६—सिद्धांत— किसी दर्शन में यथार्थ रूप से स्वीकृत सिद्धांत को कहा जाता है। जैसे न्यायदर्शन में आत्मा का चैतन्य नित्य गुण नहीं माना गया है, यह न्याय-दर्शन का सिद्धांत है।

७-अवयव—अनुमान प्रमाण में जिन पाँच वाक्यों की परंपरा द्वारा निष्कर्ष निकाला जाता है उन्हें अवयव कहते हैं। अवयव का अर्थ अंग है। अनुमान के अवयव न्याय के अंग हैं। अनुमान प्रमाण के प्रसंग में इन की पूर्ण व्याख्या की जायगी।

८—तर्क किसी अविज्ञात (भले प्रकार से अज्ञात) विषय के कारणोपपत्ति द्वारा सम्यक् ज्ञान के लिये जो ऊहा की जाती है उसे तर्क कहते हैं। यह यथार्थज्ञान का अनुग्राहक है।

९—निर्णय—पक्ष-प्रतिपक्ष का विवेचन कर प्रमाणों द्वारा अर्थ-निश्चय का नाम निर्णय है।

१०—वाद—न्याय नियमों के अनुसार तत्व-निर्णय के लिये जो पक्ष-प्रतिपक्ष-ग्रहण-पूर्वक विवाद होता है वह वाद है। प्रमाण और तर्क इस के साधन हैं।

११—जल्प—व्यर्थ के विवाद का नाम जल्प है। इस का उद्देश्य-तत्व-निर्णय न होकर यथा कथंचित विजय है। छल, जाति और निग्रह-स्थान इस के साधन हैं।

१२—वितण्डा—प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित जल्प का नाम वितण्डा है। जल्प में दोनों पक्ष न्याय्य-अन्याय्य किसी भी विधि से अपने पक्ष की स्थापना तथा विरुद्ध पक्ष का खण्डन कर विजय को चेष्टा करते हैं। वितण्डा में केवल विरुद्ध पक्ष का खण्डन ही होता है।

१३—हेत्वाभास—आभास का अर्थ मिथ्या प्रतीति है। अनुमान की सिद्धि हेतु द्वारा की जाती है। जहाँ हेतु का आभास मात्र होता है। अर्थात जहां हेतु दिखाई देता है किंतु वास्तविक हेतु नहीं होता उसे हेत्वाभास कहते हैं। यह पाँच प्रकार का होता है। अनुमान के प्रसंग में इस का विवेचन किया जायगा।

१४—छल—अभीष्ट से भिन्न अर्थ की कल्पना द्वारा किसी के वचन

का विघात छल कहलाता है। जैसे 'नव-कम्बलोऽयं माणवकः' वाक्य में 'माणवक के पास नवीन कम्बल हैं' इस अभीष्ट अर्थ के स्थान पर 'माणवक के पास नौ कम्बल हैं' इस अर्थ की कल्पना कर के 'माणवक' के पास एक ही कम्बल है, नौ नहीं' इस तर्क द्वारा उस का खण्डन करना छल है।

१५—जाति—जाति एक पारिभाषिक शब्द है। अस्थिर तर्क का नाम जाति है। किसी प्रकार के भी साधर्म्य या वैधर्म्य द्वारा खण्डन करना जाति है।

निग्रहस्थान—तर्कप्रसंग को जिस स्थान पर आकर पराजय स्वीकार करनी पड़ती है उसे निग्रहस्थान कहते हैं। विप्रतिपत्ति (विपरीत अर्थ ग्रहण) अथवा अप्रतिपत्ति (अर्थ का अग्रहण) दो मुख्य पराजय के आधार होते हैं।

ज्ञान मीमांसा

न्याय-दर्शन के आधार-भूत उक्त सोलह पदार्थों में 'प्रमाण' सर्व प्रथम है। यद्यपि अन्य दर्शनों की भाँति न्याय में भी निःश्रेयस को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है, किंतु वह निःश्रेयस तत्त्व-ज्ञान द्वारा प्राप्य है। यह तत्त्वज्ञान प्रमाणादि षोडश पदार्थों का यथार्थ ज्ञान है। प्रमाण यथार्थज्ञान के साधन हैं। अतः प्रमाण-मीमांसा का न्यायदर्शन में विशेष महत्त्व है। न्याय-दर्शन के अनुसार प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द। इन प्रमाणों के विस्तृत विवेचन के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है।

दीपक के प्रकाश के समान आत्मा का चैतन्य गुण है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश वस्तुओं के स्वरूप को प्रकट कर देता है उसी प्रकार आत्मा का चैतन्याऽऽलोक पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित कर

देता है। प्रकाशन के साथ साथ ही पदार्थों के स्वरूप का अनुभव आत्मा में होता है। इसी अनुभव का नाम ज्ञान है। इसी अनुभव की आवृत्ति को स्मृति कहते हैं। यह अनुभव दो प्रकार का होता है— यथार्थ और अयथार्थ। वस्तु का जैसा वास्तविक स्वरूप है उस के तत्प्रकारक ज्ञान को यथार्थ ज्ञान माना जाता है। वस्तु के वास्तविक स्वरूप से भिन्न-प्रकारक ज्ञान को अयथार्थ ज्ञान कहते हैं। यथार्थज्ञान को प्रमा और अयथाथ ज्ञान को अप्रमा कहते हैं।

अयथार्थ ज्ञान कई प्रकार का होता है, जिन में स्मृति, संशय, भ्रम और तर्क मुख्य हैं। वृक्ष का प्रत्यक्ष अनुभव प्रमा है, क्योंकि वृक्ष का जो यथार्थ स्वरूप है, उसी का अनुभव होता है और हमें निश्चय रहता है कि हमारा ज्ञान यथार्थ है। स्मृति को प्रमा न मानने का कारण यह है कि स्मृति पदार्थ साक्षात् उपस्थित नहीं होता वरन् स्मृति में उस के पूर्वानुभव की आवृत्ति होती है। संशय को अनिश्चित ज्ञान होने के कारण अप्रमा माना जाता है। संशय में मन द्विविधा में रहता है और पदार्थ का यथार्थ स्वरूप निश्चित नहीं कर पाता। भ्रम में यद्यपि तत्काल में संदेह तो नहीं होता फिर भी पदार्थ का यथार्थज्ञान होने के कारण भ्रम भी अप्रमा है। तत्काल में कोई संदेह न होते हुए भी भविष्य के अनुभव से भ्रम की अयथार्थता स्पष्ट हो जाती है। तर्क भी पदार्थका ज्ञान न होने के कारण अप्रमा है। जो अर्थ अभी तक अविज्ञात है उस को कारणोपपत्ति द्वारा जानने के लिए जो ऊहा की जाती है उसे तर्क कहते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ही बाद में तर्क की यथार्थता अथवा अयथार्थता निश्चित की जा सकती है। तब तक यथार्थता-निश्चय के अभाव के कारण तर्क को अप्रमा ही मानना होगा।—

अयथार्थ ज्ञान के उक्त चार प्रकारों में भ्रम अथवा भ्रांति अथवा

अन्यथा ख्याति

भ्रांति की सबसे अधिक विवेचना हुई है। स्मृति और तर्क साक्षात् अनुभव नहीं हैं। एक पूर्वानुभव की आवृत्ति है और दूसरी भविष्यत् अनुभव की कल्पना। अतः पूर्वोत्तर साक्षात् अनुभव के साथ विमर्श द्वारा उन की यथार्थता अथवा अयथार्थता निश्चित की जाती है। संशय साक्षात् अनुभव है, किंतु स्वयं ही संदिग्ध और अनिश्चित होने के कारण अयथार्थ है। किंतु भ्रांति एक निश्चित साक्षात् अनुभव है। जब हम को शुक्ति में रजत दिखाई देता है तो हमारे ज्ञान में किसी प्रकार का अनिश्चय नहीं रहता। हम साक्षात् एक पदार्थ को देखते हैं। हमें विश्वास रहता है कि यह पदार्थ रजत है। पास जाने पर तथा हाथ में उठाने पर ही यह ज्ञात होता है कि यह रजत नह शुक्ति है। हमारा ज्ञान भ्रम पूर्ण तथा अयथार्थ था। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि उस भ्रांति का कारण क्या है? हमें शुक्ति में रजत क्यों दिखाई देता है? भिन्न-भिन्न दर्शनों में भ्रांति की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है।

भ्रांति तत्काल में तो एक निश्चित अनुभव-रूप है किंतु उत्तर कालीन अनुभव से उस का भ्रांतित्व स्पष्ट होता है। अनुभवकाल में शुक्ति रजतरूप ही दिखाई देता है, मृगजल में साक्षात् जल का ही अनुभव होता है। आगे बढ़ कर देखने तथा हाथ में उठाने पर ज्ञान होता है कि 'यह रजत नहीं शुक्ति है', जल पान करने के लिए निकट जाने पर ज्ञात होत ा है कि 'यह जल नहीं बालुका है'। अतः न्यायदर्शन में प्रवृत्ति-संवाद को प्रामाण्य का निकष माना गया है। न्याय के प्रामाण्यवाद को परतः प्रामाण्यवाद कहा जाता है, क्योंकि इस के अनुसार प्रामाण्य का निकष ज्ञान के ही अंतर्गत नहीं है, वरन् उस के बहिः प्रयोजन में है। ज्ञान प्रवृत्ति का प्रेरक है। सफल प्रवृत्ति का आधारभूत-ज्ञान यथार्थ है और असफल प्रवृत्ति का आधारभूत-ज्ञान

अयथार्थ है। मृगजल के निकट जाने पर उस से तृष्णा शांत नहीं की जा सकती। शुक्ति-रजत से अलंकार नहीं गढ़ाये जा सकते। मीमांसा के स्वतः प्रामाण्यवाद का खण्डन न्याय में इस आधार पर किया गया है कि यदि ज्ञान स्वतः प्रमाण होता तो उस में संशय का अवकाश न रहता। सभी ज्ञान यथार्थ होता। किंतु यह असत्य है। अतः ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता।

भ्रांति के विषय में नैयायिकों का मत है कि भ्रांति विषयीमूलक है, विषयमूलक नहीं। भ्रांति में पदार्थ का मिथ्या ज्ञान होता है, किंतु इस से पदार्थ की यथार्थता में कोई अंतर नहीं आता। भ्रांति विषयगत नहीं, ज्ञानगत है; अतः उस का कारण ज्ञानगत-दोष में है। इसे न्यायदर्शन में अन्यथाख्याति कहा गया है। इंद्रियगत दोष के कारण सामान्य-लक्षणों के बीच विशिष्ट लक्षणों के ग्रहण और विवेक में दोष आ जाने के कारण भ्रांति उत्पन्न होती है। सामान्य लक्षण (जैसे शुक्ति तथा रजत का सामान्य गुण कांति) अन्य पदार्थ में भी पाये जाने के कारण अन्य पदार्थ का स्मरण हो आता है किंतु यह शुक्ति में रजत का भ्रम स्मृति नहीं है। हमें रजत का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। स्मृति के द्वारा ज्ञान-लक्षण-सन्निकर्ष होता है और तज्जन्य अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा रजत का अनुभव होता है।

रजत-धर्म का मानसिक उदय होते ही जहाँ जहाँ पहले रजत देखी थी वहाँ वहाँ की रजत का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। गुण और गुणी का समवाय संबंध है। दोनों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए रजत से गुणों का मानसिक उदय पहले देखी हुई रजत के प्रत्यक्ष का कारण हो जाता है। इस अलौकिक प्रत्यक्ष से देखी हुई रजत के गुणों का आरोप समीपवर्ती शुक्ति में कर दिया जाता है, जिस से मिथ्याज्ञान या भ्रम होता है। भ्रम में एक पदार्थ का स्वरूपतः

बोध न होकर अन्यथा ज्ञान होता है, इसीलिए इसे अन्यथा-ख्याति कहते हैं। अन्यथाख्याति का शाब्दिक अर्थ अन्य वस्तुके गुणों का अन्य वस्तु में प्रतीत होना है।

न्याय की यह भ्रांति व्याख्या वैशेषिक, कुमारिल, रामानुज तथा जैनियों को मान्य है। किंतु प्रभाकर बौद्ध और अद्वैत-वेदांत का मत इस से भिन्न है। योगाचार के अनुसार विज्ञान मात्र सत्य है। विज्ञान से अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं है। जब कोई बाह्य विषय ही नहीं है तो भ्रांति का कारण विषयगत हो नहीं सकता। वह केवल ज्ञान-गत है। अतः योगाचार सिद्धांत का नाम आत्मख्याति या ज्ञानकारक ख्याति है। इस सिद्धांत का खण्डन न्यायदर्शन में इस तर्क द्वारा किया गया है कि यदि विज्ञान मात्र ही सत्य है तो फिर विभिन्न विज्ञानों में विवेक का आधार क्या है? विज्ञानमात्र के आधार पर यथार्थ और अयथार्थ विज्ञान का विवेक नहीं हो सकता।

माध्यमिक अखिल सत्ता का निषेध करते हैं। उन के अनुसार एक-मात्र शून्य ही सत्य है। उन के मतानुसार भ्रम में असत् की सतवत् प्रतीति होती है। अतः उन का सिद्धांत असत्ख्याति कहलाता है। इस के विरुद्ध नैयायिकों का यह तर्क है कि शुक्ति रजत का भ्रम निराधार नहीं हो सकता। असत् से भ्रम की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

वेदांत का सिद्धांत अनिर्वचनीय ख्याति कहलाता है। इंद्रियदोष के कारण तथा अविद्या और पूर्व संस्कारों द्वारा एक अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति होती है, जो न सत् है और न असत्। इस के विरुद्ध नैयायिकों का यह आक्षेप है कि यदि रजत की उत्पत्ति होती है तब तो भ्रम नहीं उस का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये।

प्रभाकर मीमांसकों का मत सबसे भिन्न है वह अख्याति अथवा

विवेकाऽख्याति कहलाता है। इस के अनुसार भ्रम में प्रत्यक्ष अनुभव और स्मृति के बीच विवेक का अभाव रहता है। इस के विरुद्ध नैयायिकों का यह आक्षेप है कि भ्रम स्मृति नहीं प्रत्यक्ष अनुभव है। भ्रम निवारण होने पर हम यही कहते हैं कि "जो मैंने देखा वह रजत नहीं है, यह नहीं कि जिस का मैंने स्मरण किया वह रजत नहीं है।

अस्तु अन्य सिद्धांतों की अपेक्षा न्याय का अन्यथा-ख्याति सिद्धांत भ्रम की अधिक संगत व्याख्या है। किसी न किसी रूप में यह अन्य सिद्धांतों में भी व्याप्त है। भ्रम वस्तुतः प्रत्यक्ष ज्ञान है। उस के सभी अवयव अनुभव-गत तथ्य हैं केवल उन में एक असंगत संबंध की कल्पना से वहाँ भ्रम हो जाता है। ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति द्वारा पूर्वानुभूत रजत का वर्तमान में अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। अन्यथा-ख्याति के आलोचकों का कथन है कि' अलौकिक प्रत्यक्ष' मानना संगत नहीं है। यदि 'अलौकिक प्रत्यक्ष' मान लिया जाय तो हर समय हर पदार्थ का प्रत्यक्ष होना चाहिये। अलौकिक-प्रत्यक्ष का सिद्धांत मनुष्य को सर्वज्ञ बना देता है जो अनुभव के विरुद्ध है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

अन्य सब प्रमाणों का आधार होने के कारण प्रत्यक्ष सब प्रमाणों में प्रधान है। न्यायसूत्र की परिभाषा के अनुसार इंद्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष है। इस के साथ साथ यह ज्ञान अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक होना चाहिये। इस परिभाषा में इंद्रियार्थ सन्निकर्ष ही प्रत्यक्ष का विशिष्ट लक्षण है, अतः उत्तरकालीन नैयायिकों ने इंद्रियार्थ-सन्निकर्ष मात्र को प्रत्यक्ष का लक्षण माना है। भाष्यकार के

[1] इंद्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् १ १-४

अनुसार परिभाषा में 'अव्यपदेश्य' पद प्रत्यक्ष का शब्द प्रमाण से भेद करने के लिए है। प्रत्यक्ष अशाब्द प्रमाण है। आत्मगत अनुभवास्था में ही वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। व्यवहार में शब्द रूप में अभिव्यक्त कर देने पर वह प्रत्यक्ष न रह कर शब्द प्रमाण हो जाता है। 'अव्यभिचारि' पद प्रत्यक्ष का भ्रम विवेक करने के लिये है। किंतु उत्तर न्याय में भ्रम में 'अलौकिक प्रत्यक्ष' माना गया है, अतः उत्तरकालीन परिभाषा में से 'अव्यभिचारि' पद निकाल दिया है। 'व्यवसायात्मक' पद प्रत्यक्ष का संशय से विवेक करने के लिये है। प्रत्यक्ष एक निश्चित ज्ञान है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के अनेक प्रकार से अनेक भेद किये गये हैं। सबसे पहले प्रत्यक्ष दो प्रकार का माना गया है—लौकिक और अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष इंद्रिय तथा विषय के साधारण सन्निकर्ष द्वारा उत्पन्न होता है। अलौकिक प्रत्यक्ष किसी असाधारण रूप से इंद्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष होता है। लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—बाह्य मानस अथवा आंतर। बाह्यप्रत्यक्ष बहिरिंद्रियों के साथ विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। बहिरिंइद्रियाँ पाँच हैं, अतः इन के संनिकर्ष से उत्पन्न बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष पाँच प्रकार का है—चाक्षुष' श्रौत, स्पर्शन, रासन तथा घ्राणज। अंतरिंद्रिय केवल एक है जिसे मनस् अथवा अन्तः करण कहा जाता है। अतः आन्तर प्रत्यक्ष केवल एक प्रकार का होता है। उसे मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। मानस प्रत्यक्ष द्वारा आंतरिक भावों का ज्ञान होता है, जो बहिरिंद्रियों के विषय नहीं हैं। इस उभयविध लौकिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार हैं। निर्विकल्पक, सविकल्पक और प्रत्यभिज्ञा। सन्निकर्ष के प्रथम क्षण में पदार्थ की सत्ता मात्र का जो बोध होता है उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। यह अप्रकारक ज्ञान होता है क्योंकि इस में किसी प्रकार-विशेष के रूप में अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता। 'हम कुछ' देखते हैं' इस प्रकार का ज्ञान जिस में इस 'कुछ' प्रकार -विशेष रूप से निरूपण नहीं हो

पाता, निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। प्रकार-विशेष से विशिष्ट ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। जब निर्विकल्पक ज्ञान के निष्प्रकारक केवल 'कुछ' का विशिष्टरूप से ग्रहण होता है, तब उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। सविकल्पक प्रत्यक्ष में हम "कुछ" देखते हैं, के स्थान पर हम वृक्ष देखते हैं, ऐसा ज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञा एक पूर्वानुभूत पदार्थ का तद्रूप से पुनः अभिज्ञान है। 'यह वही पुरुष है जिसे मैंने कल देखा था' यह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का स्वरूप है।

अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है—सामान्यलक्षण, ज्ञान-लक्षण और योगज। अलौकिक प्रत्यक्ष में किसी असाधारण सन्निकर्ष द्वारा उन विषयों का प्रत्यक्ष होता है जो साधारण इंद्रियोंद्वारा ग्राह्य नहीं हैं। सामान्य-लक्षण द्वारा सामान्य अथवा जाति का ग्रहण होता है। न्यायमतानुसार सामान्य अथवा जाति एक स्वतंत्र पदार्थ है जिस की स्वतः सत्ता है। जाति केवल एक शब्दःअथवा कल्पना नहीं है, वरन् वह एक वास्तविक पदार्थ है और उस का सामान्य लक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा बोध होता है। अलौकिक प्रत्यक्ष का दूसरा भेद ज्ञानलक्षण है। इस का एक असाधारण सन्निकर्ष द्वारा ऐसे विषय का बोध होता है जो साधारण रूप से सन्निकृष्ट नहीं होता। भ्रम में शुक्ति में रजत का प्रत्यक्ष ज्ञानलक्षण-जन्य ही होता है। जब हम यह कहते हैं कि 'कमल कोमल दिखाई देता है' तो कमल की कोमलता का ज्ञान लक्षण-सान्निकर्ष द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। कोमलता स्पर्श द्वारा ज्ञेय है, चक्षु दर्शन द्वारा नहीं। किंतु यहाँ दर्शन मात्र से ही यह बोध हो जाता है कि 'कमल कोमल' है। स्पर्श द्वारा पूर्वानुभूत कोमलता के संस्कार के उद्भवन से जो असाधारण सन्निकर्ष उत्पन्न हो जाता है, उसे ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष कहते हैं। योगज प्रत्यक्ष द्वारा अतींद्रिय और अलौकिक पदार्थों का साक्षात् ज्ञान होता है। सिद्ध पुरुषों, मुक्तों और

युक्तों को अलौकिक आत्मशक्ति द्वारा देवता, परमाणु परमेश्वर आदि ऐसे पदार्थों का प्रत्यक्ष बोध होता है, जो अन्यथा अवगम्य नहीं है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में इतना और जान लेना आवश्यक है कि यह केवल इंद्रिय और अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष से ही उत्पन्न नहीं होता। इंद्रियार्थ संनिकर्ष के साथ-साथ आत्मा का मन से और मन का इंद्रिय से सन्निकर्ष भी आवश्यक है। सभी प्रमाणों में सामान्य रूप से अपेक्षित होने के कारण पिछले दो सन्निकर्ष प्रत्यक्ष के विशिष्ट लक्षण नहीं हैं, किंतु आवश्यक हैं। न्याय-दर्शन में आत्मा को विभु और मन को अणु माना गया है। विभु होने के कारण आत्मा का सदा सभी इंद्रियों से संयोग रहता है। अतः एक ही साथ कई इंद्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न कई ज्ञान व्यक्तियों का एक ज्ञान में संकर हो सकता है। किंतु ज्ञान का यह यौगपद्य नैयायिकों को मान्य नहीं। एक काल में एक ही ज्ञान हो सकता है। ज्ञान केवल आत्मेंद्रिय और इंद्रियार्थ सन्निकर्ष से नहीं उत्पन्न होता। वरन् उन के साथ-साथ मन और इंद्रिय का सन्निकर्ष भी होने पर होता है। मन अणु है। अतः एक काल में एक इंद्रिय के साथ ही उस का सन्निकर्ष हो सकता है। मन की तीव्र गति के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक ही पल में देखते, सुनते और अनेक क्रियायें करते हैं। वास्तव में एक काल में एक ही ज्ञान होता है। और उस ज्ञानके लिये मन का इंद्रिय के साथ सन्निकर्ष आवश्यक है। जब हमारा मन कहीं दूसरी जगह होता है तब हम आँखें खुली रहने पर भी नहीं देखते, और कान होते हुये भी नहीं सुनते। तीर बनाने वाले ने गुज़रती हुई राजा की सेना को नहीं देखा। दुष्यंत के ध्यान में लीन शकुंतला के महर्षि दुर्वासा के आगमन का बोध न हुआ।

प्रत्यक्ष के वर्णन में हमने देखा कि प्रत्यक्ष-ज्ञान का कारण या करण

अनुमान प्रमाण

(इंद्रियां) प्रत्यक्ष-प्रमाण कहलाती हैं। इसी प्रकार अनुमिति का करण अनुमान प्रमाण है। अनुमिति अथवा अनुमान-जन्य ज्ञान फल है और व्याप्तिज्ञान करण है। पाठकों को सुविधा के लिये हम कुछ परिभाषाएं देते हैं। उन्हें ठीक-ठीक ध्यान में रखकर ही अनुमान-प्रकरण समझ में आ सकता है। यहाँ पाठकों को हम बतला दें कि न्यायदर्शन में अनुमान प्रमाण बहुत ही महत्त्वपूर्ण और कठिन विषय है।

व्याप्ति—'जहाँ जहां धुँआ होता है वहां वहां अग्नि होती है' इस साहचर्य (एक साथ होने के) नियम को व्याप्ति कहते हैं। रसोई-घर में धूम और अग्नि के साहचर्य का अनुमान हुआ है जिस के बल पर पर्वत में धूम देख कर वह्नि का अनुमान किया जाता है।

पक्ष—अग्नि साध्य है; पर्वत में अग्नि है यह सिद्ध करना है। जहां साध्य की संदिग्ध सत्ता हो उसे 'पक्ष' कहते हैं। पर्वत 'पक्ष' है।

सपक्ष—जहां साध्य (अग्नि) की उपस्थिति निश्चित है वह स्थान या वस्तु सपक्ष कहलाती है। रसोई घर (महानस) सपक्ष है।

विपक्ष—जहां साध्य (अग्नि) का अभाव निश्चित है उसे 'विपक्ष' कहते हैं जैसे 'सरोवर'। सरोवर में अग्नि के अभाव का निश्चय है।

व्यापक और व्याप्य—इस उदाहरण में अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्य। बिना अग्नि के धूम नहीं रह सकता। धूम की उपस्थिति अग्नि की उपस्थिति से व्याप्त है।

पक्ष-धर्मता—व्याप्य (धूम) का पर्वतादि में रहनेवाला होना 'पक्ष धर्मता' है।

परामर्श—व्याप्ति-सहित (जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है इस ज्ञान सहित) पक्षधर्मता का ज्ञान (पर्वत में धूम है, यह ज्ञान) परामर्श कहलाता है।

अनुमिति—परामर्श से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। 'पर्वत' अग्निवाला है। यह ज्ञान अनुमिति है। यह ज्ञान 'वह्निव्याप्य अथवा अग्नि से व्याप्त धूमवाला यह पर्वत है' इस परामर्श से उत्पन्न होता है।

अनुमान प्रमाण—अनुमिति का करण या असाधारण कारण ही अनुमान प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह अनुमान-प्रमाण कोई इंद्रिय नहीं है। नैयायिक लोग आंख, कान आदि इंद्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अनुमान-प्रमाण किसी इंद्रिय का नाम नहीं है।

वास्तव में 'लिंग परामर्श' को अनुमान कहते हैं। यह लिंग परामर्श क्या है? लिंग परामर्श को 'तीसरा ज्ञान' भी कहते हैं। रसोई घर में धूम और अग्नि की व्याप्ति ग्रहण करके जो धूम का ज्ञान होता है वह 'प्रथम ज्ञान' है। पक्ष (पर्वत) में धूम का ज्ञान 'द्वितीय ज्ञान' है। वहीं धूम का अग्नि द्वारा व्याप्य होने का ज्ञान 'तृतीय ज्ञान' है, इसी को 'लिंग परामर्श' कहते हैं। (देखिये तर्कसंग्रह, पदकृत्य, चंद्रजसिंह-कृत)।

पञ्चावयव वाक्य अथवा न्याय

अँगरेज़ी में इसे सिलॉजिज़्म कहते हैं। नैयायिक दो प्रकार का अनुमान मानते हैं, स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थानुमान अपने लिए होता है और परार्थानुमान दूसरों को समझाने के लिए। परार्थानुमान में पंचावयय-वाक्य की आवश्यकता होती है; स्वार्थानुमान में केवल तीन ही अवयव (पहले तीन या अंतिम तीन) अपेक्षित होते हैं। पांच अवयवों के नाम क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन है।

पर्वत अग्निवाला है—यह प्रतिज्ञा है।
क्योंकि उसमें धुँआ है—यह हेतु है।

जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है जैसे रसोई घर में —यह उदाहरण है।

वैसा ही, अग्नि के व्याप्य धूमवाला, यह पर्वत है—यह उपनय है।

इसलिए यह पर्वत अग्नि वाला है—यह निगमन है।

योरुप के कुछ पंडितों ने अवयवों की संख्या पर आक्षेप किया है।

पांच अवयव क्यों? योरुपीय सिलॉजिज़्म में, जिस का स्वरूप यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने स्थिर किया था, तीन ही वाक्य का अवयव होते हैं। आलोचकों का कहना है कि नैयायिकों ने व्यर्थ ही अनुमान-प्रक्रिया को जटिल बना दिया है। इस का उत्तर कई प्रकार से दिया गया है।

पहला उत्तर यह है कि उक्त आक्षेप निराधार है। स्वार्थानुमान में नैयायिक भी तीन अवयव मानते हैं। भारत के दूसरे मतों ने कम अवयव माने हैं। वेदांत-परिभाषा[1] तीन अवयवों के पक्ष का मंडन करती है। कुछ बौद्ध तर्क-शास्त्रियों ने तो दो ही अवयवों को यथेष्ट माना है। पर देखने की बात यह है कि पाँच अवयवों का एक आलंकारिक प्रभाव होता है। अनुमान-प्रक्रिया बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

दूसरा उत्तर यह है कि अरस्तू का 'न्याय' या सिलॉजिज़्म न्याय की दृष्टि से सदोष है। अरस्तू के पहले दो 'प्रेमिसेज़' न्याय के परामर्श वाक्य में संमिलित हो जाते हैं। परामर्श को ही नैयायिक अनुमान का हेतु मानते हैं। 'वह्नि व्याप्य धूमवानयं पर्वतः' (वह्नि जो व्याप्य है ऐसे धूमवाला यह पर्वत है), वास्तव में यह परामर्श वाक्य ही अनुमान का

---

[1] वेदांत परिभाषा [सटीक, बंबई] पृ० २१२

नतु पंचावयवरूपा अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरुपदर्शन संभवे-नाधिकावयव द्वयस्यव्यर्थत्वात्।

कारण है। भारतीय सिलॉजिज्म का एक गुण यह है कि उस का 'मेजार प्रेमिस' अपनी यथार्थता के लिए परमुखापेक्षी नहीं है। यहां 'इंडक्शन' और 'डिडक्शन' दोनों परामर्श वाक्य में मिल जाते हैं। अनुभव और तर्क दोनों से काम लिया जाता है। बर्नार्ड बोसांक्वेट की भाषा में हम कह सकते हैं कि दी इंडियन सिलॉजिजम कंटेंस इट्स ओन नैसेसिटी भारतीय सिलाजिज़्म की यह संपूर्णता सर्वथा श्लाघनीय है। अरस्तू का न्याय इस प्रकार है :—

सब मनुष्य मरणशील हैं;
सुकरात मनुष्य है;
इसलिए, सुकरात मरणशील है।

यहां पहले वाक्य की सत्यता स्वतः-सिद्ध नहीं है; उस के लिए प्रमाण अपेक्षित है। न्याय की भाषा में हम इसे इस प्रकार कहेंगे :—

सुकरात में मर्त्यता या मरणशीलता है;
क्योंकि सुकरात में मनुष्यता है।
जहां जहां मनुष्यता है वहां वहां मर्त्यता है, जैसे देवदत्त में।
सुकरात में मनुष्यता है जो कि मर्त्यता से व्याप्त है,
इसलिए सुकरात में मर्त्यता है।

चौथा वाक्य लिंगपरामर्श है जिस में अरस्तू के पहले दोनों वाक्यों का सत्य निहित है; इस मिश्रित वाक्य के बिना अनुमान समझ में नहीं आ सकता। न्याय के अनुमान में व्याप्ति को सत्य उदाहरण द्वारा सुबोध बना दिया जाता है; उदाहरण से व्याप्ति की सिद्धि होती है, यह समझना भ्रम है। व्याप्ति को झूठी सिद्धि करने का भार नैयायिक प्रतिपक्षी पर डाल देता है, जब कि अरस्तू के सिलॉजिज़्म में मेजार प्रेमिस के सत्य होने का प्रमाण अनुमान करनेवाले को देना चाहिए।

लिंग-परामर्श अनुमिति का करण है, यह बताया जा चुका है।

लिंग तीन प्रकार का होता है केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, और अन्वय-व्यतिरेकी। जिस में अन्वय-व्याप्ति और व्यतिरेक-व्याप्ति दोनों हों वह अन्वय-व्यतिरेकी लिंग है। भावात्मक व्याप्ति को अन्वय-व्याप्ति कहते हैं। जैसे 'जहां जहां धूम है वहां वहां अग्नि है।' अभावात्मक व्याप्ति को व्यतिरेक-व्याप्ति कहते हैं, जैसे 'जहां अग्नि नहीं है वहां धूम भी नहीं है।' पर्वत में वह्नि का अनुमान करने के उपर्युक्त उदाहरण में दोनों प्रकार की व्याप्ति मिल जाती है। रसोई घर में धूम है और अग्नि भी; सरोवर में अग्नि नहीं है इसलिए धूम भी नहीं है।

जिस उदाहरण में केवल अन्वय-व्याप्ति मिल सके वह केवलान्वयी अनुमान कहलाएगा। 'घट अभिधेय (नामकरण करने योग्य या नाम-वाला) है क्योंकि घट प्रमेय है' इस अनुमान में अन्वय-व्याप्ति ही मिलती है—जो जो प्रमेय है वह वह अभिधेय है। 'जो प्रमेय नहीं है वह अभिधेय नहीं है', इस प्रकार की व्यतिरेक-व्याप्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि संसार की सारी चीज़ें प्रमेय (प्रमाणों से जानने योग्य) और अभिधेय (वर्णन करने योग्य) दोनों हैं।

नैयायिक किसी वस्तु को अज्ञेय या अप्रमेय नहीं मानते। इस संपूर्ण जगत् का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

अनुमान के जिस उदाहरण में केवल व्यतिरेक-व्याप्ति मिल सके वह केवल व्यतिरेकी अनुमान कहलाएगा। 'पृथ्वी अन्य भूतों से भिन्न है, गंधवाली होने के कारण।' गंध पृथ्वी का गुण है, वायु अग्नि और आकाश का नहीं। 'जो जो गंधवान है वह इतरों (अन्य भूतों) से भिन्न है, ऐसे अन्वय-व्याप्ति यहां नहीं है। 'जो इतर भूतों से भिन्न नहीं है वह गंधवान् नहीं है, जैसे जल, इस प्रकार की व्यतिरेक व्याप्ति ही उपलब्ध हैजसि से 'पृथ्वी दूसरे भूतों से भिन्न है' यह अनुमान किया जाता है।

साध्य यह है कि पृथ्वी दूसरे भूतों से भिन्न है। पृथ्वी मात्र ही पक्ष है, इसलिए 'जो गंधवान् है वह अन्य द्रव्यों से भिन्न है' ऐसी व्याप्ति नहीं मिलती। संपूर्ण पृथ्वी के बदले कोई पार्थिव चीज़ पक्ष होती तो अन्वय-व्याप्ति संभव थी।

वेदांती और मीमांसक केवलान्वयी और केवल-व्यतिरेकी अनुमान नहीं मानते। वे इस के बदले अर्थापत्ति नाम का अलग प्रमाण मानते हैं।

हेत्वाभास

अब तक ठीक हेतुओं का वर्णन हुआ। दुष्ट हेतुओं को हेत्वाभास कहते हैं। जो ठीक हेतु की तरह मालूम हो पर ठीक हेतु न हो, वह हेत्वाभास है। तर्कसंग्रह के लेखक अन्नभट्ट पाँच हेत्वाभास मानते हैं, जो न्यायसूत्र के हेत्वाभासों से कुछ भिन्न हैं। गोतम के पाँच हेत्वाभासों के नाम सव्यभिचार, विरूद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत हैं। अन्नभट्ट के पाँच हेत्वाभास सव्यभिचार, विरूद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित हैं।

१- सव्यभिचार—उस हेतु को कहते हैं जो अभीष्ट साध्य से उलटा भी सिद्ध कर दे। धुँआ अग्नि-सहित पर्वत में ही हो सकता है। यहाँ धुँआ लिंग (चिह्न) कहाता है। यदि लिंग साध्य के अभाव-स्थल में भी पाया जाय तो सव्यभिचार हेतु होगा। जैसे' पर्वत अग्निवाला है, प्रमेय होने के कारण' यह हेतु ठीक नहीं। क्योंकि साध्य के अभाव-स्थल या 'विपक्ष' (सरोवर) में भी प्रमेयत्व पाया जाता है। सरोवर भी प्रमेय है, उसे भी अग्निवाला होना चाहिए। इस हेत्वाभास को साधारण सव्य-भिचार' कहते हैं।

असाधारण सव्यभिचार उस लिंग को कहते हैं जो सपक्ष या विपक्ष में कहीं न पाया जाय, सिर्फ़ पक्ष में ही पाया जाय। जैसे, 'शब्द नित्य

शब्द होने के कारण ; यहां शब्दत्व शब्द के अतिरिक्त कहीं नहीं पाया जाता।

जिस का अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार का दृष्टांत न मिल सके उसे 'अनुपसंहारी सव्यभिचार' कहते हैं। सब चीजें अनित्य हैं। प्रमेय होने के कारण, यहां सब संसार के पक्ष होने के कारण दृष्टांत ही नहीं मिल सकता।

२- जो हेतु साध्य के अभाव में व्याप्त हो उसे 'विरुद्ध' कहते हैं। शब्द नित्य है, कार्य होने के कारण। कार्यत्व अनित्यत्व से व्याप्त है न कि नित्यत्व से। इसलिये कार्यत्व हेतु विरुद्ध है।

३. सत्प्रतिपक्ष —जिस का प्रतिपक्ष मौजूद हो, साध्य के अभाव को सिद्ध करनेवाला दूसरा हेतु वर्त्तमान हो, उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। 'शब्द नित्य है, श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण इसका प्रतिपक्ष भी है—'शब्द अनित्य है, कार्य होने के कारण।'

४. असिद्ध हेत्वाभास तीन प्रकार का है, आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध।

'गगनारविन्द या आकाशकमल सुरभि होता है, कमल होने के कारण; सरोवर कमल की तरह, यह 'आश्रयासिद्ध' है। यहां गगनारविंद आश्रय है जिस की सत्ता नहीं है।

स्वरूपासिद्ध —'शब्द गुण है, चक्षु-ग्राह्य होने के कारण'; चाक्षुष होना शब्द में नहीं है।

उपाधि-सहित हेतु को 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहते हैं। 'पर्वत धूमवाला है, अग्निवाला होने के कारण।' भीगे ईंधन की उपस्थिति में ही अग्नि में धुंआ होता है, इसलिये आर्द्र ईंधन का संयोग उपाधि है। अग्नि सोपाधिक हेतु है।

५५. जिस का साध्याभाव प्रमाणों से निश्चित है वह बाधित हेतु है। 'अग्नि ठंडी होती है, द्रव्य होने के कारण' यहां अनुष्णता या ठंढापन साध्य है जिस का अभाव उष्णत्व, स्पर्श नामक प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत होता है। इसलिये यह हेतु 'बाधित' है।

अनुमान-प्रकरण समाप्त हुआ। अब उपमान का वर्णन करते हैं।

उपमान प्रमाण

यह प्रमाण नैयायिकों की विशेषता है। संज्ञासंज्ञि (पद और पद का अर्थ) के संबंध का ज्ञान 'उपमिति' कहलाता है। उस के असाधारण कारण को उपमान-प्रमाण कहते हैं। सादृश्य ज्ञान ही उपमिति का हेतु है। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति 'गवय' (नील गाय) को नहीं जानता। किसी वनवासी ने उस से कहा, "गाय के समान गवय होता है।" यह सुनकर वह बन में जाकर उस वाक्य के अर्थ का स्मरण करता है और गाय के समान पशु को देखता है। तब उसे यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यही गवय शब्द का वाच्य है।' यही ज्ञान उपमिति है। इस प्रकार गवय पद या शब्द के अर्थ का बोध हो जाता है; यही संज्ञा-संज्ञिका संबंध ज्ञान है। गाय में होनेवाला गवय का सादृष्य ही इन का कारण है। यह ज्ञान व्याप्ति ज्ञान के बिना हो जाता है, इसलिये उपमान का अनुमान में अंतर्भाव नहीं हो सकता।

यथार्थवादी को आप्त कहते हैं। जैसा जानना वैसा कहना, यही

शब्द प्रमाण

यथार्थवादिता है। आप्त का वाक्य ही शब्द प्रमाण है। वाक्य पदों के समूह को कहते हैं। शक्तिवाले या शक्त को पद कहते हैं, शक्ति क्या है? इस पद या शब्द से इस अर्थ का बोध होगा, यह ईश्वर का संकेत ही शक्ति है। शब्दों

का अर्थ ईश्वर ने निश्चित किया है। यही ईश्वर-संकेत गुरु-शिष्य परंपरा से हम तक चला आया है।

वाक्य का अर्थ बोध आकांक्षा, योग्यता और संनिधि से होता है। वाक्य के पदों का अन्वय होना चाहिए। 'गाय, घोड़ा, हस्ती' यह वाक्य नहीं हुआ; इस में 'आकांक्षा' का अभाव है। 'अग्नि से सींचे' यह वाक्य प्रमाण नहीं है क्योंकि इस में 'योग्यता' का अभाव है। यदि एक एक घंटे बाद कोई कहे 'पानी' 'लाओ' आदि तो उस का वाक्य अप्रमाण होगा, क्योंकि उस के पदों (विभक्ति सहित शब्दों) में संनिधि (समीपता) नहीं है।

वाक्य दो प्रकार का होता है, लौकिक और वैदिक। वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने के कारण सभी प्रमाण हैं। लौकिक वाक्य आप्त का कहा हुआ ही प्रमाण होता है, और किसी का नहीं।

स्मृति

संस्कारों से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं। स्मृति से भिन्न ज्ञान अनुभव कहलाता है जो कि यथार्थ और अयथार्थ दो प्रकार का होता है। यथार्थ ज्ञान या अनुभव का लक्षण पीछे बता चुके हैं। स्मृति भी यथार्थ और अयथार्थ दो प्रकार की हो सकती है। प्रमा-जन्य स्मृति को यथार्थ स्मृति कहते हैं; अप्रमा-जन्य को अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान का ही नाम प्रमा है।

कारणता विचार

प्रत्यक्षप्रमाण की परिभाषा में हमने कहा था—प्रत्यक्षज्ञान के असाधारण कारण (करण) को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि 'कारण' किसे कहते हैं? इसी से संबद्ध प्रश्न यह भी है कि कार्य किसे कहते हैं? कार्य के विषय में न्याय का सिद्धांत 'असत्कार्यवाद'

कहलाता है। उत्पत्ति से पहले जो घट का अभाव होता है उसे घट-प्रागभाव कहते हैं। प्रागभाव के प्रतियोगी का नाम कार्य है (कार्य-प्रागभाव प्रतियोगि)।

प्रतियोगिता एक प्रकार का संबंध है। घट और घट के प्रागभाव में विरुद्धत्व संबंध है। घट की उत्पत्ति घट के प्रागभाव का नाश कर देती है, उस की विरोधिनी है। उस भाव पदार्थ को जिस से किसी अभाव का स्वरूप समझा जाता है, उस अभाव का प्रतियोगी कहते हैं। घटाभाव का प्रतियोगी घट होगा। कार्य की इस परिभाषा का सीधा अर्थ यही है कि उत्पत्ति से पहले घट का अभाव होता है। घट या कार्य की किसी रूप में कहीं उपस्थिति नहीं होती। यह सिद्धांत सांख्य का ठीक उलटा है। सांख्य का मत 'सत्कार्यवाद' कहलाता है। उत्पत्ति से पहले कार्य कारण में छिपा रहता है; उत्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति मात्र है। मूर्त्ति जिसे स्थपति या मूर्त्तिकार खोद देता है, धातु या पत्थर में छिपी रहती है। मूर्त्तिकार अपने प्रयत्न से उसे अभिव्यक्त कर देता या व्यक्त रूप दे देता है। असत्कार्यवाद की आलोचना और सत्कार्यवाद की युक्तियों के विषय में हम आगे लिखेंगे।

कारण की परिभाषा

कारण सत् होता है और कार्य असत्; सत् से असत् की उत्पत्ति होती है यह नैयायिकों का मत हुआ। सर्वदर्शन-संग्रहकार कहते हैं :—

इह कार्य-कारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। असतः सज्जायते इति सौगताः संगिरन्ते। नैयायिकादयस्तु सतो सज्जायत इति। वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न तु वस्तुसदिति। सांख्याः पुनः सतः सज्जायत इति।[1]

---

[1] सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १२१

अर्थात्—कार्य-कारण-भाव में चार प्रकार का मत है। असत् से सत् उत्पन्न होता है यह बौद्धों का मत है। सत् से असत् की उत्पत्ति न्याय का मत है। सत् से विवर्त उत्पन्न होता है न कि सद्वस्तु, यह वेदांत का सिद्धांत है। सत् से सत् ही उत्पन्न होता है, यह सांख्यों का विश्वास है।

बौद्धों को छोड़ कर शेष तीनों उपर्युक्त दर्शन कारण को सत् मानते हैं। उन्हें हम सत्कारणवादी कह सकते हैं। प्रश्न यह है कि कारण किसे कहते हैं? साधारण लोग समझते हैं कि कार्य से पहले आनेवाली चीज़ कारण होती है। लेकिन कार्य से पहले बहुत सी चीज़ें आती रहती हैं। घट की उत्पत्ति से पहले कुम्हार, उस का दण्ड, गधा आदि अनेक वस्तुएं हैं। इन में से किसे कारण कहना चाहिये? न्याय का उत्तर है,

कार्यनियत पूर्ववृत्ति कारणम्

जो कार्य के पहले नियम पूर्वक उपस्थित होता है उसे कारण कहते हैं। कुम्हार, मिट्टी और दण्ड नियमपूर्वक घटोत्पत्ति से पहले उपस्थित होते हैं, इसलिए उन्हें घट का कारण कहना चाहिए। गर्दभ का होना आवश्यक नहीं है, इसलिए वह कारण नहीं है।

परंतु यह लक्षण अतिव्याप्त है। जिस चीज़ का लक्षण किया जाय, उस के अतिरिक्त पदार्थ में भी घट जानेवाले लक्षण में अतिव्याप्ति दोष होता है। जिन चीज़ों का या जिस श्रेणी की चीज़ों का लक्षण किया जाय उन में से कुछ में जो लक्षण न घट सके, उसे अव्याप्त लक्षण कहते हैं और उस का दोष 'अव्याप्ति' कहलाता है। लक्षण का तीसरा दोष असंभवता होता है, जैसे अग्नि का लक्षण पदार्थ ठण्डा करना।

'जानदार वस्तु को पशु कहते हैं', यह लक्षण अतिव्याप्त है।

मछलियां और पक्षी भी जानदार पदार्थ हैं। 'दो सींगवाले को पशु कहते हैं,' यह लक्षण अव्याप्त है। कुत्ता भी पशु होता है जो कि इस लक्षण में नहीं आता। तीनों दोषों से मुक्त लक्षण ही ठीक लक्षण होता है।

कार्य के पहले नियम से उपस्थित होने वाली चीज़ों में आकाश, काल, ईश्वर आदि नित्य पदार्थ, कुम्हार का पिता आदि भी होते हैं। तो क्या इन सब को कारण कहना चाहिए? इस के उत्तर में नैयायिक कारण के लक्षण में कुछ सुधार करते हैं। सही लक्षण यह है।

अनन्यथा सिद्धत्वे सति कार्य नियतपूर्ववृत्ति कारणम्—अर्थात् जो कार्य के पहले नियम से उपस्थित हो और जो अन्यथा सिद्ध न हो उसे कारण कहते हैं। यह अन्यथा-सिद्ध क्या बला है? वास्तविक कारण से संबद्ध होने के कारण जिस की पूर्ववर्तिता[1] होती है—जिस की पूर्ववर्तिता वास्तविक कारण की पूर्ववर्तिता पर निर्भर हो, उसे अन्यथा-सिद्ध कहते हैं। विश्वनाथ के मत में अन्यथा-सिद्ध पांच प्रकार के होते हैं। तर्क-संग्रह की 'दीपिका' में अन्नभट्ट ने तीन प्रकार के अन्यथा-सिद्ध बतलाए हैं जो हम नीचे देते हैं।

१—वे पदार्थ जो कारण से समवाय संबंध से संबद्ध हों जैसे 'दण्डत्व' 'और दण्ड रूप'। 'दण्डत्व' और 'दण्डरूप' को दण्ड से, जो घट का कारण है, अलग नहीं कर सकते। 'समवाय' का अर्थ है नित्य-संबंध।

२—वे वस्तुएं जो कारण के भी पहले वर्त्तमान हैं और इसलिए

---

[1] पूर्ववर्त्तिता का अर्थ है पहले स्थिति। जो किसी चीज़ के पहले मौजूद हो वह उस चीज़ का पूर्ववर्त्ती कहलाता है।

कार्य से पहले भी वर्त्तमान होती हैं, जैसे ईश्वर, काल, कुम्हार का पिता।

२—कारण के समकालीन या सहकारी जो कारण से समवाय संबंध द्वारा संबद्ध नहीं हैं, जैसे रूपप्रागभाव। घट के रूप का प्रागभाव कारण का समकालीन है।

कारणके भेद

कारण तीन प्रकार का होता है, समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण।

समवायिकारण—जिस से समवेत होकर या समवाय संबंध से संबद्ध होकर कार्य उत्पन्न होता है उसे समवायि कारण कहते हैं। मिट्टी घड़े का समवायिकारण है। इसी को उपादानकारण भी कहते हैं।

असमवायिकारण—कार्य या कारण के साथ एक जगह समवेत होकर जो कारण हो उसे असमवायिकारण कहते हैं। तंतु (डोरे) पटका समवायिकारण हैं। तंतुओं का रंग वस्त्र के रंग का असमवायिकारण है। तंतु-संयोग तंतु नामक एक अर्थ (वस्तु या जगह) में पटरूप कार्य से समवेत (समवाय कारण से संबद्ध) होता है। इसी प्रकार तंतु-रूप वस्त्र के साथ, जो कि अपने रूप अर्थात् वस्त्र के रूप का असमवायिकारण है, एक अर्थ तंतु में समवेत होता है और वस्त्र के रूप का असमवायिकारण बन जाता है। वस्त्र अपने रूप का समवायिकारण है, तंतुओं का रंग उसी का असमवायिकारण है।

इन दोनों से भिन्न जो कुछ कारण होता है उसे निमित्तकारण कहते हैं, जैसे कुम्हार घट का या कुविन्द (जुलाहा) पट का। दण्ड भी घट का निमित्तकारण है।

इन तीनों कारणों में जो असाधारण कारण है वही 'करण' है।

पाणिनि का सूत्र है—साधकतमं करणम् अर्थात् सब से अधिक अपेक्षित साधक को करण कहते हैं। आशा है अब पाठक 'प्रत्यक्षज्ञान का करण प्रत्यक्ष प्रमाण है' इस परिभाषा को समझ गए होंगे।

तत्त्व मीमांसा प्रारम्भ करने से पहले नैयायिकों के अवयवी-विषयक सिद्धांत पर और दृष्टिपात कर लें। नैयायिक अवयवी को अवयवों से भिन्न मानते हैं। घट पदार्थ उस मिट्टी या उन परमाणुओं से जिन का घट बना है, भिन्न है। वात्स्यायन ने अपने न्याय-भाष्य में अवयवी के अवयवों से भिन्न होने पर अनेक युक्तियां दी हैं। सबसे बड़ा तर्क यह है कि अवयवी का अवयवों से अलग प्रत्यक्ष होता है। घट का प्रत्यक्ष घट के किसी विशेष भाग तक सीमित नहीं होता। यदि अवयवी की अलग सत्ता होती तो उस का अलग प्रत्यक्ष भी नहीं होता यदि अवयवी का प्रत्यक्ष न मानें तो द्रव्य, गुण, जाति आदि का प्रत्यक्ष न हो सके। यदि कहें कि वास्तव में अवयवों के अतिरिक्त अवयवी की सत्ता नहीं होती, भ्रमवशात् अवयवों में एकता दीखने लगती है, जिसे अवयवी का प्रत्यक्ष कहते हैं, तो ठीक नहीं। यदि कहीं भी 'एकता' की सत्ता न हो तो उस का भ्रम भी न हो। जिसे देखा नहीं है, उस का भ्रम भी नहीं हो सकता। इसलिये घड़ा परमाणुओं का समुदाय मात्र नहीं है, उस की अलग सत्ता है।

अवयव और अवयवी

तत्त्व मीमांसा

न्याय के आधारभूत सोलह पदार्थों में द्वितीय पदार्थ अर्थात् प्रमेय के अंतर्गत न्याय-दर्शन की तत्त्व-मीमांसा आ जाती है। प्रमेय बारह हैं—आत्म, शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मानस, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग।

प्रमेय

आत्मा—प्रमेयों में आत्मा प्रधान है, क्योंकि वही प्रमाता भी है। न्यायसूत्र के अनुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, और ज्ञान आत्मा के लिङ्ग हैं। [1] उत्तर न्याय में आत्मा को केवल ज्ञान का अधिकरण माना गया है। [2] किंतु न्याय की मूल धारणा के अनुसार आत्मा ज्ञान के साथ-साथ भावना और कर्म का भी अधिकरण है। द्वेष, सुख, दुःख भावना के अंतर्गत और इच्छा प्रयत्न कर्म के अंतर्गत आते हैं। यह आत्मा शरीर-इंद्रिय आदि से भिन्न उन का अधिष्ठाता तथा समस्त कर्म का प्रेरक है। चैतन्य आत्मा तथा शरीरादि के भेद का चिह्न है। किंतु यह चैतन्य आत्मा का नित्य गुण नहीं है। शरीर के साथ आत्मा का संबंध होने पर आत्मा में चैतन्य गुण उत्पन्न हो जाता है। मृत्यु और मोक्ष की अवस्था में वह चैतन्य विलीन हो जाता है। उत्तर न्याय वैशेषिक में आत्मा के दो भेद किये गये हैं—जीवात्मा और परमात्मा। न्याय सूत्र में आत्मा का आशय जीवात्मा से ही है। ईश्वर का विवेचन पृथक् किया गया है। अतः हम भी न्याय में ईश्वर के स्वरूप और महत्व का विवेचन अन्यत्र करेंगे।

शरीर— आत्मा भोग और ज्ञान का अधिकरण है। वह भोक्ता और ज्ञाता है। शरीर उस का भोगायतन है। वह चेष्टा, इंद्रिय और अर्थ का आश्रय है। [3] ईप्सित पदार्थ को प्राप्त करने तथा त्याज्य से बचने की सक्रिय कामना चेष्टा रूप से शरीर में ही वर्तमान रहती है तथा प्रवर्तित होती है। इन्द्रियाँ भी शरीर में आश्रित रहती हैं।

[1]—इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् न्या०-सूत्र १०—१—१०

[2]—ज्ञानाधिकरणमात्मा-तर्कसंग्रह

[3]—चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् न्या० सू० १-१-११

शरीर के स्वस्थ रहने पर वे स्वस्थ रहती हैं, उपहत होने पर उपहत हो जाती हैं। इंद्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न सुख-दुःख का प्रतिसंवेदन भी शरीर में ही होता है, अतः यह इन (अर्थों का) भी आश्रय है।

इंद्रिय—भोग के साधन इंद्रियाँ है। घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक, श्रोत्र भेद से इंद्रियाँ पाँच हैं। [1]घ्राणेंद्रिय द्वारा गंध का रसनेंद्रिय द्वारा रस का, चक्षुरिंद्रिय द्वारा रूप का, त्वगिंद्रिय द्वारा स्पर्श का तथा श्रोत्रेंद्रिय द्वारा शब्द का ग्रहण होता है। वाह्य रूप से प्रतीत होने वाले स्थूल-अंग—नाक, जीभ, नेत्र, त्वचा, और श्रवण—वास्तव में इंद्रिय नहीं। वे तो शारीरिक अंग हैं जिन में ग्रहण शक्ति रूप से इंद्रिय रहती है। इंद्रिय तो ज्ञान के सूक्ष्म साधन का नाम है। उस का लौकिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। योगज प्रत्यक्ष द्वारा ही सूक्ष्म इंद्रिय का साक्षात् ज्ञान होता है। अन्यथा वह अनुमान से ही जानी जाती है। भाष्यकार के मतानुसार मन भी एक अंतरिंद्रिय है। उस के द्वारा आंतरिक विषयों का ज्ञान होता है, अतः उसे अंतःकरण कहते हैं।

अर्थ—गंध, रस, रूप स्पर्श, और शब्द जो पृथ्वी आदि के गुण हैं, इंद्रियों के अर्थ अथवा विषय हैं। [2]

बुद्धि—उपलब्धि अथवा ज्ञान का ही नाम बुद्धि है। [3]

मनस—युगवत् (एक साथ) ज्ञान की अनुत्पत्ति मनस् का लिङ्ग है।

---

[1]—घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीद्रिंयाणिभूतेभ्यः। न्या० सू० १-१-१२

[2]—गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादि गुणास्तदर्थाः न्या० सू० १-१-१४

[3]—बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् न्या० सू० १-१-१५

१ मनस् अणु है, अतः एक काल में एक इंद्रिय के साथ ही उस का सन्निकर्ष हो सकता है। अतएव एक काल में एक ही ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है। एक साथ अनेक ज्ञानों के ग्रहण की प्रतीति मनस् की तीव्र गति के कारण होती है।

प्रवृत्ति—मन, वाणी, और शरीर का संचालन प्रवृत्ति है।[२] अस्तु विचार वचन और क्रिया ये तीन प्रवृत्ति के रूप हैं।

दोष—प्रवृत्ति के हेतु को दोष कहते हैं।[३] दोष में रागद्वेष दोनों सम्मिलित हैं। समस्त प्रवृत्ति रागद्वेष मूलक ही है।

प्रेत्यभाव—एक देह धारण कर उत्पन्न हुये का मरण के अनंतर अन्य देह धारण कर उत्पन्न होना प्रेत्यभाव कहलाता है।[४] यह जन्म मरण की परंपरा अनादि है। इस का अंत अपवर्ग (मोक्ष) में ही हो सकता है।

फल—प्रवृत्ति तथा दोष से उत्पन्न होने वाला फल है।[५] दोष से प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति का फल सुख दुःख का संवेदन (अनुभव) होता है; वही फल कहलाता है।

दुःख—पीड़ा, ताप आदि दुःख के लक्षण हैं।[६] सुख का भी दुःख में ही अंतर्भाव है, क्योंकि परिणाम में सुख भी दुःख ही है।

---

[१]—युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् न्या० सू० १-१-१६।

[२]—प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ १-१-१७

[३]—प्रवर्त्तनालक्षणा दोषा-१-१-१८

[४]—पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभाव १-१-१९

[५]—प्रवृत्तिदोष जनितोऽर्थः फलम् १-१-२०

[६]—बाधना लक्षणं दुःखम्-१-१-२१

अपवर्ग—उस दुःख से अत्यंत विमुक्ति का नाम अपवर्ग है।[1] जैसा कि भाष्यकार का कथन है। यह प्रमेय पदार्थों की संपूर्ण सूची नहीं है। प्रमेय पदार्थ बारह से अधिक हैं, किंतु निःश्रेयस के लिये इन बारह का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। यों तत्व-सिद्धांत की दृष्टि से न्यायदर्शन यथार्थवादी है। वह आत्मा और ईश्वर के अतिरिक्त एक पृथक् भौतिक सत्ता में विश्वास करता है। ईश्वर केवल निमित्त कारण है। वह उसी प्रकार विश्व का विधाता है जिस प्रकार कुम्हार घट का। वैशेषिक में तत्व मीमांसा का अधिक विस्तार है, जो अधिकांश में न्याय को भी मान्य है।

न्याय का बाद ईश्वर

न्याय एक ईश्वरवादी दर्शन है। इस के अनुसार ईश्वर जगत् का कर्त्ता है। किंतु वह केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। जगत् का उपादन तो पंच-महाभूत हैं। ईश्वर उन से उसी प्रकार जगत् की सृष्टि करता है जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टी से घट का निर्माण करता है। न्याय का यह ईश्वर सर्वज्ञ तथा सर्व शक्तिमान है। सर्वज्ञ होने के कारण ही वह अनंत जीवों के अदृष्ट-फलादि की व्यवस्था कर सकता है। सर्व शक्तिमान् होने के कारण ही वह इस अनंत रहस्य जगत् की सृष्टि कर सकता है। यद्यपि उत्तर न्याय में तर्करूपों का विकास अधिक हुआ है, फिर यह एक अनोखी बात है कि इस के साथ-साथ न्याय का ईश्वर-वादी रूप और भी निखरता गया है। उत्तर न्याय के सभी ग्रंथ ईश्वर-की सुंदर कवित्वपूर्ण वंदना से आरंभ होते हैं। उदयनाचाय की 'न्याय कुसुमाञ्जलि' का मुख्य विषय ईश्वर प्रतिपादन ही है। उन्हो ने ईश्वर

---

[1]—तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः १-१-२२

की उपासना को स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति का साधन माना है, ।[1]

न्याय दर्शन में अनेक तर्कों द्वारा ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। ईश्वर की सिद्धि के लिये नैयायिकों का सबसे प्रसिद्ध तर्क इस प्रकार है:—

पृथ्वी, अंकुर आदि कर्तृ-जन्य (कर्त्ता से उत्पन्न) हैं,

क्योंकि वे कार्य हैं,

जो जो कार्य होता है वह कर्तृ-जन्य होता है, जैसे घट।

इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी, तारागण, सूर्यादि का कोई कर्त्ता है। चूँकि मनुष्यों में इन का कर्तृत्व संभव नहीं है, इसलिये इन के कर्त्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर का होना आवश्यक है।[2]

इस युक्ति के आलोचकों ने बतलाया है कि जगत् को 'कार्य' मान लेना वास्तव में जो सिद्ध करना है, जो साध्य है, उसे सिद्ध मान लेना है। जगत् का कार्य होना स्वयं-सिद्ध सत्य नहीं है, उसे प्रमाण की अपेक्षा है। यह कहना कि सावयव होने के कारण जगत् कार्य है, ठीक नहीं। प्रत्येक सावयव पदार्थ कार्य ही हो, यह आवश्यक नहीं है। दूसरे, कर्त्ता शरीरवान ही देखा गया है। यदि ईश्वर जगत का कर्त्ता है तो उसे शरीरी होना चाहिए। परंतु शरीरवान् कर्त्ता सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सब प्रकार शुद्ध नहीं हो सकता; न उस का शरीर ही नित्य हो सकता है। अनित्य शरीर के कर्त्ता की अपेक्षा होगी। ईश्वर के शरीर का कर्त्ता कौन हो सकता है?

---

[1]—स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते, कुसुमाञ्जलि।

[2] वही, मंगलाचरण।

श्री उदयनाचार्य ने अपनी 'कुसुमाञ्जलि' में ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिये कुछ और प्रमाण दिये हैं। वे कहते हैं,

> कार्यायोजन धृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः
> वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः (५।१)

इस श्लोक में आठ युक्तियां दी गई हैं जिन का हम क्रमशः वर्णन देते हैं।

१—जगत् कार्य है, उस का कर्त्ता आवश्यक है। यह युक्ति ऊपर दी जा चुकी है।

२—आयोजन—सृष्टि के प्रारंभ में दो परमाणुओं को मिलाकर द्व्यणुक बनाना बिना ईश्वर के नहीं हो सकता। परमाणुओं का संयोग-कर्त्ता ईश्वर है।

३—धृति—ईश्वर जगत् को धारण करता है, अन्यथा पृथिवी आदि लोक गिर पड़ें।

४—पदात्—कपड़ा बुनने आदि की कलाएं गुरु-शिष्य-परंपरा से चली आती हैं। इन का आविष्कार प्रारंभ में ईश्वर द्वारा हुआ होगा। पतंजलि का कथन है कि ईश्वर प्राचीनों का भी गुरु है; उस की काल-कृत सीमा नहीं है।

५—प्रत्ययतः—वेदों का प्रामाण्य ईश्वर से आया है। वेद जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करते हैं इस का श्रेय ईश्वर को है।

६—श्रुतेः—श्रुति भी कहती है कि ईश्वर है।

७—वाक्यात्—वेद वाक्यमय हैं, वाक्यात्मक हैं। इन वाक्यों का रचयिता होना चाहिए।

८—संख्या विशेषात्—दो परमाणुओं के मेल से द्व्यणुक बना

जिस से त्र्यणुकों और जगत् की सृष्टि संभव हुई। इस 'दो' संख्या की कल्पना करनेवाला ईश्वर था।

उदयन ने ईश्वर की सत्ता में एक और भी प्रमाण दिया है। पहले उन्होंने अदृष्ट की स्थापना की है और फिर यह दिखलाया है कि अदृष्ट का नियमपूर्वक व्यापार ईश्वर के बिना नहीं हो सकता। 'अदृष्ट' को नियमित रूप से व्यापृत (व्यापारवान) करने के लिए ईश्वर अथवा एक बुद्धिमान् और शक्तिमान् पदार्थ का होना आवश्यक है।

इन युक्तियों का आधुनिक काल में क्या महत्त्व रह गया है, यह बताना कठिन है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार की युक्तियां अच्छी मालूम होती हैं। अदृष्ट से संचालन अथवा कर्मफल के

मोक्ष और उसके साधन

यद्यपि न्यायदर्शन में न्याय तथा तर्क का प्राधान्य है, फिर भी अन्य दर्शनों की भाँति न्याय-दर्शन में भी निःश्रेयस को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। न्याय सूत्र के प्रथम सूत्र में ही सोलह पदार्थों की गणना के बाद उन के तत्व ज्ञान को निःश्रेयस का साधन बताया है। इस निःश्रेयस-प्राप्ति को ही मोक्ष कहा जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार मोक्ष वह अवस्था है जिस में समस्त दुःखों से आत्यंतिकी मुक्ति मिल जाती है। शरीर तथा इंद्रियों के संयोग से आत्मा में चैतन्य उत्पन्न होता है और इन्हीं के संयोग से चैतन्य-पूर्वक सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। मोक्ष की अवस्था में शरीर तथा इंद्रियों से आत्मा का संयोग नितांत विच्छिन्न हो जाता है और साथ ही चेतना भी नष्ट हो जाती है क्योंकि वह भी उस संयोग से ही उत्पन्न होती है (न्यायदर्शन के अनुसार चेतना आत्मा का नित्य गुण नहीं है)। समस्त सुख-दुःखों का अंत हो जाता है। शरीर और इंद्रियों से आत्मा का संयोग रहने पर सुख-दुःख

अनिवार्य हैं। चेतना का अर्थ सर्वदा सुख-दुःख का ही अनुभव है। अतः शरीरेंद्रिय संयोग तथा चेतना से मुक्त होकर ही आत्मा को सुख-दुःख से मुक्ति मिलती है। अस्तु मोक्ष में आत्मा एक सुख-दुःख तथा चेतना से रहित एक शुद्ध द्रव्य मात्र रूप में शेष रह जाती है।

इस निःश्रेयस रूप मोक्ष की प्राप्ति तत्व-ज्ञान द्वारा होती है। यह तत्वज्ञान प्रमाण-प्रमेयादि षोडश पदार्थों का यथार्थ ज्ञान है। समस्त अनर्थों की जड़ अज्ञान है। इस अज्ञान के कारण ही रागद्वेषादि दोष उत्पन्न होते हैं। रागद्वेषादि से मनुष्य शुभाऽशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है। उन कर्मों के शुभाऽशुभ फलभोग के लिये पुनःपुनः जन्म ग्रहण करता है। यह अनवरत जन्म परंपरा अनंत दुःखमयी है। जीवन में जो अल्प सुख दिखाई देता है वह भी परिणाम में दुःख ही है। अतएव न्यायसूत्र में इस विपरीत क्रम में मोक्षमार्ग का निर्देश किया गया है।[1] तत्वज्ञान मोक्ष का कारण है, किंतु साक्षात् कारण नहीं, परंपरया कारण है। तत्वज्ञान से अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान दूर होता है। अज्ञान नष्ट होने पर रागद्वेषादि रोग नष्ट हो जाते हैं। रागद्वेषादि दोष नष्ट होने पर प्रवृत्ति का नाश हो जाता है। प्रवृत्तिनाश होने पर जन्म का नाश होता है। जन्म-नाश होने से दुःख नाश होता है। ये उक्त परंपरा से तत्वज्ञान अपवर्ग अथवा मोक्ष का कारण होता है।

इस के अतिरिक्त योग तथा भक्ति को भी न्यायदर्शन में मोक्ष के साधन रूप से स्वीकार किया गया है। न्याय-सूत्र में यम-नियमादि का अवलंब लेने का आदेश स्पष्ट शब्दों में किया गया है।[2]

१—दुःख-जन्म प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः न्या० सू० १-१-२

२—तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः।

उदयनाचार्य ने परमात्मा की उपासना को मोक्ष का परम साधन माना है।[1]

वैशेषिक-दर्शन

वैशेषिक मूल रूप में एक स्वतंत्र दर्शन है। कणाद-रचित उस का स्वतंत्र सूत्र मिलता है। फिर भी न्याय और वैशेषिक दर्शनों में बहुत समानता है। इसी समानता के कारण उत्तर काल में दोनों दर्शन मिल कर एक हो गये। न्याय ने वैशेषिक के पदार्थ-विभाग को अपना लिया और वैशेषिक ने न्याय के प्रमा-शास्त्र को। न्याय-दर्शन में जहाँ न्याय और तर्क की प्रधानता है वहाँ वैशेषिक में तत्वमीमांसा का अधिक महत्व है। दोनों ही दर्शनों का आरंभ पदार्थों की गणना तथा पदार्थों के यथार्थ, ज्ञानपूर्वक तत्वज्ञान द्वारा पुण्य निःश्रेयस के प्रतिपादन से होता है। किंतु जहाँ न्याय में सोलह पदार्थ माने गये हैं, वैशेषिक में सात ही पदार्थ माने गये हैं। इस के अतिरिक्त प्राचीन वैशेषिक में न्याय की भाँति चार प्रमाण नहीं स्वीकार किये गये हैं। प्राचीन वैशेषिक के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं। उपमान और शब्द का इन्हीं के अंतर्गत अंतर्भाव हो जाता है। इन मुख्य भेदों के अतिरिक्त शेष सिद्धांतों के विषय में प्रायः दोनों दर्शन एक मत हैं।

सप्तपदार्थ वैशेषिक सूत्र में छः पदार्थों की ही गणना की गई है। किंतु टीकाकारों ने सात पदार्थ माने हैं। अभाव का सूत्र में निर्वचन न होने पर भी वे उसे अभिप्रेत मानते हैं

---

[1]—स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते। कुसुमाञ्जलिः

वे सात पदार्थ ये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। जिस किसी वस्तु का कोई नाम हो उसे पदार्थ कहते हैं। पदार्थ न्याय-वैशेषिक की सब से बड़ी श्रेणी है। वैशेषिक के पदार्थ अरस्तू की कैटेगरीज़ से भिन्न हैं। अरस्तू की कैटेगरीज़ 'सामान्य विशेषण' थी। कणाद के पदार्थ तत्वदर्शन की चीज़ है, उनका विभाग अरस्तू की तरह 'लॉजिकल' नहीं बल्कि ओंटोलॉजिकल है।

द्रव्य

सात पदार्थों में द्रव्य प्रथम और प्रधान है। कार्य के समवायी कारण और गुण तथा कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं।[1] द्रव्य नौ हैं—पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन। वात्स्यायन ने मन की गणना इंद्रियों में की थी, वैशेषिक में वह पृथक् द्रव्य माना गया है। अब हम उक्त नौ द्रव्यों का क्रमशः वर्णन करते हैं।

पृथ्वी—किसी पदार्थ के लक्षण में उस का एक ऐसा गुण बतलाना चाहिए, जो उस के अतिरिक्त किसी पदार्थ में न पाया जाय। अरस्तू के मतानुसार लक्षण में 'जीनस'(पदार्थ किस श्रेणी या सामान्य के अंतर्गत है) और डिफ़रेंशिया (व्यावर्तक गुण) बतलाना चाहिए। पृथ्वी द्रव्य है यह उस के 'जीनस' का कथन हुआ। वह गंधवाली है यह उस का व्यावर्तक गुण हुआ। बहुधा भारतीय विचारक उपर्युक्त लक्षण के पहले भाग को छोड़कर देते हैं। गंधवान् (पदार्थ) को पृथ्वी कहते हैं, यही लक्षण पर्याप्त समझा जाता है। वह पृथ्वी दो प्रकार की है, नित्य और अनित्य। परमाणु रूप से पृथ्वी नित्य है। कार्यरूप से पृथ्वी अनित्य है। पृथ्वी एक और विभाग के अनुसार तीन प्रकार की भी है, शरीर इंद्रिय और विषय के भेद से। हमारा शरीर पार्थिव है। गंध का ग्रहण करने-

---

[1] क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् वै० सू० १-१-१५

वाली घ्राणेंद्रिय भी पार्थिव है जो नासिका के अग्र भाग में रहती है। विषय मिट्टी पत्थर आदि हैं, जिन का प्रत्यक्ष होता है।

गंध तो पृथ्वी का व्यावर्तक गुण है, वह गुण जो उसे अन्य भूतों से अलग करता है। इस के अतिरिक्त पृथ्वी में रूप, रस, और स्पर्श भी पाए जाते हैं।

जल—शीतस्पर्शवान् जल है। पृथ्वी की तरह जल भी नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। शरीर, इंद्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार का भी है। शरीर वरुण लोक में है, इंद्रिय रस का ग्रहण करनेवाली रसना है जो जिह्वा के अग्र भाग में रहती है। विषय है नदी, समुद्र आदि। शीत स्पर्श के अतिरिक्त जल में रूप और रस भी हैं।

तेज या अग्नि—उष्ण-स्पर्श लक्षण है। परमाणु रूप से नित्य और कार्यरूप से अनित्य होती है। शरीर आदित्य लोक में है। इंद्रिय रूप-ग्राहक-चक्षु है जो काले तारे के अग्र भाग में रहती है। विषय चार प्रकार का है; एक पार्थिव जैसे अग्नि; दूसरा दिव्य (आकाश से संबद्ध) जैसे बिजली; तीसरा उदर्य, वह अग्नि जो पेट में भोजन पचाती है; चौथा खनिज, जैसे सुवर्ण।

नैयायिक सुवर्ण को तेजस पदार्थ मानते हैं। वास्तव में सुवर्ण पार्थिव है अग्नि के संयोग से कुछ पार्थिव भाग सुवर्ण बन जाते हैं। सुवर्ण को तेजस सिद्ध करने के लिये दी गई युक्तियां महत्त्व-पूर्ण नहीं हैं। अग्नि में रूप गुण भी है।

वायु—रूपरहित स्पर्शवान् को वायु कहते हैं। वह नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। शरीर वायुलोक में है। इंद्रिय स्पर्श का ग्रहण करनेवाली त्वचा (खाल) है जो सारे शरीर को ढके है। विषय वृक्षादि

को कँपानेवाली हवा और शरीर के अंदर संचार करनेवाले प्राण हैं। शरीर में एक ही वायु संचार करता है लेकिन उपाधि-भेद से उस के अनेक नाम हो जाते हैं।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभि मण्डले
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्व शरीरगः ।

हृदय में 'प्राण', गुदा में 'अपान', नाभि में 'समान' और कण्ठ में 'उदान' संज्ञा हो जाती है। 'व्यान' सारे शरीर में व्याप्त है।

आकाश—आकाश में केवल शब्द गुण है; वह एक और नित्य है। आकाश व्यापक पदार्थ है।

पृथ्वी, ज़ल, तेज और वायु नित्यदशा में परमाणु रूप होते हैं।

परमाणुवाद

परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता। फिर परमाणुओं का अनुमान किस प्रकार किया जाता है हम देखते हैं कि वस्तुओं के टुकड़े हो जाते हैं। प्रत्येक दीखनेवाली चीज़ अवयवों की बनी हुई है। अवयवों और छोटे अवयव या टुकड़ेहो सकते हैं। इस से सिद्ध होता है कि हम किसी चीज़ के जितने चाहें उतने छोटे टुकड़े कर सकते हैं। लेकिन अनुभव यह है कि किसी वस्तु के खंड-खंड करने की सीमा है। इस का अर्थ यह है कि वस्तु को तोड़ते-तोड़ते एक ऐसे स्टेज पर पहुँचा जा सकता है जब उस वस्तु के और टुकड़े न हो सकें। खंड-खंड करना एक सीमा तक ही हो सकता है। यदि हम इस सीमा को न मानें तो क्या कोई हर्ज है ? सीमा न मानने से हर एक वस्तु अनंत अवयवों की बनी हुई माननी पड़ेगी। इस का अथ यह होगा कि तिल के दाने और पहाड़ दोनों के अनंत अवयव हैं और इसलिये दोनों बराबर हैं। इस नतीजे से बचने के लिये टुकड़े

करने की हद माननी चाहिए।[1] दृश्यमान या इंद्रिय-ग्राह्य पदार्थों का वह छोटे से छोटा भाग जिस के फिर अवयव या टुकड़े न हो सकें, परमाणु कहलाता है। एक श्लोक है:—

> जालसूर्यमरीचिस्थं यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः
> तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते।

'गवाक्ष' में आती हुई सूर्य की किरणों में जो सूक्ष्म रज के कण दिखाई देते हैं उन के छठवें अंश को परमाणु कहते हैं, सब परमाणुओं का एक ही परिमाण है। प्रत्येक भूत के परमाणु अलग-अलग प्रकार के हैं। पृथ्वी के परमाणुओं का गुण गंध है; जल के परमाणुओं का शीत स्पर्श; तेज के परमाणुओं का उष्ण स्पर्श इत्यादि। दो परमाणुओं के संघात को 'द्व्यणुक' कहते हैं। तीन द्व्यणुकों का एक 'त्र्यणुक' होता है। त्र्यणुक में छः परमाणु होते हैं। परमाणु का अणु परिमाण है। द्व्यणुक का भी यही परिमाण है। त्र्यणुक का मध्य महत् परिमाण है। त्र्यणुक दिखलाई देता है। त्र्यणुक के परिमाण का कारण परमाणु या द्व्यणुक का अणु परिमाण नहीं होता। परमाणुओं की संख्या बड़े परिमाणों (महत्परिमाण) का कारण होती है। परमाणुओं में बाहर भीतर का भेद नहीं है। उन में स्वाभाविक गति नहीं है। गति का कारण अदृश्य बतलाया जाता है। दृश्यमान पदार्थों के गुण उन के उपादान-कारण परमाणुओं के गुणों के अनुसार हैं। प्रलय-काल में पदार्थ परमाणुरूप हो जाते हैं।

पीलुपाक और पिठपराक[2]

पकाने से कच्चे घड़े का रंग बदल जाता है और घड़ा पक्का हो जाता है। प्रश्न यह है कि परिवर्तन परमाणुओं में होता है या अवयवी घड़े में। वैशेषिक का मत

---

[1] दे० कारिकावली पर मुक्तावली, प्रत्यक्षखण्ड, ३७.

[2] राधाकृष्णन, भाग २, पृ० १९६.

'पाकवाद' कहलाता है। पकाने पर पहला घड़ा परमाणुओं में विशीर्ण होकर नष्ट हो जाता है। गर्मी लगने से विशीर्ण परमाणुओं का रंग लाल पड़ जाता है। यह परमाणु फिर घट रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं। एक घड़ा नष्ट होकर दूसरा घड़ा उत्पन्न होता है।

न्याय का सिद्धांत इस से भिन्न है; उसे 'पिठरपाकवाद' कहते हैं। रंग का परिवर्तन अवयवों या परमाणुओं और अवयवी या घड़े दोनों में साथ साथ होता है। यह मत ठीक मालूम होता है। यदि सचमुच एक घड़ा नष्ट होकर दूसरा घड़ा उत्पन्न होता है तो दूसरे घड़े को 'वही' घड़ा नहीं कह सकते। अनुभव में तो वही घड़ा दिखाई देता है; वही आकार रहता है सिर्फ़ रंग में भेद हो जाता है।

निरवयव होने पर भी परमाणुओं को परिमाण्डल्य या गोले के आकार का कहा जाता है।

यूनान का प्रभाव ? कुछ पश्चिमी विद्वानों का विचार है कि भारतीय परमाणुवाद, सिकंदर के हमले के समय, भारत का यूनान में संपर्क होने का फल है। यह मत समीचीन नहीं मालूम होता। यूनान में परमाणुवाद का जन्मदाता 'डिमोक्रिटस' था। उस के और कणाद के परमाणुवाद में बहुत भेद है। जैन-परमाणु-वाद भी यूनानी से भिन्न है। पहली बात यह है कि डिमोक्रिटस चैतन्य-तत्त्व को नहीं मानता था; वह जड़वादी था। जैन और कणाद दोनों आत्मा की अलग सत्ता मानते हैं। भारतीयों के परमाणु आत्माओं से भिन्न हैं जब कि डिमोक्रिटस का आत्मा सूक्ष्म परमाणुओं का ही विकार है। दूसरे भारतीय परमाणुओं में रूप, रस आदि 'सेकण्डरी क्वॉलिटीज़' मानी जाती हैं, जिन का अभाव यूनानी और योरुपीय परमाणुवाद की विशेषता है। तीसरे, भारतीय परमाणुओं में गति स्वाभविक नहीं है, बल्कि अदृष्ट या

ईश्वर या (जैनों के) धर्मास्तिकाय से आती है। डिमोक्रिटस के परमाणुओं में स्वयं-सिद्ध गति है। कणाद के परमाणु नाना प्रकार के हैं; डिमोक्रिटस के सब परमाणु एक से गुणवाले हैं जिन में सिर्फ़ आकार और परिमाण का भेद है।

आधुनिक विज्ञान ने परमाणुओं के भी खण्ड कर डाले हैं। सब तत्त्वों के परमाणु अंततः विद्युत्-तरंगों के विकार हैं। वे या तो भावात्मक (पॉज़ीटिव) या अभावात्मक (निगेटिव) विद्यदणुओं के संघात-मात्र हैं।

कुछ मीमांसकों का मत है कि तम या अंधकार को अलग द्रव्य मानना चाहिए। नीला अंधकार चलता हुआ मालूम होता है। दीपक को हटाने से अंधकार हटता हुआ प्रतीत होता है। यदि अंधकार में क्रिया (चलना) और गुण (नीलरूप) हैं तो उसे नया द्रव्य क्यों न मानें? न्याय का उत्तर है कि प्रकाश का अभाव ही अंधकार है। अभाव को पदार्थ मान ही लिया है। न्याय का मत वैज्ञानिक भी है। अंधकार का चलना भ्रम से प्रतीत होता है। नीलरूप भी भ्रम है। अब अन्य द्रव्यों का वर्णन करते हैं।

काल—अतीत, वर्तमान, भविष्य आदि के व्यवहार का कारण काल है। 'ऐसा हुआ', 'ऐसा होगा' आदि व्यवहार बिना काल के नहीं हो सकते। काल एक और व्यापक तथा नित्य है।

दिक्—पूर्व, पश्चिम आदि के व्यवहार का कारण दिशा है। यह भी एक, नित्य और विभु है। प्राची, प्रतीची आदि भेद औपाधिक अर्थात् सूर्योदय आदि की अपेक्षा से हैं। इसी प्रकार काल के तीन भेद भी औपाधिक हैं।

आत्मा—जिस में ज्ञान रहता है वह आत्मा है। जानना बिना जानने वाले के नहीं हो सकता। आत्मा दो प्रकार का है, एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। जीवात्मा हर शरीर में अलग-अलग है। प्रत्येक जीव व्यापक और नित्य है। सर्वत्र ईश्वर एक ही है।

आत्मा शरीर से भिन्न है; वह इंद्रियों का अधिष्ठाता है। इंद्रियां प्रत्यक्ष ज्ञान को करण हैं और करण बिना कर्त्ता के नहीं रह सकता। इसलिये इंद्रियों से भिन्न आत्मा को मानना चाहिए।[1] आत्मा इंद्रियों और शरीर का चैतन्य-संपादक है। शरीर भी आत्मा नहीं है। मरे हुये व्यक्ति का भी शरीर वर्त्तमान होता है। फिर उसे मरा हुआ क्यों कहते हैं? क्योंकि उस में आत्मा नहीं रहती। यदि शरीर ही आत्मा होता तो मृत शरीर भी जान सकता; उस में भी चैतन्य होता।[2] शरीर के अवयव घटते बढ़ते रहते हैं; शरीर बदलता रहता है। यदि परिवर्त्तन-शील शरीर आत्मा होता तो बचपन की बातें बड़ी उम्र में याद न रहतीं।

यदि कहो कि पहले शरीर से उत्पन्न संस्कार दूसरे शरीर में संस्कार उत्पन्न कर देते हैं तो ठीक नहीं। अनंत संस्कारों की कल्पना में 'गौरव' है। जहाँ एक वस्तु मानने से काम चलता हो वहां अनेक वस्तुएं मानने में गौरव दोष होता है।

जन्मते ही बालक की स्तन-पान में प्रवृत्ति होती है, यह पिछले जन्म के संस्कारों के कारण है 'इससे मेरा भला होगा' (इष्ट-साधनता-ज्ञान) यह ज्ञान ही, न्याय के मानस-शास्त्र में, प्रवृत्ति का कारण है। मा के स्तन-पान से भलाई होगी, यह ज्ञान संपादन करने का अवसर

---

[1] करणं हि सकर्तृकम्-कारिकावली प्रत्यक्ष-खंड, ४७ [2] वही, ४८

बालक को इस जन्म में नहीं मिला है, इसलिए पिछला जन्म मानना चाहिए। यदि पूर्व जन्म है तो उस का स्मरण क्यों नहीं होता? उत्तर यह है कि स्मरण के लिये उद्बोधक (स्मृति को जगाने के हेतु) की आवश्यकता होती है। इस जन्म में भी हम हर समय हर चीज़ को याद नहीं करते। उद्बोधक होने पर ही पहले अनुभव की हुई चीज़ें याद आती हैं। इसलिए स्मृति का अभाव पुनर्जन्म के विरुद्ध नहीं है।

इंद्रियों को ही आत्मा मानने में क्या हर्ज है? वे ज्ञान की करण और कर्त्ता दोनों क्यों नहीं हो सकतीं? उत्तर यह है कि एक इंद्रिय का नाश हो जाने पर उस इंद्रिय से प्रत्यक्ष किये पदार्थों की स्मृति बनी रहती है, जो कि आक्षेप करनेवाले के मत में नहीं होनी चाहिए। यदि कोई कुछ अवस्था के बाद अंधा हो जाय तो उस की देखे हुये पदार्थों की स्मृति नष्ट नहीं हो जाती। यह स्मृति-ज्ञान आत्मा में रहता है।

'मैं अपने देखे हुये पदार्थ को सूंघता हूँ' यहां देखना और सूँघना किसी एक ही पदार्थ का ज्ञान है। देखे हुये का स्मरण घ्राणेंद्रिय (नासिका) नहीं कर सकती। इसलिये दोनों ज्ञानों का आश्रय आत्मा को मानना चाहिए जो आँख और नाक दोनों से भिन्न है।

चक्षु आदि इंद्रिय चेतन न सही, मन को चैतन्य-युक्त मानने में क्या हर्ज है? न्याय का मत है कि मन अणु है, उस का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यदि सुख, दुःख अणु मन के धर्म होते तो उन का प्रत्यक्ष न होता। प्रत्यक्ष महत्परिमाण के बिना नहीं हो सकता। मन अणु है, यह आगे बताया जायगा। इस प्रकार शरीर, इंद्रियों और मन से भिन्न आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।

जैसे रथ की गति से सारथि का अनुमान होता है इसी प्रकार ज्ञान, प्रयत्न आदि चेष्टाओं से, दूसरों के शरीर में आत्मा है, ऐसा अनुमान

होता है। अहंकार (मैं हूँ) का आश्रय भी आत्मा है, शरीरादि नहीं। आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय है। दूसरी इंद्रियां उसे नहीं देख सकतीं।[1] आत्मा विभु है। बुद्धि अर्थात् ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म संस्कार आदि उस के गुण हैं। बुद्धि दो प्रकार की है, अनुभूति और स्मृति। अनुभूति चार प्रकार की है, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। संस्कार-जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं।

जीवात्मा को सिद्ध करने के बाद परमात्मा की सत्ता सिद्ध करनी चाहिये। न्याय-दर्शन के अनुसार ईश्वर के स्वरूप का विवेचन तथा उस की सिद्धि के प्रमाण हम पीछे दे चुके हैं। वैशेषिक में भी न्याय के अनुसार ईश्वर को जगत का निमित्त कारण तथा अदृष्ट-व्यवस्था पूर्वक विश्व का नियंता माना गया है। उस प्रसंग में एक बात स्मरणीय है कि वैशेषिक के अनुसार परमाणुओं से सृष्टि होती है। किंतु परमाणु जड़ और अचल हैं। ईश्वर प्रथम दो परमाणुओं को मिलाता है, बाद में जाति परंपरा से सृष्टि विकास होता जाता है।

मन—मन नौ द्रव्यों में अंतिम द्रव्य है। सुख, दुःख आदि की उपलब्धि का साधन मन है। मन एक इंद्रिय है। प्रत्येक आत्मा एक अलग मन से संबद्ध है। मन परमाणुरूप और अनंत है।

द्रव्यों का वर्णन हो चुका अब अन्य पदार्थों का वर्णन करते हैं। वैशेषिक सूत्र में १४ गुण गिनाए गए थे, नवीन विचारकों ने उन में सात और जोड़ दिए हैं। सूत्र में 'च' के प्रयोग से इन सात गुणों की ओर संकेत के,

गुण पदार्थ

---

[1] वही, ५०

ऐसा टीकाकारों का मत है (देखिये वैशेषिक सूत्रोपस्कार)। विश्वनाथ कहते हैं,

अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः

अर्थात् गुण द्रव्यों के आश्रित रहते हैं; उन में और गुण नहीं होते, न क्रिया होती है। चौबीस गुण यह हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

नेत्रेंद्रिय से ग्राह्य गुण को 'रूप' कहते हैं जो सात प्रकार का है अर्थात् सफ़ेद, नीला, पीला, हरा, लाल, कपिश और चित्र। पृथ्वी, जल और वायु रूपवान् पदार्थ हैं। जल में अभास्वर शुक्ल, अग्नि में भास्वर (चमकनेवाला) शुक्ल गुण है। पृथ्वी में सातों रंग हैं। रस छः प्रकार का है—मधुर, खट्टा, नमकीन, कटु या कड़वा, कषाय और तिक्त। गंध दो प्रकार की है, सुगंध और दुर्गंध। स्पर्श, शीतल, उष्ण और अनुष्णाशीत (न गर्म न ठंडा) तीन प्रकार का है। रस पृथ्वी और जल में रहता है, गंध पृथ्वी में, स्पर्श पृथ्वी, जल और तेज में। नित्य पदार्थों के रूपादि अपाकज और नित्य होते हैं। पाकज का अर्थ है अग्नि—संयोग-जन्य।

एक दो, आदि के व्यवहार का हेतु संख्या है। नवों द्रव्यों में रहती है। मान-व्यवहार (कम और ज्यादा) के व्यवहार का कारण परिमाण है। वह चार प्रकार का होता है—अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व। परमाणुओं और द्व्यणुकों का अणु परिमाण है। मन भी अणु है। घट का महत् परिमाण है; आकाश का परम महत् या दीर्घ। द्व्यणुक का ह्रस्व परिमाण भी कहा जाता है।

पृथक व्यवहार का कारण पृथक्त्व गुण है। सब द्रव्यों में रहता है।

संयुक्त व्यवहार का हेतु 'संयोग' गुण है। संयोग का नाश करनेवाला गुण 'विभाग' है। 'परत्व' और 'अपरत्व' देश और काल दोनों की अपेक्षा से होता है। दूर को 'पर' और समीप को 'अपर' कहते हैं। प्रथम पतन का असमवायिकारण गुरुत्व गुण है जो सिर्फ़ पृथ्वी और जल में रहता है।

बहने का असमवायिकारण 'द्रवत्व' है। पिंडीभाव (पिंड बनाने) का हेतु स्नेह गुण है, जलमात्र में रहता है। कान से ग्रहण करने योग्य गुण शब्द है। नैयायिक शब्द को जैनियों की तरह द्रव्य नहीं मानते। शब्द नित्य भी नहीं है। शब्द दो प्रकार का है, ध्वन्यात्मक औ वर्णात्मक। भेरी आदि का शब्द ध्वन्यात्मक होता है। संस्कृतभाषा वर्णात्मक—शब्दमय है। सब प्रकार के व्यवहार का हेतु ज्ञान ही बुद्धि कहलाता है। वह स्मृति और अनुभव भेद से दो प्रकार की है, इस का वर्णन हो चुका है।

जो सबको अनुकूल मालूम हो वह 'सुख' है। प्रतिकूल महसूस होनेवाला 'दुख' है। इच्छा कामना को कहते हैं; क्रोध को द्वेष, प्रयत्न कृति को। विहित कर्मों से धर्म उत्पन्न होता है; निषिद्ध कर्मों से अधर्म।

संस्कार तीन प्रकार का है। वेग संस्कार पहले चार भूतों और मन में रहता है; भावना संस्कार आत्मा में। भावना अनुभाव से उत्पन्न होती है और स्मरण का हेतु है। किसी चीज़ का रूप परिवर्तन, अन्यथा-भाव हो जाने पर उसे पहली दशा में पहुंचाने वाला 'स्थित-स्थापक-संस्कार' है; यह पार्थिव पदार्थों में रहता है। गुणों का वर्णन समाप्त हुआ।

कर्म पदार्थ

गतिमात्र को कर्म कहते हैं जो उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन प्रसारण और गमन भेद से पाँच प्रकार का है। उत्क्षेपण ऊर्ध्वदेश के संयोग का हेतु है; अपक्षेपण

अधोदेश के। शरीर से संनिकृष्ट पदार्थ के संयोग का हेतु आकुञ्चन, दूर पदार्थ के संयोग का हेतु प्रसारण कर्म है। इन के अतिरिक्त सबको 'गमन' कहते हैं।

सामान्य

अनेकों में उपस्थित नित्य एक पदार्थ को सामान्य कहते हैं। सामान्य का अर्थ है जाति जैसे गोत्व जाति, अश्वत्व और मनुष्यत्व जाति। सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है। सामान्य दो प्रकार का होता है पर और अपर। सत्ता को 'पर सामान्य' कहते हैं; द्रव्यत्व, गुणत्व आदि 'अपर सामान्य 'हैं'। पर और अपर आपेक्षिक शब्द हैं। पदार्थत्व जाति द्रव्यत्व की अपेक्षा पर है। इस का अर्थ यह हुआ कि पदार्थ के अंतर्गत वे सब वस्तुयें तो हैं ही जो द्रव्य के अंतर्गत हैं, उन के अतिरिक्त भी वस्तुयें हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार वस्तुओं के साधारण गुण; बहुत वस्तुओं में पाये जाने वाले गुण विशेष, का नाम सामान्य नहीं है। सामान्य गुण नहीं एक अलग पदार्थ है। प्रत्येक सामान्य गुण को जाति नहीं कहते। अंधे बहुत होते हैं पर अंधत्व जाति नहीं है। न्याय-वैशेषिक के मत में जाति या सामान्य की स्वतंत्र सत्ता है, व्यक्तियों से भिन्न। ये जातियाँ नित्य हैं।

बौद्ध लोग सामान्य पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। व्यक्तियों से अतिरिक्त सामान्य का कहीं अस्तित्व नहीं है। सामान्य या जाति नाम मात्र है, वह किसी स्वतंत्र वास्तविकता का द्योतन नहीं करता। विश्व में केवल स्वलक्षण है, सामान्य-लक्षण कहीं नहीं हैं। फिर प्रतीत होने वाली जातियाँ क्या हैं? बौद्धों का उत्तर है—तथा-कथित जातियाँ स्वेतर भेद रूप (अपने से अतिरिक्त पदार्थों के भेद स्वरूप) हैं। गोत्व का अर्थ है "गवेतर भेद" अश्वत्व का भेद है "अश्वेतर भेद"; (गो या अश्व का इतर पदार्थों से भेद)। नित्य

गोत्व, अश्वत्व आदि कल्पना मात्र हैं। बौद्धों की जाति विरोधिनी कुछ युक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) यदि जाति व्यक्ति से पृथक् या भिन्न है तो उसे व्यक्ति से अलग भी दिखाई देना चाहिये; यदि व्यक्ति से अभिन्न है तो फिर व्यक्ति मात्र को ही मानना चाहिये। जाति व्यक्ति से भिन्न और अभिन्न दोनों नहीं हो सकती, विरोध के कारण[1]।

(२) यदि जाति व्यक्ति से भिन्न है तो वह व्यक्तियों में ही अवस्थित रहती है या सर्वगत होती है? सर्वगत अथवा व्यापक नहीं हो सकती क्योंकि दो व्यक्तियों के अंतराल (बीच) में जाति नहीं दिखाई देती। यदि कहो कि व्यक्ति में स्थित होती है, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यक्ति के उत्पन्न होने से पहले उस स्थान में अविद्यमान जाति उस व्यक्ति में कहाँ से आ जाती है? यदि कहो कि उस नये व्यक्ति में जाति उत्पन्न हो जाती है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि नित्य होने के कारण जाति उत्पत्ति-हीन है। यदि कहो कि दूसरे व्यक्ति से चलकर इस नवोत्पन्न व्यक्ति में आजाती है तो भी अयुक्त है, क्योंकि जाति कोई मूर्त्त पदार्थ नहीं जो चल कर आये। और यदि मान लें कि जाति चल कर आती है तो पहले व्यक्ति में उस का अभाव हो जायगा। यह भी नहीं कह सकते कि जाति का एक अंश एक व्यक्ति में से चल कर दूसरे में आजाता है क्योंकि जाति अंशहीन या निरवयव है। इसी प्रकार व्यक्ति का नाश होने पर यदि जाति वहीं रह जाती है तो उपलब्ध क्यों नहीं होती? यदि कहो नष्ट हो जाती है तो ठीक नहीं क्योंकि जाति नित्य है।

---

[1]—पृथक्त्वे व्यक्तितो जातिः दृश्यते पृथगेव सा।
अभेदे व्यक्तिमात्रं स्याद् द्वेधा चेन्न विरोधतः॥

दूसरी जगह भी नहीं जा सकती अमूर्त होने से। फलतः हर प्रकार कठिनाई है।[1]

(३) यदि मान लिया जाय कि जाति व्यक्ति में वर्तमान होती है। तो प्रश्न उठता है क्या संपूर्ण जाति एक व्यक्ति में रहती है या उस का कोई एक अंश? स्पष्ट ही एक जाति एक साथ अनेक व्यक्तियों में संपूर्ण रूप से वर्तमान नहीं हो सकती। जाति के निरवयव होने से दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं।

इसी प्रकार अनेक तर्क बौद्धों ने जाति के विरुद्ध दिये हैं। नैयायिकों तथा मीमांसकों ने इन आपत्तियों का समाधान करने की चेष्टा की है। व्योमशिवाचार्य की व्योमवती टीका में तथा पार्थ सारथिमिश्र की शास्त्रदीपिका में बौद्ध मत का विस्तृत खण्डन किया गया है। जाति की वास्तविकता के पक्ष में सबसे बड़ी युक्ति यह है कि उस का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और वह ज्ञान कभी बाधित नहीं होता। अनेक गौओं को देखकर उन में अनुगत गोत्व सामान्य का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। फिर कोई दूसरा प्रमाण उस का कैसे खण्डन कर सकता है। प्रत्यक्ष से ही यह ज्ञात होता है कि सामान्य व्यक्ति से अभिन्न है और यह भी कि वह अनेकों में रहता है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो एक है वह अनेकों से समवेत न हो; एक होता हुआ भी आकाश एक ही वस्तु से समवेत नहीं है। पार्थ सारथिमिश्र का कथन है कि प्रमाण-बल से सामान्य को व्यक्ति से भिन्न और अभिन्न दोनों ही कहा जा सकता है; प्रतीति से अधिक बलवान् कोई तर्क नहीं है।[2]

१—नायाति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वन्नाधारमहो व्यसनसन्तति ॥

२ देखिये प्रशस्तपाद भाष्य-समान्य पदार्थ पर व्योमवती और शास्त्र-दीपिका-१-१-५

विशेष

विशेष नित्य द्रव्यों (परमाणुओं, [1]आकाश, काल आदि) में रहते हैं और अनंत हैं। 'विशेष' की उपस्थिति के कारण ही एक परमाणु दूसरे परमाणुओं से और एक पदार्थ दूसरे पदार्थों से अलग रहता है। घटादि अनित्य पदार्थों में विशेष नहीं माने जाते। आलोचकों का विचार है कि 'विशेष' वैशेषिक की—वैशेषिक नाम 'विशेष' से ही पड़ा है—सबसे व्यर्थ धारणा है। यदि परमाणुओं को एक दूसरे से भिन्न करने के लिये असंख्य विशेषों की आवश्यकता है तो विशेषों को भिन्न करने के लिये और किसी की आवश्यकता क्यों नहीं? यदि विशेष अपने आप भिन्न रह सकते हैं तो परमाणुओं में भी स्वतः भेद रह सकता है। विशेष पदार्थ मानने से अनवस्था दोष आता है।

समवाय

नित्य संबंध को समवाय कहते हैं। अयुतसिद्ध पदार्थों में समवाय संबंध रहता है। जिन दो पदार्थों में एक दूसरे के आश्रय से ही रह सकता है उन्हें 'अयुत-सिद्ध' कहते हैं। अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, विशेष-नित्यद्रव्य, यह 'अयुत-सिद्ध' पदार्थ हैं। इन में समवाय संबंध रहता है।

अभाव

वैशेषिक का अंतिम पदार्थ 'अभाव' है। यह चार प्रकार का है, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, और अत्यंताभाव।

प्रागभाव अनादि और सान्त होता है। उत्पत्ति से पहले घट का अनादि प्रागभाव होता है जो घट की उत्पत्ति से नष्ट हो जाता है।

---

[1] देखिए शास्त्रदीपिका (निर्णय सागर प्रेस) पृ० १०१

प्रध्वंसाभाव सादि (आदि वाला) और अनंत होता है। उत्पत्ति के बाद नाश होने वाले घट का अभाव इसी प्रकार का होगा।

तीनों कालों के अभाव को अत्यंताभाव कहते हैं। खपुष्प (आकाश-कुसुम) और शशश्रृङ्ग का अत्यंताभाव है।

एक वस्तु का दूसरी वस्तु में जो अभाव होता है उसे 'अन्योन्याभाव या पारस्परिक अभाव कहते हैं। घट का पट में अभाव है और पट का घट में।

अभाव पदार्थ को मानना आवश्यक है। यदि वस्तुओं का अभाव न हो तो सब पदार्थ नित्य हो जायं; किसी का नाश न हो सके। यदि प्रागभाव को न माना जाय तो सब वस्तुओं को अनादि मानना पड़ेगा। प्रध्वंसाभाव को न मानें तो वस्तुओं का कभी नाश न होगा। यदि अन्योन्याभाव की सत्ता से इनकार किया जाय, तो वस्तुओं में भेद नहीं रहेगा; यदि अत्यन्ताभाव की कल्पना न की जाय तो सर्वत्र सब चीजों की सत्ता संभव हो जायगी।[1]

सात पदार्थों का वर्णन समाप्त हुआ। संसार की कोई चीज इन सात पदार्थों के बाहर नहीं रह जाती; इसलिये सात ही पदार्थ हैं, ऐसा सिद्ध होता है।

न्याय वैशेषिक का महत्त्व; उसकी आलोचना

न्याय-वैशेषिक के दार्शनिक सिद्धांत मनुष्यों की सामान्य बुद्धि के अनुकूल हैं। जड़ और चेतन का स्पष्ट भेद तात्त्विक मान लिया गया है। पदार्थों में ज़बर्दस्ती एकता लाने की कोशिश नहीं की गई है। पृथ्वी, जल आदि भूतों को सर्वथा भिन्न मान लिया गया है। पचास वर्ष पहले योरप के वैज्ञानिक तत्त्वों में आंतरिक भेद मानते थे परंतु अब सब तत्त्वों को विद्युदणुओं में विश्लेषणीय माना जाता है। विद्युदणु या विद्युतरंगें ही आधुनिक

१ राधाकृष्णन, भाग २ पृ० १२१

विज्ञान के अनुसार विश्व का अंतिम तत्व हैं। आत्मा को शरीर, इंद्रियों आदि से भिन्न सिद्ध करने के लिये न्याय ने प्रबल युक्तियां दी। इन युक्तियों का प्रयोग सभी आस्तिक विचारकों ने किया है। ईश्वर की सिद्धि के लिये तो न्याय की युक्तियाँ प्रसिद्ध ही हैं। भारत के किसी दूसरे दार्शनिक संप्रदाय ने ईश्वर को सिद्ध करने की इतनी कोशिश नहीं की। उदयनाचार्य की 'कुसुमांजलि' भारतीय दर्शन साहित्य में एक विशेष स्थान रखती है।

वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर का वर्णन नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि वैशेषिक पहले अनीश्वरवादी था। वास्तव में न्याय और वैशेषिक दोनों में जड़वादी प्रवृत्ति पाई जाती है। जीवात्मा और परमात्मा को पृथ्वी आदि जड़भूतों के साथ जकड़कर वर्णन कर दिया है। जैनों का जीव-अजीव जैसा विभाग न्याय-वैशेषिक में नहीं है। द्रव्य की अपेक्षा शब्द को गुण मानना ज़्यादा आधुनिक है। सामान्य की अलग सत्ता मानना स्थूल सिद्धांत है। वैशेषिककार ने सामान्यऔर विशेष को बुद्ध्य-पेक्ष या बुद्धिमूलक, बौद्धिक पदार्थ, बतलाया है जो ठीक मालूम होता है। द्रव्य गुण आदि की आलोचना के बारे में आगे वर्णन होगा।

न्याय-वैशेषिक सब आत्माओं को विभु मानते हैं। यदि सब आत्मा विभु हैं तो सब का सब शरीरों और मनों से संसर्ग होता होगा, जिसका परिणाम हर एक को सब मनुष्यों के हृदय या मस्तिष्क का ज्ञान होना चाहिए। पर-चित्त-ज्ञान साधारण बात होनी चाहिए। परंतु ऐसा नहीं है। क्यों? क्योंकि आत्मा का एक विशेष मन से संबद्ध होना 'अदृष्ट' के अधीन है। वस्तुतः अदृष्ट न्याय-वैशेषिक की कठिनाइयों का ही दूसरा नाम है। सृष्टि के आरंभ में परमाणुओं की गति भी अदृष्ट से होती है। बहुत सी व्यापक आत्माओं के बदल एक चैतन्य शक्ति को

मानना ज़्यादा संगत है। जीवों का भेद मन आदि की उपाधि से सिद्ध हो सकता है। यह वेदांत का सिद्धांत है।

परंतु न्याय-वैशेषिक की आत्मा चेतन नहीं है। चैतन्य आत्मा का गुण है जो आता रहता है। जब ज्ञान उत्पन्न होता है, तब जीव में चैतन्य भी उत्पन्न हो जाता है। मोक्ष दशा में जीव में इंद्रियों के न होने से ज्ञान नही रहता, इस लिए चैतन्य भी नहीं होता। मुक्त जीव जड़ होते हैं। यदि चैतन्य गुण उत्पादन-शील है तो आत्मा भी वैसी ही हो सकती है। इस प्रकार आत्मा अनित्य हो जायगी।

मोक्षदशा में जीव में सुख भी नहीं होता। दुःख के अत्यंत अभाव का नाम ही मोक्ष है। निरानंद जड़ावस्था जिसे नैयायिक मोक्ष कहते हैं, स्पृहणीय नहीं मालूम होती।

न्याय-वैशेषिक का मत श्रौत या वेद-मूलक नहीं है। उपनिषदों में ब्रह्म और मुक्त पुरुष के आनंदमय होने का स्पष्ट वर्णन है। 'ब्रह्म के आनंद को जानने वाला कभी भयभीत नहीं होता। उसी को पाकर आनंदी होता है' इत्यादि। नैयायिक श्रुति पर नहीं, तर्क पर निर्भर रहते है।[१] भारतीय तर्कशास्त्र को उन्होंने महत्त्वपूर्ण विचार और सिद्धांत दिये हैं। तर्कशास्त्र की उन्नति का आधा श्रेय नैयायिकों को और आधा जैन, बौद्ध आदि विचारकों को मिलना चाहिए।

---

१ नैयायिक व्याख्या के अनुसार श्रुति के 'आनन्द-युक्त' का अर्थ 'दुःखरहित' ही है। स्पष्ट शब्दों में श्रुति का तिरस्कार न्याय ने कभी नहीं किया।

तीसरा अध्याय

सांख्य-योग

प्रोफ़ेसर मैक्समूलर वेदांत के बाद सांख्य को भारतवर्ष का सब से महत्त्वपूर्ण दर्शन मानते हैं। अन्य दर्शनों की भाँति सांख्य के सिद्धांत भी अत्यंत प्राचीन हैं। हम देख चुके हैं कि कठ, श्वेताश्वेतर और मैत्रायणी उपनिषद् में सांख्य के विचार पाए जाते हैं। भगवद्गीता में भी प्रकृति और तीन गुणों का विस्तृत वर्णन है। महाभारत के अनुगीता में पुरुष और प्रकृति का भेद समझाया गया है। पुरुष ज्ञाता है तथा अन्य चौबीस तत्त्व ज्ञेय। प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञात हो जाने पर मुक्ति हो जाती है। परंतु अनुगीता पुरुषों की अनेकता को उपाधिमूलक मानती है। वास्तव में पुरुष एक है जिसे ईश्वर कहते हैं। अब तक सब ग्रंथों का सांख्यसेश्वर सांख्य था।

सांख्य का साहित्य

सांख्य-दर्शन को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय कपिल को दिया जाता है। श्वेताश्वेतर मे 'कपिल' शब्द आता है। भगवद्गीता में भगवान् ने कपिल को अपनी विभूतियों में गिनाया है—सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूं (सिद्धानां कपिलो मुनिः)। कपिल को विष्णु का अवतार भी बताया जाता है (देखिये भागवत पुराण)। श्री राधकृष्णन् कपिल को बुद्ध से एक शताब्दी पहले का ख्याल करते हैं (दे० भाग २ पृ० २५४)। कहा जाता है कि 'सांख्य प्रवचन सूत्र' और 'तत्त्वसमास' कपिल की कृतियां हैं, पर इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण नही दिया गया है।

सांख्य दर्शन पर सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ ईश्वरकृष्ण विरचित

'सांख्यकारिका है। इस ग्रंथ में सिर्फ़ ७२ छोटी छोटी कारिकाओं में सांख्य दर्शन का पूरा परिचय दे दिया गया है। यह कारिकाएं आर्या छंद में हैं। कारिकाएं तीसरी शताब्दी ईसवी की बतलाई जाती हैं। किन्हीं गौड़पाद ने इन कारिकाओं पर टीका लिखी है। यह गौड़पाद शायद मांडूक्योपनिषद् पर कारिकाएं लिखनेवाले गौड़पाद से भिन्न हैं। दोनों गौड़पादों सिद्धांतों में बहुत अंतर है। कारिकाकार गौड़पाद श्री शंकराचार्य के गुरु के गुरु और मायावाद के आदि-प्रवर्तक कहे जाते हैं। उनके विषय में हम आगे लिखेंगे। सांख्य-कारिकाओं पर वाचस्पति मिश्र ने भी टीका की है जो 'सांख्य तत्व कौमुदी' के नाम से प्रसिद्ध है अपनी व्याख्या के आरभ में श्री वाचस्पति ने महामुनि कपिल, उनके शिष्य आसुरि, पञ्चशिखाचार्य्य तथा ईश्वरकृष्ण को नमस्कार किया है। कारिकाओं पर नारायण ने 'सांख्य-चंद्रिका' की रचना की है।

प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने अपने 'सिक्स सिस्टम्स आफ़ इंडियन फिलॉसफी,' नामक ग्रंथ में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'तत्त्वसमास' पुस्तिका सांख्य कारिकाओं से प्राचीन है। अन्य दर्शनों के प्राचीन सूत्रों की भाँति सांख्य के सूत्र नहीं पाये जाते। उक्त प्रोफ़ेसर 'तत्त्वसमास' को सूत्रस्थानी समझते हैं।[१] परंतु उनकी इस सम्मति का आदर नहीं किया गया है। प्रोफ़ेसर कीथ ने उक्त मत का तीव्र खंडन किया है 'तत्त्वसमास' की भाषा कारिकाओं से नवीन मालूम होती है। 'सर्वदर्शन संग्रह' में माधवाचार्य 'तत्त्वसमास' का ज़िक्र नहीं करते। 'सर्वदर्शन संग्रह' में 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र, की ओर भी संकेत नहीं है। 'माधव' का समय चौदहवीं शताब्दी है (१३८० ई०), इसलिये कुछ विद्वान् सांख्यसूत्र को बहुत बाद की रचना मानते हैं।

---

१ देखिए पृ० २६४

सांख्य सूत्रों पर श्री विज्ञानभिक्षु (सोलहवीं शताब्दी) ने 'सांख्य-प्रवचन भाष्य' लिखा है। विज्ञानभिक्षु सूत्रों को कपिल की कृति मानते हैं। सूत्रों में बहुत सी बातें नई पाई जाती हैं। उनमें न्याय, वैशेषिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि सब का खंडन है। सूत्रों में श्रुति का महत्त्व कुछ बढ़ जाता है; सूत्रकार बार-बार यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि उसका मत श्रुति के अनुकूल है। अद्वैतपरक श्रुतियां सब जीवों की एकता बतलाती हैं। सूत्रकार का कथन है कि यह एकता आत्म-जाति की एकता है, इस लिये सांख्य का श्रुति से विरोध नहीं है (नाद्वैत-श्रुति विरोधो जातिपरत्वात्)। सूत्रों पर वेदांत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। प्राणों की महिमा बढ़ जाती है। विज्ञान भिक्षु ने शांकर मायावाद का तीव्र खंडन किया है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि सब दर्शन एक ही सत्य का उपदेश करते हैं। विज्ञानभिक्षु के मत में सांख्य निरीश्वरवादी नहीं है। सांख्यसूत्र कहता है कि ईश्वर की सिद्धि नहीं होती (ईश्वरासिद्धेः), प्रत्यक्ष और अनुमान ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकते। श्रुति भी प्रधान (प्रकृति) का महिमा-गान करती है या मुक्त पुरुष का। विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि यह आचार्य का 'प्रौढ़वाद' है। अन्यथा आचार्य 'ईश्वरासिद्धे' के स्थान पर 'ईश्वराभावात्' ऐसा सूत्र बनाते।

विज्ञान भिक्षु ने 'सांख्यसार' 'योगवार्त्तिक'; 'योग-सार-संग्रह' और ब्रह्मसूत्र पर 'विज्ञानामृत' नामक टीका भी लिखी है।

योगदर्शन और उसका साहित्य

सांख्य और योग में उतना ही घनिष्ठ संबंध है जितना कि न्याय और वैशेषिक में। तत्व-दर्शन में सांख्य और योग का मतैक्य है। योगदर्शन में पुरुषों से भिन्न ईश्वर को भी माना गया है, यही भेद है।

परन्तु योग का ईश्वर अन्य दर्शनों के ईश्वर से भिन्न है। अन्य दर्शनों में जगत् के स्रष्टा तथा विश्व-नियन्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना की गई है। वैष्णव दर्शनों में भक्ति द्वारा ईश्वर-प्राप्ति को जीवन का परमार्थ माना गया है। किन्तु योग का ईश्वर जगत् का सृष्टा अथवा विश्व का नियन्ता नहीं है। सृष्टि प्रकृति का विकार है और प्रकृति नित्य तथा स्वतन्त्र है, अतः सृष्टि-रचना में सान्निध्य-मात्र से अधिक पुरुष अथवा ईश्वर का हाथ नहीं है। योग-सूत्र में सर्वज्ञता को ही ईश्वर का लक्षण माना गया है, यद्यपि टीकाकारों ने उसमें 'सर्व शक्ति महत्त्व के समावेश की भी चेष्टा की है। (१) ईश्वर-भक्ति अथवा ईश्वर प्राप्ति हमारे जीवन का चरम साध्य भी नहीं है। योग के अनुसार ईश्वर-प्रणिधान भी मन को एकाग्र करने का एक मार्ग है; किन्तु वही एकमात्र मार्ग नहीं है।

बिना ईश्वर से संबंध रक्खे भी साधक मुक्त हो सकता है। कुछ विद्वान् जैनियों के मुक्त जीव और योग के ईश्वर में सादृश्य देखते हैं। जैनी भी मुक्त जीव को ईश्वर या परमात्मा कहते हैं। उनका मुक्त जीव भी योग के ईश्वर की तरह सर्व होता है। लेकिन योग का ईश्वर केवल मुक्त पुरुष नहीं मालूम होता। मुक्त पुरुष तो कैवल्य (केवलता, इकलापन) में स्थित रहता है; उसे पूर्व पुरुषों का गुरु और सर्वज्ञता के बीज का आधार नहीं कह सकते। कैवल्यावस्था में प्रकृति का ज्ञान नहीं रह सकता।

योग को सांख्य का व्यावहारिक पूरक कहना चाहिए। चित्तवृत्तियों का निरोध कैसे हो जिससे कैवल्य-प्राप्ति हो, यही बताना योग का

१—तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ-बीजम्

उद्देश्य है ! पुरुष वास्तव में प्रकृति सेन्न भि है; इस भिन्नता का व्यावहारिक अनुभव योग से हो सकता हैं। योगद्वारा चित्त शुद्धि हुये बिना केवल-ज्ञान की उत्पत्ति असंभव है।

योग की धारणा बहुत प्राचीन है। अथर्ववेद में योगद्वारा अलौकिक शक्तियां प्राप्त करने का विश्वास पाया जाता है। कठ, तैत्तिरीय और मैत्रायणी उपनिषदों में योग का परिभाषिक अर्थ में प्रयोग हुआ है। मैत्री उपनिषद् में षडङ्ग योग का वर्णन है। ललितविस्तर में लिखा है कि बुद्ध के समय में तरह-तरह की यौगिक क्रियायें प्रचलित थीं! पिटकों में योग द्वारा चित्त स्थिर करने का वर्णन पाया जाता है। गीता और महाभारत में सांख्य और योग का नाम साथ-साथ लिया जाता है। जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों योग की व्यावहारिक योग्यता में विश्वास रखते हैं

पतंजलि के योगदर्शन में बिखरे हुये योग-संबंधी विचारों का वैज्ञानिक ढंग सेसंग्राह कर दिया गया है। योग-सूत्रों की शैली बड़ी सरस है; शब्दों का चुनाव सुन्दर है। व्यास-भाष्य (४०० ई०) योग सूत्रों पर माननीय टीका है। राजा भोज की 'भोजवृत्ति' व्यास-भाष्य के ही आधार पर लिखी गई है और अधिक सरल है। वाचस्पति मिश्र ने 'व्यासभाष्य' पर 'तत्त्ववैशारदी' लिखी। विज्ञानभिक्षु ने 'योगवार्त्तिक लिखा है। यह 'योगभाष्य' पर टीका है।

नीचे हम सांख्य-कारिका के कुछ उद्धरण अनुवाद-सहित देते हैं।

कुछ कारिकाएँ

पाठक देखेंगे कि थोड़े शब्दों में कारिका-कार ने सांख्य के सिद्धांतों को कैसे स्पष्ट रूप में प्रकट किया है। गागर में सागर भरने की कला भारतीय दार्शनिकों के ही भाग में आई थी।

तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति तत्वज्ञान के बिना नहीं हो सकती। इसलिये, व्यक्त-अव्यक्त, और पुरुष का ज्ञान संपादन करना चाहिए।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयःसप्त
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः ॥३॥

अर्थः—मूल प्रकृति (प्रधान या अव्यक्त) किसी की विकृति या विकार नहीं है; महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएं यह प्रकृति और विकृति दोनों हैं; सोलह—पंचभूत, दश इंद्रियां और मन—विकार हैं, यह किसी की प्रकृति नहीं होते। पुरुष न प्रकृति है न विकृति।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

अर्थ—व्यक्त का लक्षण बतलाते हैं। व्यक्त हेतुवाला, अतएव अनित्य है; व्यापक नहीं है, क्रियावान है; व्यक्त अनेक हैं, प्रत्येक पुरुष की बुद्धि आदि अलग होते हैं; अपने कारण के आश्रित है। प्रधान का लिंग अर्थात् अनुमान कराने वाला है; सावयव अर्थात् हिस्सों वाला है; परतंत्र अर्थात् अव्यक्त पर निर्भर रहने वाला है। प्रकृति इन सब बातों में व्यक्त से विरुद्धधर्म वाली है।

त्रिगुणमविवेक विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि
व्यक्तं तथाप्रधानं तद् विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

अर्थ :—व्यक्त और अव्यक्त या प्रधान के सामान्य गुण यह हैं—सत्, रज, तम गुणवाला होना, विवेक-हीनता, विषय या ज्ञेय होना, सामान्य अर्थात् बहुत पुरुषों के लिये एकसा होना, अचेतनता, प्रसव धर्मी या उत्पादनशील होना। दसवीं और ग्यारहवीं कारिका में व्यक्त और अव्यक्त के जो गुण बतलाये गये हैं, पुरुष में उनसे विपरीत गुण पाए जाते हैं।

नोट—दसवीं कारिका में व्यक्त का एक गुण 'अनेकत्व' भी बतलाया गया है ? एक पुरुष में इसके विपरीत 'एकत्व, गुण मानना चाहिये ? तब तो सांख्य और वेदान्त का एक बड़ा भेद जाता रहेगा।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रय जननमिथुनवृत्तयश्चगुणाः ॥१२॥
सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः
गुरु वरणकमेवहि तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति ॥१३॥

अर्थ :—सतोगुण, रजोगुण, और तमोगुण क्रमशः प्रीति, अप्रीति और विषादात्मक हैं। सतोगुण प्रकाशक है; रजोगुण प्रवर्तक (क्रिया में लगाने वाला) है; तमोगुण कर्म से रोकनेवाला, आलस्योत्पादक है। तीनों गुण एक दूसरे को दबा लेते हैं, एक दूसरे में रहते हैं, एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं, एक दूसरे के साथ रहनेवाले हैं।

सत्वगुण को हलका और प्रकाशक मानते हैं, रज को उपष्टंभ करने वाला और चलनात्मक, तम को भारी और काम से रोकनेवाला। जैसे बत्ती, तेल और दीपक भिन्न होने पर भी एक प्रयोजन को पूरा करते हैं, वैसे ही तीनों गुण भिन्न होने पर भी एक स्थान में रहकर कार्य-सम्पादन करते हैं।

प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्मद्गणश्च षोडशकः
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि ॥२२॥

अर्थ :—प्रकृति से महत्ताव (बुद्धि), बुद्धि से अहंकार, उससे सोलह का समूह, उनमें से पाँच से पंचभूत प्रादुर्भूत होतें हैं।

अभिमानोऽहंकारस्तस्मात् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रापञ्चकश्चैव ॥२४॥

अर्थ :—अभिमान को अहंकार कहते हैं, उससे दो प्रकार की

सृष्टि प्रवर्तित होती है, ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रिय और मन) तथा पांच तन्मात्राएं। मन को ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों समझना चाहिए (उभयात्मकं मनः)।

ऊर्ध्वसत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥

अर्थ :—ऊर्ध्व श्लोकों में सतोगुण की प्रधानता है, पशु, स्थावर आदि सृष्टि में तमोगुण का प्रधान्य है, मनुष्यादि सृष्टि और पृथ्वी लोक में रजोगुण की बहुलता है।

वत्सविवृद्धि विमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥

अर्थ :—जैसे बछड़े की पुष्टि के लिए ज्ञानशून्य भी गो का दूध बिहने लगता है, इसी प्रकार अचेतन होने पर भी, पुरुष की मुक्ति के लए, प्रधान की प्रवृत्ति होती है।

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्तकी यथा रङ्गात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥५६॥

अर्थ :—जैसे दर्शकों पर अपना स्वरूप प्रकट करके नर्तकी (नाचने वाली) नृत्य करने से रुक जाती है; वैसे ही पुरुष पर अपना स्वरूप प्रकट करके प्रकृति निवृत्त हो जाती है।

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

अर्थ :—वास्तव में न पुरुषबद्ध होता है न मुक्त; विभिन्न रूपों में प्रकृति ही बँधती, छूटती और संसरण (एक जन्म से दूसरे में जाना) करती है।

इसके बाद हम योग-दर्शन के कुछ सूत्रों का अनुवाद देते हैं' कुछ सुन्दर सूत्र भी दे देते हैं, जिन्हें पाठक याद रख सकते हैं। योगदर्शन के चार पाद हैं, समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। समाधिपाद में योग अथवा समाधि के स्वरूप तथा भेदों का वर्णन है। साधन पाद में योगप्राप्ति के साधनों और अष्टांग योग का वर्णन है। विभूति पाद में योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन है और कैवल्यपाद में मोक्ष का।

अथ योगानुशासनम् १।१

अब योगानुशासने (योग संबंधी शिक्षा या योगशास्त्र) का आरंभ करते हैं।

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।

चित्त की वृत्तियों के निरोध को 'योग' कहते हैं।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।१।३

चित्तवृतियो का निरोध हो जाने पर द्रष्टा (पुरुष) की अपने स्वरुप में अवस्थिति या स्थिति हो जाती है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ।१।४

योगावस्था के अतिरिक्त दशाओं में चित्त किसी न किसी वृत्ति के सरूप या समानरूप होता है।

वृत्तियां पांच हैं, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ।१।६।

प्रमाण तीन हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। मिथ्या-ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जिसके ज्ञेय पदार्थ की सत्ता ही न हो उस ज्ञान को विकल्प कहते हैं। अभाव प्रत्यय ही जिसका आलंबन हो उस वृत्ति को निद्रा कहते हैं। अनुभूत विषय का ध्यान स्मृति कहलाता है। १।७११

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।१।१२

अभ्यास और वैराग्य से इन वृत्तियों का निरोध होता है। चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न 'अभ्यास' है। बहुत काल तक अभ्यास करने से ही फल मिलता है।

सब प्रकार के ऐहिक और पारलौकिक (स्वर्ग के) भोगों में इच्छा न होना वैराग्य है।१।१५

सम्प्रज्ञात समाधि में वितर्क, सूक्ष्मविचार, आनंद या अहंभाव बना रहता हैं। इसे सालंबन समाधि भी कहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में सब वृत्तियों का विराम हो जाता है; केवल संस्कार ही शेष जाते हैं। यह निरालंबन समाधि की दशा है

जिनका उपाय तीव्र वेग वाला है—जो बहुत उत्साह से प्रयत्न करते हैं—उन्हें योगावस्था जल्दी प्राप्त होती है।१।२१

ईश्वर प्रणिधानाद्वा।१।२३

अथवा ईश्वर के प्रणिधान से समाधिलाभ होता है। ईश्वर किसे कहते हैं?

क्लेशो कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।१।२४

पांच क्लेशों, कर्म, कर्मफल, और आशय (कर्म-वासनाएं): इनसे असंस्पृष्ट (न छुआ हुआ) पुरुष विशेष ईश्वर है। व्यास-भाष्य कहता है:—

कैवल्यंप्राप्तास्तर्हि सन्ति बहवः केवलिनः ते हि त्रीणि बंधनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः ईश्वरस्य चतत्स बंधो भूतो न भावी।

अर्थात्—पुरुष विशेष का अर्थ सिर्फ़ मुक्त पुरुष नहीं है। मुक्त पुरुष वे हैं जो पहले बंधन में थे और अब बंधन काटकर कैवल्य को प्राप्त

हुये हैं। ईश्वर का तो बंधन से संबंध न कभी हुआ न होगा। वह सदा से मुक्त और सदा से ईश्वर है। इस प्रकार ईश्वर जैनमत के तीर्थंकरों से भिन्न है।

ईश्वर में निरतिशय सर्वज्ञता का बीज है ईश्वर में सर्वज्ञता परिसमाप्त हो जाती है।१।२५

कालकृत सीमा से रहित होने के कारण ईश्वर प्राचीनों का भी गुरु है।१।२६

ईश्वर का वाचक प्रणव या ओ३म् है; उसका जप करने का अभिप्राय उसके अर्थ की भावना (विचार) करना है।१।२७,२८

ईश्वर-प्रणिधान या ओंकार के जप से प्रत्येक चैतन्य का अधिगम और अंतरायों (विघ्नों) का अभाव होता है।१।२९

यथाभिमत-ध्यानाद्वा।१।३९

अथवा जिस वस्तु में जी लगे उसका ध्यान करने से (योगावस्था मिलती है)।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान यह क्रियायोग है।२।१।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पांच क्लेश हैं। इनमें अविद्या शेष चार का मूल है। अनित्य को नित्य, अशुचि को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्मा समझना अविद्या है। द्रष्टा और दर्शनशक्ति (बुद्धि) को एक समझना अस्मिता है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह आठ (योग के) अंग हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (पराई चीज़ न लेना) यह पांच यम हैं। जाति, देश, काल आदि के विचार बिना यह 'सार्वभौम महाव्रत' हैं। शौच, संतोष,

हम देख चुके हैं कि न्याय वैशेषिक का असत्कार्यवाद युक्ति के आगे नहीं ठहरता; सांख्य का सत्कार्यवाद विचित्र उलझनों में फँसा देता है। दो विरोधी सिद्धांतों में एक भी कठिनाई से मुक्त नहीं है, यह आश्चर्य की बात ही इन दोनों सिद्धांतों के विरोध और दोनों की असमंजसता ने वेदांत के 'अनिर्वचनीयवाद' और 'विवर्त्तवाद' को जन्म दिया।

योग-दर्शन

योग-दर्शन सांख्य का व्यावहारिक पूरक है। यह सांख्य के तत्व-ज्ञान पर ही अवलम्बित है। योग-सूत्र का आरंभ अन्य सूत्रों की भाँति तत्व-जिज्ञासा से नहीं वरन् 'अनुशासन' से होता है।[1] जो योग की व्यावहारिक प्रकृति का सूचक है। सांख्य में पुरुष के कैवल्य को परमार्थ माना गया है। वह कैवल्य-सिद्धि विवेक-ज्ञान द्वारा साध्य है और विवेक ज्ञान का साधन तत्वाभ्यास है—परमार्थ-प्राप्ति की व्यावहारिक प्रक्रिया[2] का इतना भर संकेत सांख्य कारिका में मिलता है। कैवल्य सिद्धि की कोई विस्तृत व्यावहारिक प्रणाली सांख्य-कारिका में नहीं पाई जाती। योग-दर्शन सांख्य शास्त्र के दूसरे अभाव की पूर्ति करता है। उसका उद्देश्य कैवल्य प्राप्ति की व्यावहारिक प्रणाली का विस्तृत निरूपण है।

योग का स्वरूप

यह कैवल्य योग अथवा समाधि की अवस्था में प्राप्त होता है, जिसमें समस्त मनोविकारों अथवा चित्त वृत्तियों का अंत हो जाता है। अतएव योग को चित्त-

---

[1]—अथयोगानुशासनम्—योग सूत्र-१-१

[2]—एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययात् विशुद्धं केवल मुत्पद्यते ज्ञानम्॥

वृतियों का निरोध कहा गया है।[१] इस योग की अवस्था में चित्त- वृतियों का निरोध होने पर द्रष्टा (पुरुष) अपने (केवल चैतन्य) स्वरुप में स्थित हो जाता है।[२] योग की अवस्था से भिन्न अन्य अवस्थाओं में चित्त का वृत्तियों के साथ सारूप्य अर्थात् समान रूपत्व होता।[३] वे चित्तवृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति[४]। प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।[५] विपर्यय एक प्रकार का मिथ्या-ज्ञान है जिसमें अतद्रूप अर्थात् अपने स्वरूप से विपरीत रूप से वस्तु अथवा विषय का बोध होता है।[६] जिसके ज्ञेय पदार्थ की सत्ता न हो उस ज्ञान को विकल्प कहते हैं।[७] अभाव-प्रत्यय ही जिसका आलंबन हो उस वृत्ति को निद्रा कहते हैं।[८] अनुभूत विषय का ध्यान स्मृति कहलाता है।[९]

उक्त पाँचों प्रकार की चित्त-वृत्तियों के पूर्ण निरोध का नाम योग

१—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः योग सूत्र १-२

२—तदा द्रष्टुः स्वरूपपेऽवस्थानम्। यो० सू० १-३

३—वृत्तिसारूप्यमितरत्र। यो० सू० १-४

४—वृत्तयः पञ्चतय्यः ...प्रमाण-विपर्यय विकल्प-निद्रा-स्मृत्यः योग सूत्र १-५, ६

५—प्रत्यक्षानुमानागमाःप्रमाणानि। यो० सू० १-७

६—विपर्ययो मिथ्याज्ञान मतद्रूप प्रतिष्ठम्।-योग सूत्र -१-८

७—शब्द ज्ञानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। योग सूत्र-१-९

८—अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। यो सू०-१-१०

९—अनुभूत विषयाऽसम्प्रमोषःस्मृतिः यो० सू० १-११

योग के भेद

अथवा समाधि है। समाधि में चित्त की एकाग्रता हो जाती है। वह एकाग्रता सविषय और निर्विषय भेद से दो प्रकार की होती है। पहले चित्त स्थूल सूक्ष्म-क्रम से विषयों पर एकाग्र कर लेने पर ही निर्विषयक एकाग्रता प्राप्त हो सकती है। सविषय समाधि को संप्रज्ञात तथा निर्विषय समाधि को असंप्रज्ञात कहते हैं। विषयों के स्थूल-सूक्ष्म-क्रम से संप्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती (१) सवितर्क, (२) सविचार (३) सानन्द, और (४) सस्मित। [१]महाभूतादि स्थूल विषयानुगत समाधि का नाम सवितर्क है। तन्मात्रादि सूक्ष्म विषयानुगत समाधि सविचार कहलाती है। इंद्रियादिमात्र विषयालम्बन युक्त समाधि को सानन्द कहते हैं। अहंकार विषयक, एकात्म-संविदालम्बन युक्त समाधि सस्मित संप्रज्ञात समाधि है। निर्विषय और आलम्बन रहित समाधि का नाम असंप्रज्ञात समाधि है। वह विराम अर्थात् सर्वप्रत्यय हीनता के प्रत्यय अर्थात् कारण परम वैराग्य के अभ्यास-पूर्वक प्राप्त होती है। [२] इसमें संस्कार मात्र अव्यक्त रूप से अवशिष्ट रह जाते हैं, संस्कारों के कारण शेष नहीं रहते।

योग के साधन

योग-शास्त्र में चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा योग-प्राप्ति के साधनों का निरूपण किया गया है। व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण इन साधनों का निर्देश अधिकारी-भेद के अनुरूप किया गया है। [३] सभी साधकों की क्षमता समान नहीं होती। इस क्षमता भेद से अधिकारियों के तीन प्रकार हैं—उत्तमाधिकारी,

---

[१]—वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः। योग-सूत्र-१-१७

[२]—विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। योग सूत्र-१-१८

[३]—द्रष्टव्य—विज्ञानभिक्षु योगवार्तिक-२-२८

मध्यमाधिकारी और मन्दाधिकारी। उत्तमाधिकारियों को यह चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग केवल अभ्यास और वैराग्य द्वारा ही प्राप्य है।[१] चित्त की प्रशान्तवाहितः स्थिति के लिये प्रयत्न अभ्यास कहलाता है।[२] यह अभ्यास दीर्घकाल तक नैरन्तर्य-पूर्वक तथा तप-ब्रह्मचर्य-विद्या-श्रद्धा आदि सहित सत्कार-पूर्वक सेवन करने से दृढ़ होता है।[३] स्त्री-भोजन-ऐश्वर्य आदि दृष्ट (लौकिक) तथा स्वर्गादि आनुश्रविक (श्रुति-विहित पारलौकिक) विषयों में तृष्णा रहित वशीकारभाव का नाम वैराग्य है।[४] उत्तमाधिकारियों के लिये अभ्यास-वैराग्य के साथ-साथ ईश्वर-प्रणिधान का विकल्प भी दिया गया है। अभ्यास-वैराग्य द्वारा योग-साधन न करके वे केवल ईश्वर-प्रणिधान द्वारा भी योग-साधन कर सकते हैं।[५]

मध्यमाधिकारियों के लिये अभ्यास-वैराग्य सहज साध्य नहीं है। अतः उनके लिये तपः-स्वाध्याय-ईश्वर-प्रणिधान-पूर्वक क्रियायोग का निर्देश किया गया है।[६] इस क्रिया योग के द्वारा उन्हें अभ्यास-वैराग्य की क्षमता प्राप्त होती है और अभ्यास-वैराग्य-पूर्वक ईश्वर प्रणि-

---

१—अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। योग सूत्र-१-१२

२—तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः। योग सूत्र-१-१३

३—सतु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारसेवितो दृढ़भूमिः। योग सूत्र-१-१४

४—दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। योग सू० १-१५

५—ईश्वर प्रणिधानाद्वा। योग सू० -१-२३

६—तपः-स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः। योग सू०-२-१

धान द्वारा वे समाधि को प्राप्त होते हैं। मन्दाधिकारियों के लिये एक दीर्घ शारीरिक, मानसिक और नैतिक प्रक्रिया बताई गई है, जो योग परंपरा में अष्टांग योग के नाम से प्रख्यात है। योग के विविध अंगों के अनुष्ठान से चित्त की अशुद्धि का क्षय होता है; अशुद्धि-क्षय से ज्ञान का आवरण दूर होकर ज्ञान का प्रकाश होता है और अंततः विवेक-ख्याति प्राप्त होती है।[1] सर्वोपयोगी होने के कारण यह अष्टांग-योग प्रक्रिया इतनी प्रख्यात हो गई कि प्रायः लोग इसी को योग समझने लगे। इसी के विकृत रूप से हठ योग की परंपरा प्रचलित हुई।

अष्टांग योग

अष्टांग-योग योग का सर्वोपयोगी और प्रख्यात पक्ष है। योग के आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं।[2] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं।[3] शौच, सन्तोष, तपः-स्वाध्याय, ईश्वर, प्रणिधान ये पाँच नियम हैं।[4] इन यम-नियमों के अनुष्ठान से विविध शक्तियाँ और योगानुकूल-भावनाएँ प्राप्त होती हैं। अहिंसा में प्रतिष्ठित साधक के समीप समस्त जीव वैर-त्याग कर देते हैं। पशु-पक्षी तक उससे निर्भय हो जाते हैं और

[1]—योगाङ्गानामनुष्ठानादशुद्धिक्षयात् ज्ञानदीप्तिः आविवेक ख्यातेः। योग-सू०-२-२८

[2]—यम-नियम-आसन-प्राणायाम-धारणा-ध्यान - समाधयोऽष्टाव - ङ्गानि। योग-सू०-२-२९

[3]—अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः यमाः। योग-सू०-२-३०

[4]—शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः। योग सू०-२-३२

उससे मैत्रीभाव रखते हैं । सत्यवादी की समस्त क्रियायें सफल होती हैं। अस्तेय (चोरी न करना) की प्रतिष्ठा से सब रत्न साधक के समीप रहते हैं। ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्य-लाभ होता है। अपरिग्रह (किसी से कुछ भी ग्रहण न करना) में स्थिर होने पर पूर्व-जन्मों का बोध होता है। शौच से अपने अंग से जुगुप्सा और दूसरों के अंग से असंसग का भावना द्वारा वैराग्य प्राप्त होता है, तथा सत्वशुद्धि, मनः प्रसाद, एकाग्रता, इंद्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है। संतोष से अनुत्तम-सुख का लाभ होता है। तपः से अशुद्धिक्षय-द्वारा शरीर तथा इंद्रियों की अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। स्वाध्याय से इष्ट देवता के दर्शन होते हैं। ईश्वर प्रणिधान से समाधि-सिद्धि होती है। स्थिर और सुखमय शारीरिक स्थिति का नाम आसन है। [1] आसन-सिद्धि से शीतोष्णादि द्वन्द्वों से क्लेश नहीं होता। [2] आसन-सिद्धि होने पर श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छेद प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम से प्रकाश (ज्ञान) का अज्ञानरूपी आवरण क्षीण होता है और धारणा में मन की योग्यता बढ़ती है। अपने-अपने विषयों के प्रति असंप्रयुक्त अर्थात् विषयों की ओर से आहृत इंद्रियों की अंतर्मुखी अस्वथा जिसमें वे चित्त की स्वरूपानुकारिणी बन जाती हैं, प्रत्याहार कहलाती है। [3] प्रत्याहार से इंद्रियों की परमवश्यता प्राप्त होती है। एक

---

[1] स्थिर सुखमासनम् । यो० सू० २-४६

[2] तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । यो०-सू० २-४९

[3] स्वविषयाऽसम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार-इवेंद्रियाणां प्रत्याहारः । यो० सू० २-५४

देश-विशेष में चित्त की स्थिति का नाम धारणा है [1] उस-देश-विशेष में ध्येय आलंबन के प्रत्यय अर्थात् भावना को एकतानता अर्थात् निरन्तरा-विच्छिन्न प्रवाहशीलता ध्यान कहलाती है। [2] वही ध्यान ध्येयाकार-मात्र रूप से निर्भासित तथा स्वरूप (ध्यान रूप) से शून्य होने पर समाधि कहलाता है। [3] धारणा-ध्यान-समाधि इन तीनों को एक साथ मिलाकर संयम संज्ञा दी गई है। [4] इनके सिद्धि होने से प्रज्ञा (ज्ञान) का आलोक (प्रकाश) प्राप्त होता है। इनमें अंत के तीन अङ्ग पूर्व के पांच अंगों की अपेक्षा अंतरङ्ग हैं। [5] किंतु वे तीनों भी निर्बीज समाधि के प्रसंग में बहिरङ्ग ही माने जाते हैं। [6]

योग के उक्त आठ अंगों के क्रमिक अनुष्ठान द्वारा सबीज अथवा संप्रज्ञात समाधि की सिद्धि प्राप्त कर लेने पर अंत में परम वैराग्य द्वारा दोष बीज-क्षय होने पर निर्बीज अथव असंप्रज्ञात समाधि द्वारा कैवल्य प्राप्त होता है।[7]

मनोनिग्रह के उक्त साधन सामान्य रूप से सभी श्रेणियों के साधकों के लिये उपादेय हैं। फिर भी योगदर्शन रूढ़िवादी नहीं है और अपने साधन-विधान को सम्पूर्ण, सर्वोपयोगी अथवा कठोर नहीं मानता। साधन-प्रक्रिया गौण है, साध्य ही मुख्य है। जिस के द्वारा

[1] देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। योग सू० ३-१

[2] तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। " ३-२

[3] तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः। योग सू० ३-३

[4] त्रयमेकत्र संयमः। योग सू० ३-४

[5] त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। " ६-७

[6] तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य। " ३-८

[7] तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। योग सूत्र-३-२०

भी समाधि-सिद्धि संभव हो वही साधन उस के लिये श्रेष्ठ है। साधकों के अनंत प्रकार हो सकते हैं और उनकी क्षमता और अभिरुचि भी भिन्न होगी। उस भेद के अनुरूप साधनों में भी अनंत भेद हो सकते हैं। अतः कुछ साधन प्रक्रियाओं का विधान करते हुये भी योग दर्शनकार ने रुचि-वैचित्र्य का आदर करते हुये साधकों को साधन के विषय में पूर्ण स्वतंत्रता दी है। जिस विषय में भी उनकी रुचि हो उसी मनोनुकूल विषय के ध्यान-द्वारा वे एकाग्रता प्राप्त कर समाधि-साधन कर सकते हैं।[1]

योग में ईश्वर तीनों श्रेणियों के अधिकारियों के लिये विहित उक्त साधन-प्रक्रियायों में यह अवलोकनीय है कि ईश्वर प्रणिधान को तीनों ही अवस्थाओं में समान रूप से स्थान दिया गया है। अन्य साधनों में अधिकार-भेद होते हुये भी ईश्वर-प्रणिधान में समान अधिकार है। इसका एक ही कारण हो सकता है कि ईश्वर की दृष्टि में सभी अधिकारी समान हैं इसे दर्शनकार भी मानते हैं। सभी को ईश्वर का आश्रय ग्रहण करने का समान अधिकार है। क्षमता के भेद से चाहे ईश्वर की उपासना में भेद भले ही हो, किंतु अधिकार में भेद नहीं है। ईश्वर के लोक का द्वार सबके लिये समान रूप से मुक्त है। यद्यपि सब एक ही मार्ग से उसमें नहीं जा सकते। उत्तम साधकों के लिये अन्य साधनों के व्यवधान के बिना ही ईश्वर-प्रणिधान संभव है। जिन का हृदय इतना शुद्ध और मन इतना एकाग्र नहीं हो पाया है, वे मध्यमाधिकाती तपः और स्वाध्याय द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करके उसे प्राप्त कर सकते हैं। जिनके लिये केवल तपः-स्वध्याय द्वारा हृदय-संस्कार संभव नहीं है वे मंदाधिकारी अन्य बाह्याऽऽभ्यंतर साधन-प्रक्रिया द्वारा हृदय शुद्ध कर ईश्वर-प्रणिधान की सिद्धि कर सकते हैं।

---

[1] यथाभिमतध्यानाद्वा। योग सूत्रे -१-३९

ईश्वर-प्रणिधान में महत्वपूर्ण स्थान के कारण योगदर्शन में ईश्वर की कल्पना एक विशेष विचारणीय सिद्धांत बन गया है। हम देख चुके हैं कि योग सांख्य का व्यावहारिक पूरक है और प्राचीन सांख्य निरीश्वरवादी है। सांख्य-कारिका में खण्डन के लिये भी ईश्वर का नाम नहीं लिया गया है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-प्रवचन- सूत्र[1] के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सांख्य निरीश्वरवादी नहीं है। वह ईश्वर का खण्डन नहीं करता। यद्यपि वह ईश्वर को स्पष्ट रूप से स्वीकार भी नहीं करता। विज्ञान भिक्षु के अनुसार सांख्य ईश्वर की सत्ता के विषय में मौन तथा उसकी सिद्धि के विषय में निरपेक्ष है। इस प्रकार सांख्य ईश्वर की निरीश्वरवादिता का परिहार कर योग की सेश्वरवादिता से उसकी संगति स्थापित करने की चेष्टा की है।

योग दर्शन में स्पष्ट रूप से ईश्वर का उल्लेख और स्वीकरण मिलता है। किंतु योग का ईश्वर अन्य दर्शनों के ईश्वर से भिन्न है। अन्य दर्शनों में जगत् के स्रष्टा तथा विश्व के नियंता के रूप में ईश्वर की कल्पना की गई है। वैष्णव दर्शनों में भक्ति द्वारा ईश्वर-प्राप्ति को जीवन का परमार्थ माना गया है। किंतु योग का ईश्वर जगत् का स्रष्टा अथवा विश्व का नियंता नहीं है। सृष्टि प्रकृति का विकार है, तथा प्रकृति नित्य और स्वतंत्र है, अतः सृष्टि-रचना में सान्निध्य-मात्र से अधिक पुरुष अथवा ईश्वर का हाथ नहीं है। वह केवल सृष्टि का निरपेक्ष द्रष्टा है, स्रष्टा अथवा नियन्ता नहीं। योग-सूत्र में 'सर्वज्ञता' को ही ईश्वर का लक्षण माना गया[2] यद्यपि टीकाकारों ने उसमें

---

[1]—ईश्वराऽसिद्धेः।

[2]—तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्-योग सू०-१-२५

'सर्वशक्तिमत्व' के समावेश की भी चेष्टा की है। ईश्वर-भक्ति अथवा ईश्वर-प्राप्ति हमारे जीवन का चरम साध्य नहीं। योग के अनुसार ईश्वर प्रणिधान भी मन को एकाग्र करने तथा समाधि-सिद्धि प्राप्त करने का एक मार्ग है।

योग का यह ईश्वर एक 'पुरुष विशेष' है, जो क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय से मुक्त है।[१] साधारण 'पुरुषों' से यही उसकी 'विशेषता' है। साधारण पुरुष जिनसे क्लिष्ट हैं और 'पुरुष विशेष' ईश्वर जिनसे मुक्त है, वे क्लेष पाँच प्रकार के है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशत्त उनमें आदि क्लेश अविद्या शेष का मूल है।[३] उस अविद्या का स्वरूप अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म विषयों में नित्य, शुचि, सुख और आत्म विषयक (मिथ्या) बोध है।[४] दृक-शक्ति (पुरुष) तथा दर्शन-शक्ति (प्रकृति) को एकात्मता ही अस्मिता अथवा अहंकार है।[५] सुख के अनुभव के पश्चात् उसकी स्मृति-पूर्वक उसकी प्राप्ति के लिये जो तृष्णा है उसका नाम राग है।[६] दुःख के अनुभव के बाद उसकी स्मृति पूर्वक उसके प्रति जो क्रोध का भाव है वही द्वेष है।[७] अपने संस्कार से ही वहनशील तुच्छ कृमि से लेकर

१—क्लेष-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः। योग सूत्र-१-२४

२—अविद्याऽस्मिता-राग-द्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः। योग-सू० २-३

३—अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषाम्। यो० सू० २-४

४—अनित्याऽशुचि-दुःखाऽनात्मसु नित्य-शुचि-सुखाऽत्मख्याति रविद्या। यो० सू० २-५

५—दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता। योग सूत्र-२-६

६—सुखाऽनुशयी रागः। योग सूत्र-२-७

७—दुःखानुशयी द्वेषः। योग-सू०-२-८

विद्वान तक व्याप्त रहने वाला मृत्यु का भय अभिनिवेश कहलाता है।[1]

अविद्या से अहंकार और अहंकार से राग-द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं, जो कर्म के प्रेरक हैं। अहंकार-पूर्वक राग-द्वेष से प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है और अपने को कर्त्ता समझता है। कर्म का फल होता है, जिसे विपाक कहते हैं। कर्त्तृत्व की भावना के कारण कर्म-फल का भोक्ता बनना भी मनुष्य के लिये नियमानुकूल ही है। समस्त कर्म-फल का विपाक एक जन्म में संभव नहीं है, अतः जन्म का जन्मान्तर से संबंध स्थापित करने वाले जीवगत वासना-संस्कार को आशय कहते है। किंतु ईश्वर केवल मुक्त पुरुष नहीं है। मुक्त पुरुष वे हैं जो पहले बंधन में थे और ज्ञान द्वारा बंधन का नाश कर मुक्त हुये हैं। ईश्वर सदा निर्बंधन अतः सदा मुक्त है। वह ईश्वर सर्वज्ञ हैं[2] कावल-कृत सीमा से रहित होने के कारण वह प्राचीनों का भी गुरु है।[3] ईश्वर का वाचक प्रणव अथवा ओ३म् है।[4] उस प्रणव का जप तथा प्रणव के अर्थ ईश्वर की निरंतर भावना से चित्त एकाग्र होता है।[5]

---

[1]—स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः
योग सूत्र-२-९

[2]—तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।
योग सूत्र-१-२५

[3]—स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनव च्छेदात् १-२६

[4]—तस्य वाचकः प्रणवः योग सूत्र-१-२७

[5]—तज्जपस्तदर्थ भावनम्। योग सूत्र-१-२८

चौथा अध्याय

पूर्व-मीमांसा

वैदिक संहिताओं में जो विचार बीज-रूप में वर्त्तमान थे वे ब्राह्मणों और उपनिषदों में अंकुरित हो गये। उन्हीं के आधार पर षड्दर्शनों के वटवृक्षों का विस्तार हुआ। यों तो श्रुति का 'शासन' सभी आस्तिक दर्शन मानते हैं, पर श्रुति के वास्तविक अनुयायी पूर्व और उत्तर-मीमांसा ही कहला सकते हैं। जब कि अन्य दर्शन श्रुति से कुछ संकेत लेकर ही संतुष्ट हो गये, पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा के लेखकों ने अपने संपूर्ण सिद्धांत श्रुति से निकालने की कोशिश की। न्याय-वैशेषिक के साहित्य में श्रुति के उद्धरण शायद ही मिलें, सांख्यकारिका भी श्रुति की विशेष परवाह नहीं करती; परंतु पूर्वमीमांसा और वेदांत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि उत्तरकालीन वेदांत को आलोचकों से अपनी रक्षा करने के लिये तर्क का आश्रय लेना पड़ा, इसी प्रकार पूर्व-मीमांसा के टीकाकारों में भी तर्क कम नहीं है, फिर भी इन दोनों के मुख्य सिद्धांतों का प्रतिपादन श्रुति के आधार पर किया गया है। यहां श्रुति से अभिप्राय वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों के समुदाय से है। जहां दूसरे दर्शन अपनी पुष्टि के लिये उपनिषद् की शरण लेते हैं, वहां पूर्व-मीमांसा ब्राह्मण-ग्रंथों पर निर्भर रहती है। ब्राह्मण उपनिषदों से पहले आते हैं, इसीलिये इस संप्रदाय का नाम 'पूर्व-मीमांसा' पड़ा। उपनिषदों का आश्रय लेने के कारण वेदांत को 'उत्तर मीमांसा' कहते हैं।

पूर्व-मीमांसा का दूसरा नाम कर्म-मीमांसा भी है। इस नाम से पूर्व-

मीमांसा के विषय और अभिरुचि का पता चलता है। पूर्व-मीमांसा का सब से प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ जैमिनि के सूत्र हैं। इन सूत्रों में वैदिक यज्ञ-विधानों की प्रक्रिया और महत्व का वर्णन है। यज्ञ-प्रतिपादक वाक्यों की व्याख्या किस प्रकार करनी चाहिए, किन यज्ञों को कब, किस-लिये और किस प्रकार करना चाहिये, इसका निर्णय करना मीमांसा का काम है। यज्ञ-संबंधी व्याख्याओं के मतभेद दूर करके संगति और सामञ्जस्य स्थापित करना ही जैमिनि-सूत्रों का लक्ष्य था। प्रश्न किया जा सकता है कि यदि पूर्व-मीमांसा कर्मकांड का वर्णन मात्र है तो उसे 'दर्शन शास्त्र' के इतिहास में क्यों स्थान दिया गया? बात यह है कि धीरे-धीरे टीकाकरों के हाथ में पूर्व-मीमांसा ने दर्शन का रूप धारण कर लिया। आरंभ में पूर्व-मीमांसा की स्वर्ग में रुचि थी जो यज्ञों द्वारा प्राप्य था, परंतु भाष्यकारों और टीकाकारों ने 'मोक्ष' का प्रवेश मीमांसा-शास्त्र में कर दिया। यद्यपि कुमारिल और प्रभाकर याज्ञिक-क्रियाओं को महत्व देते हैं, तथापि उनमें स्पष्टरूप में दार्शनिक पक्षपात बढ़ा हुआ पाया जाता है।

कीथ के मत में पूर्व-मीमांसा के सूत्र सब सूत्रों में पुराने हैं। उनका समय ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता।

मीमांसा साहित्य

मीमांसा शास्त्र में लगभग २५०० सूत्र हैं जो बारह अध्यायों में विभक्त हैं। दार्शनिक सूत्र-ग्रंथों में मीमांसा का आकार सबसे बड़ा है। मीमांसा सूत्रों पर शायद सब से पहले 'उपवर्ष' ने वृत्ति लिखी। उनका नाम शाबर भाष्य में आता है जो कि सबसे प्राचीन उपलब्ध भाष्य है। शाबर भाष्य पर प्रभाकर ने 'वृहती' टीका लिखी। प्रभाकर का समय ६५० ई० समझना चाहिए। 'वृहती' पर शालिकानाथ की 'ऋजुविमला' टीका मिलती है। शालिकानाथ को प्रभाकर का शिष्य बतलाया जाता है। मीमांसा-साहित्य में प्रभाकर 'गुरु' नाम से प्रसिद्ध हैं। शाबर भाष्य पर दूसरी टीका कुमारिल भट्ट (७०० ई०) ने लिखी;

इस टीका के तीन भाग हैं, श्लोकवार्त्तिक, तंत्रवार्त्तिक और टुप्टीका। श्लोकवार्त्तिक पर, जो कि दार्शनिक भाग है, श्रीपार्थसारथि मिश्र ने 'न्याय रत्नाकार' लिखा। प्रभाकर की बृहती शाबर स्वामी के भाष्य के अधिक अनुकूल है; कुमारिल कभी-कभी भाष्यकार के विरुद्ध भी चले जाते हैं। प्रभाकर और कुमारिल के दार्शनिक सिद्धांतों में जगह-जगह मतभेद है। इस प्रकार शाबर-भाष्य का आधार लेकर प्रभाकर और कुमारिल ने मीमांसा के दो दार्शनिक संप्रदायों की नींव डाली। कुमारिल के मतानुयायियों का अधिक साहित्य उपलब्ध है। पार्थसारथि मिश्र की 'शास्त्रदीपिका' मंडन मिश्र का 'विधिविवेक' और 'भावनाविवेक', माधवाचार्य का 'न्यायमालाविस्तर' खंडदेव की 'भाट्ट दीपिका' आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। आपदेव का 'मीमांसा-न्याय-प्रकाश' सत्रहवीं शताब्दी में लिखा गया; लौगाक्षिभास्कर का 'अर्थसंग्रह' भी नवीन ग्रंथ है। भाट्ट मत का एक नया ग्रंथ 'मानमेयोदय' हाल ही में प्राप्त हुआ है। प्रभाकर मत की प्रसिद्ध पुस्तक शालिकानाथ की 'प्रकरणपञ्चिका' है। इसी लेखक ने शाबर-भाष्य पर 'परिशिष्ट' भी लिखा है।

प्रभाकर और कुमारिल के मतों का हम मिलाकर वर्णन करेंगे, क्योंकि भेद होने पर भी दोनों का कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर एक मत है। जहाँ दोनों के सिद्धांतों में भेद है, वहां वैसा ही निर्देश कर दिया जायगा।

प्रमाण-विचार

जैमिनि ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द यह तीन प्रमाण माने थे। प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति को भी प्रमाण स्वीकार किया। कुमारिल ने प्रभाकर की सूची में अभाव को और जोड़ दिया। संभव और ऐतिह्य (जनप्रवाद) को दोनों में कोई प्रमाण नहीं मानता। न्याय-वैशेषिक में प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहा गया था, परंतु प्रभाकर के मत में प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष प्रमाण एक ही हैं। प्रमाण का लक्षण

प्रमाणमनुभूतिः, सा स्मृतेरन्या, न सा स्मृतिः ।
न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्ति व्यपेक्षणात् ॥[१]

प्रमाण अनुभूति को कहते हैं जो स्मृति-ज्ञान से भिन्न है। स्मृति प्रमाण नहीं है क्योंकि वह पूर्वज्ञान की अपेक्षा करती है। जब किसी ज्ञान में स्मृति का अंश आ जाता है तो उसमें भ्रम की संभावना उत्पन्न हो जाती है।

ज्ञान के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात याद रखनी चाहिए, वह यह कि ज्ञान का आकार नहीं होता। मीमांसा का मत है कि बिना आकार की वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। ज्ञान प्रत्यक्षगम्य नहीं है, वह स्वतः प्रकाश है। प्रत्यक्ष-बुद्धि अर्थ-विषयक होती है न कि बुद्धि-विषयक (अर्थ-विषयाहि प्रत्यक्षबुद्धिः, न बुद्धिविषया—भाष्य)।[२] प्रत्यक्ष पदार्थों का होता है न कि पदार्थों के ज्ञान का। संवित् (ज्ञान) कभी संवेद्य नहीं होती। संवित् सदैव संवित् के रूप में जानी जाती है न कि संवेद्य के रूप में (संवित्तयैव संवित् वेद्या न संवेद्यतया)।[३] ज्ञान की उपस्थिति अनुमान से जानी जाती है। ज्ञान दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है, अपने को नहीं। ज्ञान ज्ञेय है, पर प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं है। यह सिद्धांत सौत्रांतिक मत का बिलकुल उलटा है। सौत्रांतिकों के अनुसार विज्ञानों का प्रत्यक्ष होता है और पदार्थों का अनुमान, मीमांसा के मत में वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है और उनके ज्ञान या संवित् का अनुमान।

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष सविकल्पक और निर्विकल्पक दो प्रकार का होता है। मीमांसा का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष न्याय-वैशेषिक से भिन्न है। मीमांसा का निर्विकल्पक कोरी कल्पना नहीं।

---

[१]—प्रकरण पंचिका

[२] वही, पृ० २० और प्रभाकर स्कूल आफ् पूर्व-मीमांसा, पृ० २६।

[३] वही

निर्विकल्पक ज्ञान में वस्तु की श्रेणी या जाति तथा विशेष धर्म की प्रतीति नहीं होती, यह कुमारिल का मत है।[१] प्रभाकर के मत में दोनों का अस्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों प्रकार के ज्ञान प्रमाण हैं, दोनों ही ज्ञाता को व्यवहार में लगा सकते हैं। पशु का ज्ञान निर्विकल्पक होता है और पशु के व्यापारों का कारण बन जाता है।[२]

आत्मा का प्रत्यक्ष होता है या नहीं, इस विषय में प्रभाकर और कुमारिल में मतभेद है। कुमारिल के मतभेद में अहं प्रत्यय द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। आत्मा एक ही साथ द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय हो सकता है। आत्मानुभव में आत्मा आप ही अपने को जानता है। ज्ञयरूप से आत्मा जड़ है और ज्ञातारूप से चेतन; इस प्रकार आत्मा जड़-बोधात्मक है।[३] मैं अपने को जानता हूं, यह अनुभव ही इस विषय में प्रमाण है। प्रत्येक पदार्थ के ज्ञान के साथ आत्मा का ज्ञान लगा रहता है। घटज्ञान में दो वृत्तियां विद्यमान होती हैं, एक घट-वृत्ति और दूसरी अहंवृत्ति। आत्मानुभूति प्रत्येक ज्ञान की निश्चित सहकारिणी है। यह मत जर्मन दार्शनिक काण्ट के मत से समानता रखता है। काण्ट ने कहा था—प्रत्येक प्रत्यक्ष-ज्ञान के साथ 'मैं जानता या सोचता हूँ' यह ज्ञान स्वतः लगा रहता है। परंतु कुमारिल के मत आत्मा 'ज्ञाता' के रूप में नहीं जाना जाता; व्यक्तित्व की एकता की अनुभूति अवश्य होती है। आत्म-तत्व को अज्ञेय नहीं कहा जा सकता।

---

[१] कीथ, वही, पृ० २६।

[२] हिरियन्ना, पृ० ३०४।

[३] वही, पृ० ३०५।

प्रभाकर का मत न्याय-वैशेषिक के समीप और कुमारिल से भिन्न है। प्रभाकर परिणामवादी नहीं है; वह आत्मा की परिवर्तनीयता में विश्वास नहीं रखता। पुरुष को 'ज्ञेय' कहना भी समीचीन नहीं है। ज्ञाता कभी अपना ज्ञेय नहीं हो सकता। बाह्य पदार्थ ही ज्ञेय हैं न कि आत्मा। आत्मा ज्ञाता है; प्रत्येक ज्ञान में वह ज्ञाता के रूप में ही प्रकाशित होता है। यदि प्रत्येक ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के साथ ज्ञाता भी प्रकाशित न होता तो एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से भिन्न न जाना जा सकता। आत्मा स्वप्रकाश नहीं, जड़ है। यही न्याय-वैशेषिक का भी मत है। वास्तव में स्वयं प्रकाश ज्ञान है या अनुभव के लिये प्रभाकार के अनुयायी 'संवित्' शब्द का प्रयोग करते हैं। संवित् स्वप्रकाश, उसे किसी दूसरे के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। संवित् उत्पन्न होती है और तिरोहित होती है और प्रकट होते ही विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ तथा ज्ञाता अर्थात् आत्मा दोनों को प्रकाशित कर देती है; वह स्वयं तो प्रकाशित है ही। इस प्रकार तीन वस्तुओं (संवित्, ज्ञेय और ज्ञाता) के एक साथ प्रकाशित हो जाने को त्रिपुटी-ज्ञान कहते हैं।[१] आत्मा यदि स्वयं-प्रकाश होता तो निद्रावस्था और सुषुप्ति में भी प्रकाशित रहता। इसलिये संवित् को ही स्वयं-प्रकाश मानना चाहिये।

अनुमान और उपमान

अनुमान और उपमान के संबंध में मीमांसकों के मंतव्य विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं। अनुमान में तीन ही अवयव आवश्यक हैं, पाँच नहीं। कुमारिल और प्रभाकर दोनों के अनुसार अनुमान त्यक्ष पर आधारित है। कुमारिल के अनुसार अन्य प्रमाणों की भाँति अनुमान में भी अनधिगत (अज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष से अनुपलब्ध) तत्व का ज्ञान होता है,

[१]—प्रकरण पंचिका

प्रभाकर इसे आवश्यक नहीं मानते। शब्द मीमासकों का मुख्य प्रमाण है। उसका कुछ विस्तार से वर्णन अपेक्षित है।

शब्द प्रमाण

मीमांसक वेदों को अपौरुषेय और नित्य मानते हैं। अपौरुषेय का अर्थ यही नहीं है कि उन्हें किसी मनुष्य ने नहीं बनाया; इसका अर्थ यह है कि उन्हें किसी ने नहीं बनाया। वेद ईश्वर-कृत नहीं है। वस्तुतः मीमांसक अनीश्वरवादी हैं। हिंदू-दर्शन में, जैसा कि हम बता चुके हैं, ईश्वर को माननेवाला नास्तिक नहीं होता, श्रुति को न माननेवाला ही नास्तिक कहलाता है। इस प्रकार अनीश्वरवादी होते हुये भी मीमांसा एक आस्तिक दर्शन है। वेदों की नित्यता का अर्थ यह है कि वेदों के शब्द, वाक्य आदि, सब नित्य हैं, वाक्यों का क्रम भी नित्य है। इसी क्रम से इसी भाषा में लिखित वेद गुरु-शिष्य-परंपरा द्वारा अनादिकाल से चले आते हैं। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं। कुमारिल के मत में शब्द एक द्रव्य है। शब्द नित्य हैं, इसी प्रकार अर्थ नित्य हैं; शब्दों और अर्थों का संबंध भी नित्य है। नैयायिकों के मत में, किस शब्द का क्या अर्थ होगा, यह ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। परंतु मीमांसक शब्दों और उनके अर्थ का संबंध स्वाभाविक, अकृत्रिम तथा अनादि मानते हैं। जिस शब्द का जो अर्थ है, वही उसका अर्थ हो सकता है। वह सुविधा के लिये 'मान लेने' की चीज़ नहीं है। शब्द और अर्थ का संबंध नित्य है।

शब्द की नित्यता

शब्द-मात्र की नित्यता सिद्ध करने के लिये मीमांसकों ने कई युक्तियां दी हैं[1]। संसार की वस्तुएं पहले थीं और उनका नाम बाद को रक्खा गया; यह मत मीमांसा को स्वीकृत नहीं है। वस्तुओं और उनके नामों में क्या पहले था, यह

---

[1] हिरियन्ना, पृ० ३०६-३१०

बताना असंभव है। परंतु शब्द का अर्थ ध्वनि नहीं है। शब्द वर्ण-समूह का नाम है। प्रत्येक वर्ण सर्वव्यापक, निरवयव अतएव नित्य हैं। वर्ण नित्य हैं, इसके पक्ष में एक महत्व की युक्ति यह है कि किसी वर्ण का उच्चारण होते ही हम पहचान लेते हैं कि यह अमुक वर्ण है। एक ही नित्य वर्ण का बार-बार उच्चारण होता है। ध्वनि वर्ण के उच्चारण का साधन मात्र है; ध्वनि से वर्ण को अभिव्यक्ति मिलती है। ध्वनि वर्ण नहीं है। ध्वनि ऊँची, नीची, धीमी या तेज़ हो सकती हैं, परंतु इससे वर्ण में भेद नहीं पड़ता। वर्णों के समुदाय को शब्द कहते हैं। शब्द वर्णों का समूहमात्र है; वह अवयवी नहीं है। फिर भी अर्थ की प्रतीति के लिये वर्णों में ठीक क्रम होना आवश्यक है। अन्यथा 'नदी' और 'दीन' में अर्थ भेद न होगा। शब्दों का अर्थ 'व्यक्ति' को नहीं बल्कि 'जाति' को बताता है। गो शब्द का अर्थ है गोत्व जाति। चूंकि जातियां नित्य हैं इसलिये शब्द और अर्थ का संबंध भी नित्य है।

यदि शब्द नित्य न हों तो गुरु शिष्य को पढ़ा भी न सके। 'गाय जाती है' यह कहने में पहले 'गाय' शब्द का उच्चारण होता बाद को 'जाती' और फिर 'है' का। 'गाय' में पहले ग का उच्चारण होता है। यदि उच्चारण के साथ ही ग् वर्ण नष्ट हो जाय तो पूरे शब्द या पूरे वाक्य का अर्थ कभी समझ में न आ सके। नष्ट हुआ शब्द अर्थ का ज्ञापन नहीं कर सकता। ज्ञाप्य (जिसका ज्ञापन किया जाय) और ज्ञापक (ज्ञापन करनेवाले) को एक समय में होना चाहिए।

प्रभाकर के मत में सारी ध्वनियां वर्णात्मक हैं। कुमारिल और प्रभाकर दोनों के मत में अर्थ वर्णों का धर्म है न कि उनसे अतिरिक्त किसी 'स्फोट' का। स्फोटवाद वैयाकरणों (व्याकरण-शास्त्रियों) का सिद्धांत है। मीमांसक उससे विरुद्ध हैं।

वर्ण सदैव, सर्वत्र वर्त्तमान रहते हैं; उच्चारण से उनकी अभिव्यक्ति

मात्र हो जाती है। इसलिये यह तर्क कि वर्णों की उत्पत्ति और नाश होता है, इसलिये वे अनित्य हैं, ठीक नहीं। एक ही शब्द का बहुत से लोग बहुत जगहों में उच्चारण करते हैं, न कि अनेक शब्दों का। अन्यथा एक-से अर्थ की प्रतीति सब जगह नहीं हो सकती।

जब साधारण शब्द नित्य हैं तब वैदिक शब्द नित्य हैं इसका तो कहना ही क्या। महाभाष्यकार पतंजलि के मत में वैदिक अर्थ नित्य हैं, शब्द नित्य नहीं हैं। परंतु मीमांसक शब्दों और शब्दों का अभिप्राय दोनों को नित्य मानते हैं। परंतु क्या नित्य होने से वेदों का प्रामाण्य स्थापित हो जाता है? इसके उत्तर में मीमांसक ज्ञान के 'स्वतःप्रामाण्य' पर ज़ोर देते हैं। 'स्वतःप्रामाण्य' के सिद्धांत पर विचार करने से पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि शब्द प्रमाण का क्षेत्र अलौकिक जगत है। जहां प्रत्यक्षादि प्रमाणों की पहुँच नहीं है वहीं शब्द का प्रामाण्य होता है। वेदों का प्रामाण्य इसलिये है कि वे अलौकिक क्षेत्र के विषय में बतलाते हैं। 'इस प्रकार का अनुष्ठान करने से यह फल मिलेगा,' यह किसी दूसरे प्रमाण का विषय नहीं है। याज्ञिक अनुष्ठानों के फलप्रद होने का विश्वास वेदों का प्रमाण मानने पर ही हो सकता है। मीमांसा का उद्देश्य 'धर्म' का स्वरूप निश्चय करना है। वैदिक विधियों का पालन ही 'धर्म' है। धर्म का स्वरूप और किसी उपाय से, प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा, नहीं जाना जा सकता। मीमांसा वैदिक वाक्यों की व्याख्या करने से नियम बतलाती है जिससे वेदों का अभिप्राय ठीक-ठीक समझा जा सके।

स्वतः प्रमाण

प्रामाण्यवाद की ठीक-ठीक समस्या क्या है, इसे हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। चक्षु, श्रोत्र आदि इंद्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।

मान लीजिए कि आपको सर्प का प्रत्यक्ष हुआ। जैसे ही आपको सर्प दिखलाई देता है, आप विश्वास कर लेते हैं कि आप के सामने सर्प है। प्रश्न यह है कि क्या आपका यह स्वाभाविक विश्वास बिलकुल ठीक ही है, ग़लत नहीं हो सकता; क्या ज्ञान का उत्पन्न होना और ज्ञान का यथार्थ होना एक ही बात है ? जो जो ज्ञान उत्पन्न होता है क्या वह सब ठीक ही होता है ? ज्ञान की उत्पत्ति ही क्या उसकी सच्चाई या यथार्थता की भी गारंटी कर लेती है ? जिसे आप सर्प कह या समझ रहे हैं, वह रस्सी भी तो हो सकती है।

नैयायिकों का कथन है कि ज्ञान की उत्पत्ति एक बात है और ज्ञान की यथार्थता का निश्चय दूसरी बात; यथार्थ ज्ञान का स्वरूप ज्ञेय के अनुकूल होता है, परंतु यथार्थज्ञान की परख व्यावहारिक सफलता है। जिस ज्ञान के अनुसार काम करने पर सफलता हो उसे यथार्थज्ञान कहना चाहिए। यह यथार्थज्ञान का लक्षण नहीं है, उसे पहचानने का उपाय है। यथार्थज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी उसकी पहचान बिना व्यवहार के नहीं हो सकती। इस मत को 'परतः प्रामाण्यवाद' कहते हैं।

मीमांसकों का मत इससे उलटा है। ज्ञान अपना प्रामाण्य अपने साथ लाता है। ज्ञान की यथार्थता को रखने के लिये किसी ज्ञानेतर पदार्थ, क़िसी प्रकार के व्यवहार या व्यापार की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान उत्पन्न होना और उस ज्ञान की यथार्थता में विश्सास होना, एक ही बात है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में नैसर्गिक विश्वास पाया जाता है। किसी ज्ञान को अयथार्थ सिद्ध करने के लिये और कुछ करने की आवश्यकता है, यथार्थ सिद्ध करने के लिये नहीं। इस मत को 'स्वतः प्रामाण्यवाद' कहते हैं। ज्ञान का प्रामाण्य अपने आप (स्वतः) होता है, अप्रामाण्य दूसरी किसी चीज़ (दूसरा ज्ञान या व्यापार) की अपेक्षा से (प्रामा-

ण्यं-स्वतः, अप्रामाण्यं परतः)। ज्ञान में विश्वास करना स्वाभाविक है और अविश्वास करना अस्वाभाविक; किसी ज्ञान में अविश्वास करने-वाले को कारण बताना चाहिए, विश्वास करनेवाले को नहीं।[1]

इस 'स्वतः प्रामाण्य' का शब्द प्रमाण से क्या संबंध है ? वैदिक वाक्यों का एक बार अर्थ जान लेने पर उनका प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये किसी 'परख' या परीक्षा की आक्षश्यकता नहीं रहती। वैदिक विधि-निषेधों का अभिप्राय समझना ही उनमें विश्वास करना है। अब पाठक समझ गये होंगे कि 'स्वतः प्रामाण्य' सिद्ध करना मीमांसा के लिये क्यों और कितना आवश्यक है। परतः प्रामाण्यवाद को मान लेने पर वेदों की विश्वसनीयता एक दम नष्ट हो जाती है। वैदिक वाक्यों की सत्यता की परख करना संभव नहीं है क्योंकि उनका संबंध परलोक से है। इसलिये या तो सारे वैदिक वाक्यों में विश्वास किया जा सकता है या अविश्वास अथवा संदेह। ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य को मान लेने पर विश्वास का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें किसी के भी वाक्य में विश्वास कर लेना चाहिए ? मीमांसा का उत्तर है, हां। किसी भी पुरुष का वाक्य प्रमाण हो सकता है यदि उस पुरुष में कोई दोष न हो। ज्ञान स्वरूपतः निर्दोष होता है, पर ज्ञान के स्रोत में दोष हो सकता है। मीमांसक इंद्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहते, प्रत्यक्ष अनुभूति को प्रत्यक्ष कहते हैं। इस का अर्थ यह हुआ कि प्रत्यक्ष प्रमाण या प्रत्यक्ष ज्ञान स्वतः निर्दोष है, परंतु उस के स्रोत (इंद्रियों) में दोष हो सकता है। इसी प्रकार शब्द ज्ञान के स्रोत पुरुष का वाक्य अप्रमाण हो जाय।

---

[1] सर्वदर्शनसंग्रह; पृ० १०६-१०७

चूंकि वेदों का कोई कर्त्ता नहीं है जिस में दोष हो सकें, इसलिये वैदिक वाक्य सर्वथा प्रमाण ही हैं।

अब हम स्वतः प्रामाण्यवाद की मुख्य युक्ति देते हैं। परतः-प्रामाण्यवाद कठिनाई में डाल देता है। 'यह पानी है' इस ज्ञान की नैयायिक व्यावहारिक परीक्षा करना चाहते हैं। पानी के अस्तित्व का ज्ञान तब ठीक है जब उससे प्यास बुझ जाय। 'मेरी प्यास बुझ गई' यह भी एक प्रकार का अनुभव या ज्ञान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहले ज्ञान की 'व्यावहारिक परख' का अर्थ उसकी दूसरे ज्ञान से परीक्षा करना है। परंतु 'मेरी प्यास बुझ गई' यह भी ज्ञान है; इसकी भी परीक्षा होनी चाहिए। इसकी 'परख' जिस ज्ञान से होगी वह भी ज्ञान ही होगा और उसकी भी परीक्षा आवश्यक होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि परतः प्रामाण्यवाद हमें अनवस्था में फँसा देता है। ज्ञान के परतः प्रामाण्य को मानकर हम कभी किसी ज्ञान की यथार्थता का निश्चय नहीं कर सकते।

शब्द प्रमाण और प्रामाण्यवाद का विवरण हम दे चुके। अनुमान प्रमाण की व्याख्या में कोई विशेषता नहीं है। किंतु मीमांसा में उपमान की व्याख्या न्याय से भिन्न है।

उपमान

प्रभाकर के अनुसार उपमान की व्याख्या इस प्रकार है। सादृश्य से भी अनुपस्थित पदार्थ का ज्ञान होता है। एक ऐसा व्यक्ति जो गाय को जानता है गवय को देखता है। तब उसे सादृश्य के कारण 'गवय के तुल्य गाय है' ऐसा ज्ञान होता है। इस प्रकार अनुपस्थित गाय का ज्ञान उत्पन्न होता है।[1] यह कहना ग़लत है कि गाय का स्मरण होता है। ज्ञान का विषय सादृश्य होता है, अदृष्ट गाय से इस सादृश्य का

---

[1] दे० झा; पूर्वमीमांसा इन् इट्स सोर्सेज़, पृ० १५४

संबंध जोड़ दिया जाता है। गाय में गवय के सादृश्य का ज्ञान होता है। विषय (गाय) आँखों के सामने नहीं है, अतः यह ज्ञान प्रत्यक्ष से भिन्न है। यह ज्ञान स्मरण भी नहीं क्योंकि गाय और गवय साथ नहीं देखे गये थे। अतः उनके सादृश्य का पहले ज्ञान नहीं हुआ था—और स्मरण पहले ज्ञान का होता है। व्याप्ति-ज्ञान पर निर्भर न करने के कारण यह अनुमान भी नहीं है। अतः उपमान स्वतंत्र प्रमाण है।

कुमारिल की व्याख्या इस प्रकार है। गो का ज्ञाता पुरुष जब जंगल में गवय को देखता है तो उसे यह ज्ञान होता है कि पहले देखी हुई गाय इस गवय के समान है। यहाँ गवय का स्मरण होता है और सादृश्य का प्रत्यक्ष; और उपमान ज्ञान द्वारा होता है कि पूर्वदृष्ट गाय गवय के समान है। यह अंतिम ज्ञान न केवल स्मृति से हो सकता है (क्योंकि स्मृति पूर्व अनुभव की होती है और सादृश्य का पूर्व अनुभव नहीं है), न प्रत्यक्ष से (क्योंकि गाय प्रत्यक्ष नहीं), अतः उपमान स्वतंत्र प्रमाण है। प्रभाकर और कुमारिल की व्याख्याओं में भेद यह है:—कुमारिल के अनुसार सादृश्य का अनुभव गाय की स्मृति को जगाता है, इससे विपरीत प्रभाकर इस स्मृति को अनावश्यक मानता है। उपमान से उत्पन्न ज्ञान (उपमिति) का विषय 'गाय का गवय से सादृश्य' है, न कि गाय। सादृश्य का प्रत्यक्ष यह उपमिति उत्पन्न करता है कि इस सादृश्य का गाय से संबंध है।

अर्थापत्ति प्रमाण[2]

'देवदत्त मोटा है' और 'देवदत्त दिन में नहीं खाता' यह दोनों ज्ञान परस्पर-विरोधी हैं। इन पर विचार करने से यह परिणाम निकलता है कि 'देवदत्त रात को खाता है।' इस तीसरे ज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं।

---

[1] सर्वदर्शनसंग्रह; पृ० १०८

[2] दासगुप्त, भाग १, पृ० ३९१-३९४

एक दूसरा उदाहरण लीजिए। 'देवदत्त' जीवित है पर 'देवदत्त घर में नहीं है' यहाँ अर्थापत्ति प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि 'देवदत्त घर के बाहर है।' प्रभाकर का मत है कि अर्थापत्ति का मूल संदेह है। देवदत्त को घर में न पाने पर उसके जीवन में ही संदेह होने लगता है। इस संदेह को दूर करने के लिये तृतीय ज्ञान अर्थात् अर्थापत्ति की कल्पना करनी पड़ती है। 'देवदत्त घर के बाहर है' इस ज्ञान से संदेह दूर हो जाता है। देवदत्त की घर से अनुपस्थिति अकेली अर्थापत्ति के लिये यथेष्ट नहीं है। देवदत्त मरा हुआ भी हो सकता है, घर में न होने का अर्थ बाहर होना ही नहीं है। घर में देवदत्त को अनुपस्थिति देखकर उसके जीवन के विषय में संशय उत्पन्न हो जाता है जिसे अर्थापत्ति से दूर किया जाता है।

अर्थापत्ति का अनुमान में अंतर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि यह ज्ञान व्याप्ति के बिना होता है। केवल-व्यतिरेकी अनुमान को दोनों मतों के मीमांसक नहीं मानते। व्यतिरेक व्याप्ति आदरणीय नहीं है।

कुमारिल ने अर्थापत्ति की व्याख्या दूसरी तरह की है। वास्तव में प्रभाकर की व्याख्या दोषपूर्ण है। जिस दशा में संशय उत्पन्न होता है उसी दशा में फिर दूर कैसे हो जाता है? आदि से अंत तक दो ही निश्चित ज्ञान रहते हैं, देवदत्त का जीवित रहना और उनका घर में न होना। देवदत्त के जीवित होने में संदेह कभी नहीं होता और यदि ऐसा संदेह होता है तो उसके दूर होने का कोई कारण नहीं दीखता। वास्तव में देवदत्त के जीवित होने और घर में न होने के दोनों ज्ञानों में संशय नहीं होता। लेकिन इन दोनों असंदिग्ध ज्ञानों में विरोध है। इस विरोध को दूर करने के लिये बुद्धि प्रयत्न करती है जिसके परिणाम स्वरूप अर्थापत्ति का उदय होता है। एक ही परिस्थितियों में संदेह की

उत्पत्ति और नाश दोनों मानना असंगत है; यही प्रभाकर की व्याख्या में दोष है।

प्रभाकर इस प्रमाण को नहीं मानता। कुमारिल का मत है कि घट

अभाव या अनुपलब्धि प्रमाण

के अभाव का प्रत्यक्ष एक अलग प्रमाण से होता है जिसे अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। घटाभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, क्योंकि इंद्रिय-संनिकर्ष का अभाव है। अनुमान और अर्थापत्ति से भी 'भूतल में घट नहीं है' यह ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये अभाव का ग्रहण करने वाला अलग प्रमाण मानना चाहिये। अनुपलब्धि का अर्थ है 'उपलब्धि' या 'ग्रहण' का अभाव। प्रभाकर के अनुयायी अभाव-पदार्थ को नहीं मानते, इसलिये उनकी दृष्टि में अनुपलब्धि-प्रमाण भी निरर्थक है।

प्रमाणों का वर्णन हो चुका, अब प्रमेयों का वर्णन होना चाहिए। यहां भी प्रभाकर और कुमारिल में मतभेद है। मीमांसकों का प्रमेय-विभाग न्याय-वैशेषिक से बहुत मिलता है।

न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग की तरह मीमांसक भी यथार्थवादी हैं; वे बाह्य जगत् की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास रखते हैं। संसार मनोमय या कल्पना-प्रसूत नहीं है। कुमारिल ने विज्ञानवादियों का तीव्र खंडन किया है। जगत् की स्वतंत्र सत्ता माने बिना कोई व्यवहार नहीं चल सकता। गुरु-शिष्य-संबंध, अच्छे-बुरे का व्यवहार आदि बाह्य जगत् की अपनी सत्ता माने बिना नहीं हो सकते। विज्ञानवादी स्वप्न-पदार्थों का उदाहरण देते हैं। परंतु स्वप्न-पदार्थों का मिथ्यापन जाग्रतकाल के पदार्थों की अपेक्षा से है। यदि जाग्रत जगत् भी झूठा है तो स्वप्न के पदार्थों को झूठा कहना भी नहीं बन सकता और विज्ञानवाद का मुख्य तर्क व्यर्थ हो जाता है। कुमारिल ने यह दिखाने की बहुत कोशिश की है कि कोई विज्ञान अपने को नहीं जान सकता, न दूसरा विज्ञान ही एक विज्ञान को

जान सकता है।[1] विज्ञान से पदार्थ का बोध होता है: विज्ञान स्वयं अनुमेय है। पदार्थ को बता चुकने के बाद विज्ञान स्वयं ज्ञान का विषय बन सकता है; इस संभावना पर कुमारिल ने विचार नहीं किया। अंत-र्दर्शन या मानसिक अवस्थाओं के प्रत्यक्ष को कुमारिल ने नहीं माना। अपने 'लॉजिक' के अंतिम अध्याय में प्रसिद्ध तर्कशास्त्री बर्नार्ड बोसाँके ने कुमारिल के इस मत की पुष्टि की है कि सब मानसिक अवस्थाएं भौतिक पदार्थों-(या शारीरिक दशाओं) की ओर इंगित करती हैं। प्रत्येक मान-सिक दशा का विषय होता है। निर्विषयक विज्ञान संभव नहीं हैं।

पदार्थ विभाग[2]

प्रभाकर के मत में इतने पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, पारतंत्र्य या समवाय, शक्ति, सादृश्य और संख्या। अंधकार अलग द्रव्य नहीं है; प्रकाश की अनुप-स्थिति ही अंधकार है। प्रभाकर अभाव और विशेष को पदार्थ नहीं मानता।

कुमारिल के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव यह पाँच पदार्थ हैं। अभाव चार प्रकार का है। 'विशेष' पदार्थ नहीं है। अंधकार और शब्द द्रव्य हैं; इस प्रकार द्रव्यों की संख्या 'ग्यारह' है। समवाय भी अलग पदार्थ नहीं है।

आत्मा

वैदिक विधि-वाक्य अपना पालन करनेवालों को स्वर्ग की आशा दिलाते हैं। यदि आत्मा अनित्य हो तो यह वाक्य निरर्थक हो जाँय। 'यज्ञों का करनेवाला स्वर्ग को जाता है' इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि यज्ञ-कर्त्ता मृत्यु के बाद नष्ट नहीं हो जाता। आत्मा अमर है। आत्म-सत्ता की सिद्धि के लिये

---

[1] देखिये, कीथ, कर्म-मीमांसा पृ० ४६-५०।

[2] प्रभाकर स्कूल, पृ० ८८

जैमिनि ने विशेष प्रयत्न नहीं किया है; वे यह विषय उत्तर-मीमांसा का समझते हैं। उपवर्ष जिन्होंने दोनों मीमांसाओं पर वृत्ति लिखी है, कहते हैं कि आत्म-सत्ता उत्तर-मीमांसा में सिद्ध की जायगी। प्राचीन काल में दोनों मीमांसाएं मिलकर एक दर्शन कहलाता था जिसमें कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनों का पूरा विवेचन है।

आत्मा शरीर, इंद्रियां और बुद्धि इन सब से भिन्न है। निद्रावस्था में बुद्धि की अनुपस्थिति में भी आत्मा मौजूद होता है। इंद्रियों के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता। शरीर जड़ है और ज्ञान का आधार नहीं हो सकता। स्मृति भी आत्मा की सत्ता सिद्ध करती है। ज्ञान एक प्रकार की क्रिया है जो आत्म-द्रव्य में रहती या होती है। आत्मा में परिवर्तन या व्यापार होता है, इससे उसकी नित्यता में कोई भेद नहीं पड़ता। आत्मा को विज्ञानों का समूह मानने से काम नहीं चल सकता। यदि कर्म-सिद्धांत में कोई सत्यता है तो एक स्थिर आत्मा मानना चाहिए जिसका पुनर्जन्म होता है। बौद्ध-मत में कर्म-विपाक और पुनर्जन्म दोनों ही नहीं बन सकते। आत्मा को व्यापक मानना चाहिए। यदि आत्मा अणु हो तो शरीर से भिन्न-भिन्न भागों में होने वाले परिवर्तनों को न जान सके। मध्यम परिमाण मानने पर आत्मा अनित्य हो जायगा। इसलिये आत्मा को विभु या व्यापक मानना ही ठीक है।[1]

आत्मा अनेक है। शरीर की क्रियाओं से आत्मा का अनुमान होता है। प्रत्येक शरीर की क्रियायें अलग हैं। प्रत्येक व्यक्ति का धर्म-अधर्म या अपूर्व, स्मृति और अनुभव दूसरों से पृथक् है, इसलिये अनेक आत्माएं माननी चाहिए।

प्रभाकर के मत में आत्मा जड़ है जिसमें ज्ञान, सुख, दुःख आदि

[1] शास्त्र दीपिका पृ० ११६-१२४

गुण उत्पन्न होते रहते हैं। आत्मा का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। आत्मा स्वयंप्रकाश नहीं है, अन्यथा सुषुप्ति में भी आत्मानुभूति बनी रहे। स्वप्रकाश संवित् (ज्ञान) विषय और आत्मा दोनों को प्रकाशित करती है। आत्मा हमेशा ज्ञान के गृहीता के रूप में प्रकट होता है ग्राह्य विषय या ज्ञेय के रूप में कभी नहीं। आत्मा न बाह्य प्रत्यक्ष का विषय है न मानस प्रत्यक्ष का। अचेतन होने पर भी आत्मा कर्त्ता और भोक्ता है; वह शरीर से भिन्न और व्यापक है। व्यापक होने पर भी आत्मा दूसरे शरीर के व्यापारों को नहीं जान सकता; जो शरीर उसके अपने कर्मों ने उत्पन्न किया है उसी को वह जान सकता है।

पार्थ सारथि मिश्र का कथन है कि आत्मा को ग्राह्य और गृहीता-ज्ञेय और ज्ञाता मानने में कोई दोष नहीं है। प्रभाकर के यह कहने का कि संवित् आत्मा को प्रकाशित करती है, यही अर्थ हो सकता है कि आत्मा संवित् का ज्ञेय या विषय हो जाता है। स्मृति-ज्ञान में आत्मा को अपनी प्रत्यभिज्ञा पहचान होती है। इस प्रत्यभिज्ञा का विषय यदि आत्मा को न माना जाय तो प्रत्यभिज्ञा निर्विषयक हो जाय। परंतु कोई ज्ञान निर्विषयक नहीं हो सकता। आत्मानुभूति का विषय आत्मा होता है; आत्मा का मानस-प्रत्यक्ष संभव है।

कुमारिल के मत में प्रत्येक ज्ञान-व्यापार में आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं होती, जैसा कि प्रभाकर के अनुयायी समझते हैं। विषय की अनुभूति के साथ कभी आत्मानुभूति होती है, कभी नहीं। चेतन के जीवन में आत्मानुभूति विषयानुभूति से ऊँचे दर्जे की चीज़ है। आत्म-प्रत्यक्ष और विषय-प्रत्यक्ष एक ही बात नहीं है। प्रभाकर आत्मा और संवित् को अलग-अलग मानता है; उसके मत में आत्मा जड़ है और संवित् प्रकाशरूप। भट्ट मतवालों को यह सिद्धांत मान्य नहीं है। ज्ञान आत्मा

का ही परिणाम, पर्याय है। यदि आत्मा अचेतन है तो उसका परिणाम स्वप्रकाश नहीं हो सकता। परंतु कुमारिल ने भी आत्मा में एक 'अचिदंश' या जड़ भाग माना है जो आत्म-प्रत्यक्ष का विषय होता है। वास्तव में यह मत ठीक नहीं; आत्मा ज्ञान का विषय होता है इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा में एक 'जड़' अंश भी मानना चाहिए। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि न्याय-वैशेषिक और प्रभाकर की अपेक्षा कुमारिल की आत्मा विषयक धारणा अधिक उन्नत है। वह वेदांत के अधिक समीप भी है।

ईश्वर[1]

पूर्व-मीमांसा में बहुत से देवताओं की कल्पना की गई है जिनके लिये यज्ञ किये जाते हैं। मीमांसकों ने इस से आगे जाने की आवश्यकता नहीं समझी। धर्म के संचय के लिये ईश्वर की ज़रूरत नहीं है। जैमिनि ने कहीं ईश्वर की सत्ता से स्पष्ट इनकार नहीं किया है। उन्होंने ईश्वर-पदार्थ की उपेक्षा की है। वेदों में जहां ईश्वर की स्तुति की गई है वह वास्तव में यज्ञों के अनुष्ठाता की प्रशंसा है। यज्ञ-कर्त्ताओं को तरह-तरह के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। मीमांसक सृष्टि और प्रलय नहीं मानते। काल की किसी विशेष लंबाई बीत जाने पर प्रलय और फिर सृष्टि होती है, इस सिद्धांत को मीमांसकों ने साहस-पूर्वक ठुकरा दिया।[2] और सब आस्तिक-दर्शन सृष्टि और प्रलय मानते हैं। जब सृष्टि का आदि ही नहीं है तो सृष्टिकर्त्ता की कल्पना भी अनावश्यक है। कुमारिल का निश्चित मत है कि बिना उद्देश्य के प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जगत् को बनाने में ईश्वर का क्या प्रयोजन हो सकता है? उद्देश्य और प्रयोजन अपूर्णता के चिन्ह हैं,

---

[1] कीथ, वही, अध्याय ४।

[2] वही, पृ० ६०।

उद्देश्य वाला ईश्वर अपूर्ण हो जायगा। धर्म और अधर्म के नियमन के लिये भी ईश्वर आवश्यक नहीं है। यज्ञकर्त्ता को फल प्राप्ति 'अपूर्व' कराता है। शरीर न होना भी ईश्वर के कर्त्तव्य में बाधक है। संसार की दुःखमयता भी ईश्वर के विरुद्ध साक्षी देती है।

बाद के मीमांसकों में ईश्वर-विश्वास प्रकट होने लगता है। शायद अन्य दर्शनों के प्रभाव से मीमांसा के अनुयायियों में आस्तिकता (ईश्वर-विश्वास) का उदय हुआ। साथ ही देवताओं की अलग सत्ता में विश्वास घटने लगा। देवताओं की महिमा कम हो गई; देवताओं का महत्त्वपूर्ण स्थान मंत्रों ने ले लिया। भगवद्गीता का प्रभाव भी कम नहीं पड़ा। आपदेव और लौगाक्षिभास्कर लिखते हैं कि यदि यज्ञादि कर्म भगवान् के लिये किये जायँ तो अधिक फल मिलता है। यज्ञ कर्म ईश्वर (गोविंद) के लिये करने चाहिए। वेंकटेश ने 'सेश्वर मीमांसा' नामक ग्रंथ लिखा। इस प्रकार सेश्वर सांख्य की तरह सेश्वर मीमांसा का भी संप्रदाय बन गया।

व्यवहार-दर्शन

मीमांसा-शास्त्र का स्वरूप आरंभ में व्यावहारिक था; दार्शनिक समस्याओं का प्रवेश उसके बाद को हुआ। मोक्ष का आदर्श भी जैमिनि और शबर के सामने उपस्थित न था। आरंभिक मीमांसक धम अर्थ और काम को 'त्रिवर्ग' कहते थे, उन्हें मोक्ष में रूचि न थी। 'अर्थ' और 'काम' की प्राप्ति मनुष्य के व्यावहारिक ज्ञान और कुशलता पर निर्भर है, परंतु 'धर्म' को जानने के लिये वेदों के अतिरिक्त दूसरा आधार नहीं है। धर्म किसे कहते हैं इसके उत्तर में जैमिनि का सूत्र है:—

चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः।१।१।२

धर्मपदार्थ का लक्षण चोदना अर्थात् प्रेरणा है। श्रुति के वाक्य जो

कुछ 'करने का' आदेश देते हैं वही 'धर्म' है। कुछ करने का आदेश करने वाले वाक्यों को 'विधि वाक्य' या केवल 'विधि' कहते हैं। जो वाक्य कुछ 'न करने का' उपदेश देते हैं वे 'निषेध वाक्य' कहलाते हैं। 'स्वर्ग का इच्छुक यज्ञ करे' यह विधि 'ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए' यह निषेध-वाक्य है। अनुष्ठान-विशेषों की स्तुति करनेवाले वाक्यों को 'अर्थ-वाद' कहते हैं। अनुष्ठान न करने और करने से क्या हानि-लाभ होगा इसे (ऐतिहासिक उदाहरणों सहित) बतलाने वाले वाक्य 'अर्थवाद' हैं। कभी-कभी अर्थवाद-वाक्य लोक विख्यात बातें भी कह देते हैं जैसे अग्नि जाड़े की दवा है (। अग्निर्हिमस्य भेषजम्)। कहीं-कहीं वस्तुओं में लोक-विरुद्ध गुणों का आरोपण भी अर्थवाद करता है जैसे, (आदित्यो यूपः) खंभा सूर्य है।[1] मीमांसकों का निश्चित मत है कि वेदों (मंत्र और ब्रह्मण भाग) का तात्पर्य क्रिया में है।

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ।१।२।१

अर्थात् वेद क्रियार्थक हैं; जो क्रियार्थक नहीं वह निरर्थक हैं। शास्त्र का लक्षण ही यह है कि प्रवृत्ति या निवृत्ति का उपदेश करे। वेदों का अभिप्राय मनुष्यों को उनके कर्त्तव्यों की शिक्षा देना या धर्मोपदेश है। इसलिए श्रुति से यह आशा नहीं रखनी चाहिए कि वह आत्मा और परमात्मा का स्वरूप समझाये। आत्मा क्या है? इसका उत्तर देना श्रुति का काम नहीं है; आत्मा को लेकर क्या करना चाहिए, यह श्रुति का विषय हो सकता है। इसीलिए लिखा है—आत्मा वै अरे श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः, अर्थात् आत्मा के विषय में सुनना चाहिए, उसी का मनन और उपासना करनी चाहिए। वेदांत का मत है कि श्रुति आत्म-स्वरूप का बोध कराती है। मीमांसकों की संमति में यह वेदांतियों का

---

[1] कीथ, वही, पृ० ८०

भ्रम है। वेदांत का विचार है कि श्रुति अंत में कर्म-त्याग का उपदेश देती है, मीमांसकों के अनुसार श्रुति का तात्पर्य प्रवृति के रास्ते बतलाना है।

धर्म के ठीक स्वरूप के विषय में प्रभाकर और कुमारिल में मतभेद है।[1] कुमारिल के अनुसार धर्म और अधर्म क्रियाओं के नाम हैं। याज्ञिक अनुष्ठान धर्म हैं और हिंसादि कर्म अधर्म। प्रभाकर के मत में धर्म और अधर्म क्रियाओं के फल को कहना चाहिए। कुमारिल का मत न्याय-वैशेषिक के अनुकूल है। प्रभाकर के धर्म-अधर्म दूसरे दर्शनों के पुण्य पाप के समानार्थक हैं। धर्म और अधर्म दोनो को मिलाकर प्रभाकर 'अपूर्व' कहता है। अपूर्व का ज्ञान श्रुति के अतिरिक्त कहीं से नहीं हो सकता, वह 'मानान्तरापूर्व' है। धर्म और अधर्म आत्मा में ही समवाय-संबंध द्वारा रहते हैं।

कुमारिल के अनुसार अपूर्व एक प्रकार की शक्ति है जो यज्ञादि अनुष्ठान करनेवालों में उत्पन्न हो जाती है। अपूर्व का अस्तित्व अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है। किये हुये कर्मों का फल अवश्य मिलना चाहिए, पर हम देखते हैं कि यज्ञादि कर्म तुरंत फल किये बिना समाप्त हो जाते हैं। इन दोनों ज्ञानों का विरोध मिटाने के लिए 'अपूर्व' की कल्पना आवश्यक है। कोई भी यज्ञ कर्म अपने कर्त्ता में एक शक्ति उत्पन्न कर देता है जो कालांतर में उसे फल देती है।

वैदिक विधि का श्रवण करके मनुष्य उसके अनुष्ठान में क्यों प्रवृत्त हो जाता है? याज्ञिक विधानों में प्रवृत्ति का कारण क्या होता है? यहां भी प्रभाकर और कुमारिल में मतभेद है। पहले हम कुमारिल का मत सुनाते हैं।

---

[1] हिरियन्ना, पृ० ३२७-२८

कुमारिल का एक 'मॉटो' है जिसका उसने ईश्वर के विरुद्ध भी प्रयोग किया है, वह यह है कि :—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्त्तते

प्रयोजन के बिना मंदबुद्धि भी किसी काम में नहीं लग जाता। इसका आशय यही है कि प्रत्येक कार्य उद्देश्य को लेकर किया जाता है। प्रवृत्ति का मूल कारण सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति की चाह है। प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है, आनंद की कामना करता है और दुःख से बचना चाहता है। स्वर्ग की इच्छा सुख की अभिलाषा है और नरक से बचने की इच्छा दुःख-निवृत्ति की कामना है। लोग वैदिक विधियों का पालन भी सुख-प्राप्ति के लिये करते हैं। वैदिकविधि-वाक्य अनुष्ठान के आदेश के साथ ही उनसे मिलने वाले फल का भी ज़िक्र कर देते हैं, इसीलिए लोग उनकी ओर आकर्षित होते हैं। 'इस अनुष्ठान से हमें लाभ होगा' यह 'इष्ट-साधनता-ज्ञान' ही कर्म-प्रवृत्ति का कारण है।

प्रभाकर का मत इससे भिन्न है। मनुष्य इतना स्वार्थी नही है, जितना कि कुमारिल के अनुयायी उसे बताते हैं। वैदिक आदेशों का पालन लोग इसलिए करते हैं कि वे वैदिक आदेश हैं। वेद मुझे ऐसा करने को कहते हैं, इसलिए यह मेरा कर्तव्य है, यह ज्ञान ही कर्म करने की प्रेरणा करता है। कर्म-प्रवृत्ति का हेतु या कारण 'कार्यता-ज्ञान, या कर्तव्यताबोध' हैं न कि 'इष्ट-साधनता-ज्ञान'। अनुष्ठान की कर्तव्यता का निश्चय ही उसे करने की उत्तेजना देता है। अपने आदेशों का पालन करने के लिये वेद इतने निःसहाय नहीं हैं, उन्हें 'सुखेच्छा' आदि वाह्य सहायक अपेक्षित नहीं हैं। वेद वाक्य के लिए आदर ही वैदिक यज्ञ-विधानों को अनुष्ठित

कराता है।[1] यह मत जर्मन दार्शनिक 'कॉण्ट' के सिद्धांत से समानता रखता है। कॉण्ट का कैटेगॉरिकल इम्परेटिव प्रभा का 'बिधिवाक्य' है। भेद इतना ही है कि कांट का 'आदेशवाक्य' अंतरात्मा की आवाज़ है और प्रभाकर का 'बिधिवाक्य' वेदों का आदेश है। अतः कांट का सिद्धांत अधिक सार्वभौम है।

प्रभाकर के अनुसार अनुष्ठान की पूर्ण प्रक्रिया इस प्रकार है। वैदिक आदेश की उपस्थिति में पहले कार्यता-ज्ञान उत्पन्न होता है; फिर चिकीर्षा या करने की इच्छा का प्रादुर्भाव होता है। चिकीर्षा के साथ ही 'यह अनुष्ठान साध्य या संभव है' यह—कृति-साध्यता-ज्ञान या—भावना भी रहती है, उसके बाद प्रवृत्ति या संकल्प होता है, फिर चेष्टा और अंत में क्रिया 'इस विधान से मुझे लाभ होगा' इस—इष्ट-साधनता-ज्ञान, का गौण स्थान है। मुख्य प्रेरक कार्यता-ज्ञान है। परंतु हर एक विधि हर एक व्यक्ति को अपने पालन में नहीं लगा लेती, इसका क्या कारण है? क्या वजह है कि कुछ लोग पुत्रेष्टि यज्ञ करने लगते हैं और कुछ अग्निष्टोम का अनुष्ठान? उत्तर यह है कि वैदिक बिधियां बीजों के समान हैं जो अंकुरित होने के लिये उपयुक्त भूमि ढूंढ़ती हैं। यही कारण है कि सब विधि-वाक्य सब को आकर्षित नहीं करते। विभिन्न विधि-वाक्यों के नियोज्य अलग-अलग व्यक्ति या व्यक्ति-समूह होते हैं। इस प्रकार भी प्रभाकर की 'विधि' कॉण्ट के कैटेगारिकल इंपरेटिव से कम सार्वभौम है। कॉण्ट का नैतिक आदेश सब मनुष्यों को सदा और सर्वत्र लागू होता है।

---

[1]—हिरियन्ना, पृ० ३२६

कर्म-विभाग

मनुष्य के सारे कर्मों को मीमांसा ने तीन श्रेणियों में बाटा है, काम्य, निषिद्ध और नित्य। जो कर्म किसी इच्छा की पूर्ति के लिये किसी मनोकामना की सिद्धि के लिये, किये जाते हैं वे 'काम्य कर्म' हैं। पुत्र या ऐश्वर्य या स्वर्ग की प्राप्ति के अर्थ जो यज्ञानुष्ठान किया जाय वह काम्यकर्म कहलायगा। जिन कामों के करने से वेद रोकता है वे निषिद्ध या 'प्रतिषिद्ध कर्म' कहलाते हैं। नित्य कर्म वे हैं जिनका करना प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक ही है, चाहे उसमें कोई कामना या अभिलाषा हो या नहीं। नित्य कर्म मीमांसा के 'सार्वभौम महाव्रत' हैं। दो काल संध्या करना, वर्णाश्रम धर्म आदि नित्य कर्मों में सम्मिलित हैं। नित्य कर्मों का फल क्या मिलता है? भट्ट (कुमारिल के) मत में नित्य कर्म भी फलाभिलाषा के साथ किये जाते हैं। नित्य-कर्मों से अतीत और आगामि-दोष नष्ट होते हैं। इस प्रकार दुरित-क्षय और प्रत्यवायों (विघ्नों या भावी पापों) से बचाव—यह दो फल नित्य कर्मों के हैं। नित्य कर्म न करने से मनुष्य दोषों में फँसता है। नित्यकर्मों का कोई भावात्मक फल नहीं होता, फिर भी वे निरुद्देश्य नहीं हैं। प्रभाकर और कुमारिल दोनों के मत में काम्य कर्मों की तरह विशिष्ट फल देनेवाले न होने पर भी नित्य-कर्म सदैव कर्तव्य हैं। प्रभाकर के अनुसार नित्य-कर्म काम्य कर्मों से श्रेष्ठ हैं। 'कर्तव्य कर्तव्य के लिये' की शिक्षा प्रभाकर में वर्त्तमान है। भाट्ट-मत में नित्य-कर्मों की इतनी प्रतिष्ठा नहीं है; नित्य-कर्म श्रेय-साधन में सहायक-मात्र हैं।

मोक्ष

भारतवर्ष के सब दर्शनों का सिद्धांत है कि कर्म-फल से छुटकारा पाए बिना मुक्ति नहीं हो सकती। मीमांसा भी इस सिद्धांत को मानती है। श्री सुरेश्वराचार्य ने मीमांसा की मोक्ष-प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार कहा है :—

अकुर्वतः क्रियाः काम्या निषिद्धास्त्यजतस्तथा।
नित्यं नैमित्तिकं कर्म विधिवच्चानुतिष्ठतः॥
काम्य कर्म फलं तस्माद् वादीमं न ढौकते।
निषिद्धस्य निरस्तत्त्वान्नारकीं नैत्यधोगतिम्।

(नैष्कर्म्य सिद्धि, १।१०,११)

अर्थात् काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्याग कर देने से और नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करते रहने से मुक्ति लाभ होता है। काम्य कर्मों का फल स्वर्ग-प्राप्ति आदि हैं, जिससे मोक्षार्थी को बचना चाहिए। निषिद्ध कर्मों से अधोगति मिलती है, इसलिये उन्हें भी छोड़ देना चाहिए। नित्य-नैमित्तिक कर्मों का कोई विशेष फल नहीं है, उनसे केवल दोष दूर होते हैं, इसलिए उन्हें करते रहना चाहिए। इस प्रकार जीवित रहकर प्रारब्ध कर्मों का भोग से क्षय कर देने से मोक्ष-लाभ होता है। मुक्ति के लिये ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। मुक्ति के क्षण तक भी नित्य कर्मों को नहीं त्यागना चाहिए। कर्मणा बध्यते जन्तुः—कर्म से प्राणी बंधता है—यह नियम नित्य कर्मों को लागू नहीं है। इसलिए मीमांसक संन्यास-मार्ग का समर्थन नहीं करते। ज्ञान-निरपेक्ष कर्म से भी मुक्ति मिल सकती है। यही नहीं, नित्य कर्मों का त्यागना हर दशा में दोषों में फँसानेवाला है, यह मीमांसा का निश्चित विश्वास है।

मुक्ति का स्वरूप क्या है? जब आत्मा, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि विनश्वर (आगमापायी, आनेजानेवाले, अनित्य) धर्मों से छूट जाता है; तब उसे मुक्त कहते हैं। मुक्त दशा में जीव में ज्ञानशक्ति, सत्ता, द्रव्यत्वादि अपने स्वाभाविक धर्म ही रहते हैं। मुक्तावस्था में सुख, दुःख दोनों नहीं होते। आनंद आत्मा का स्वरूप नहीं

है, इसलिए मुक्तावस्था भावात्मक आनंद की अवस्था नहीं है। आत्मा ज्ञान-स्वरूप भी नहीं है। ज्ञान बिना मन के नहीं हो सकता और मुक्तावस्था में मन का विलय हो जाता है। इसलिए मुक्ति में आत्मा-ज्ञान रहता है, यह कहना ठीक नहीं। मोक्षावस्था में आत्मा में ज्ञानशक्ति रहती है, न कि ज्ञान। यदि मोक्ष में आनंद नहीं होता तो मोक्ष पुरुषार्थ कैसे है? उत्तर यह है कि दुःख का अत्यंत नाश करना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है, यही मोक्ष है।

मीमांसा-दर्शन की रूप रेखा पूरी करने के लिए उसके दो सिद्धांतों का वर्णन करना और ज़रूरी है। इनमें से एक तो वाक्य और पदों के अर्थ के संबंध के विषय में है और दूसरा भ्रम की व्याख्या से संबद्ध है। दोनों ही समस्याओं पर प्रभाकर और कुमारिल के अलग-अलग विचार हैं।

अन्विताभिधान और अभिहितान्वय

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार जब किसी शब्द में प्रत्यय-विशेष लग जाता है तब उसे 'पद' कहते हैं। 'राम' और 'भू' शब्द हैं, सार्थक ध्वनियां हैं; इन्हें पद बनाने के लिये इन में 'सुप्' और 'तिङ्' कहलाने वाले प्रत्यय जोड़ने चाहिए। 'रामः' और 'भवति' पद हैं। वाक्य पदों का बना हुआ होता है। पद-समूह को वाक्य कहते हैं और शक्त को पद। (न्याय) प्रभाकर का मत है कि शब्दों या पदों का अर्थ वाक्य से अलग नहीं जाना जा सकता। विधि बताने वाले वाक्य में ही पदों का अर्थ होता है। यदि पद इस प्रकार वाक्य और विधि से संबद्ध न हों तो उनके अर्थ की स्मृति तो होगी परंतु किसी प्रकार की प्रमा (यथार्थ) उत्पन्न नहीं होगी। इस

सिद्धांत को 'अन्विताभिधान' कहते हैं। वाक्य में अन्वित हो जाने पर ही शब्दों का अर्थ होता है। अर्थ का मतलब 'प्रयोजन' है। [1]

कुमारिल के मत में वाक्यार्थ का बोध शब्दों के अर्थ-बोध पर निभर है। सार्थक शब्दों के मिलने से वाक्य बनता है। प्रत्येक शब्द का स्वतंत्र अर्थ होता है और शब्दों के मेल से वाक्य बनता है। इस सिद्धांत को 'अभिहितान्वय' कहते हैं। वाक्य में अन्वय होने से पहले ही शब्दों का अर्थ होता है।

प्रभाकर का मत आइडियेलिस्टिक लॉजिक के इस सिद्धांत के अनुकूल है कि भाषा की इकाई वाक्य है न कि शब्द। जहाँ एक शब्द का बोध होता प्रतीत होता है, वहाँ भी वास्तव में शब्द के पीछे वाक्य छिपा होता है। 'अरे' 'हाय' आदि शब्द एक-एक होते हुये भी पूरे वाक्यों का काम करते हैं। 'अरे' का अर्थ है, 'मैं आश्चर्य या शोक प्रकट करता हूँ।' बच्चा जब 'पानी' कहता है तो उसका मतलब होता है, 'देखो पानी है' या 'वह पानी पी रहा है' अथवा 'मैं पानी पीना चाहता हूँ' इत्यादि। अकेले शब्दों की अर्थ-प्रतीति भाषा-ज्ञान के विकास में बाद की चीज़ है।

व्याकरण और-मीमांसा दोनों के दार्शनिक मतानुसार वाक्य में क्रिया का मुख्य स्थान है (आख्यात प्रधानं-वाक्यम्)। क्रिया के साथ अन्वय होने पर ही अन्य पदों का अर्थ हो सकता है। यह सिद्धांत प्रभाकर के अधिक अनुकूल है। नैयायिकों के मत में क्रिया की ऐसी प्रधानता नहीं है। संस्कृत भाषा के अनुसार 'कांच्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः' यह भी वाक्य हो जाता है, यद्यपि इसमें क्रिया नहीं है। 'काञ्ची में तीनों लोकों

[1]—दे० प्रभाकार स्कूल, पृ० ११७ और पृ० ६२-६३

का तिलक राजा' वास्व में इस स्कृत-वाक्य में अस्ति-क्रिया छिपी हुई है। इसी प्रकार 'त्रयः कालाः' (तीनकाल), इस वाक्य को भी क्रिया-शून्य नहीं कहा जा सकता। मीमांसकों के मत में क्रिया-बोधक विधि वाक्य ही प्रमाण है; सिद्ध अर्थ (अस्तित्ववान् पदार्थ को) बताने वाला वाक्य केवल अर्थवाद है; वह अकेला प्रमाण नहीं हो सकता। विधि-वाक्य से अलग हो जाने पर अर्थवाद का कोई महत्त्व नहीं रहता है।

मिथ्या ज्ञान या भ्रम की व्याख्या; अख्याति[1]

भ्रम की समस्या पर प्रभाकर और कुमारिल के अलग-अलग विचार हैं। प्रभाकर का सिद्धांत 'अख्याति' कहलाता है और कुमारिल का 'विपरीत-ख्याति'। दोनों में 'अख्याति' अधिक प्रसिद्ध है; पहले हम उस का वर्णन करेंगे।

हम देख चुके हैं कि मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। यदि हर एक ज्ञान अपने साथ अपना प्रामाण्य लाता है तो शुक्ति में रजत का ज्ञान भी प्रमाण होना चाहिए; फिर यह ज्ञान झूठा क्यों कहा जाता है। यह मीमांसा की समस्या है। प्रभाकर का उत्तर है कि ज्ञान को मिथ्या या अप्रमाण बनाने का उत्तरदायित्व 'स्मृति' पर है। हम देख चुके हैं कि स्मृति प्रमाण नहीं है। जब इंद्रिय-प्रत्यक्ष के साथ स्मृति का अंश मिल जाता है तब मिथ्या-ज्ञान की सृष्टि होती है। शुक्ति-रजत के उदाहरण में इदमंश का ('यह') प्रत्यक्ष ग्रहण होता है और रजत-अंश का स्मरण। शुक्ति में कुछ गुण रजत के समान हैं, इसलिए शुक्ति को देखकर रजत का स्मरण होता है। यहां तक ज्ञान में कोई दोष नहीं है। ज्ञान में दोष तब आता है जब द्रष्टा प्रत्यक्ष-ज्ञान और स्मृति-ज्ञान

---

[1]—दे० रेंडिल, इंडियन लॉजिक, पृ० ६८-६९ तथा भामती, पृ० १४ (वेदांत शांकर भाष्य, अध्यास प्रकरण)

के भेद को भूल जाता है। इंद्रियादि के दोषसे प्रत्यक्ष-ज्ञान और स्मृति-ज्ञान के भेद का ग्रहण न होना ही भ्रम है। रजत-ज्ञान वास्तव में पहले का होता है, परंतु उसकी यह विशेषता—कि रजत-ग्रहण पहले हुआ है, रजत का गृहीता अंश—बुद्धि से उतर जाती है और भ्रम होता है। इसे संस्कृत में 'स्मृति-प्रमोष' कहते हैं। भ्रांति-ज्ञान में हम यह भूल जाते हैं कि 'दो' ज्ञान हैं; उन दोनों ज्ञानों के अलग-अलग विषय (शुक्ति और रजत) भी प्रतीत नहीं होते। भ्रम-ज्ञान वास्तव में एक ज्ञान नहीं होता बल्कि दो ज्ञानों का समूह होता है, जिनमें केवल एक का स्वतः प्रामाण्य है। स्मृति-ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं है। इस प्रकार प्रभाकर ने अपने मूल-सिद्धांत की रक्षा-पूर्वक भ्रम की व्याख्या करने की कोशिश की है।

आलोचना

परंतु आलोचकों को प्रभाकर की व्याख्या में भी दोष दिखाई दिये हैं। वे कहते हैं भ्रम के उक्त उदाहरण में एक बात है, जिसे अख्यातिवादी नहीं समझा सकते। वह बात यह है कि भ्रांत व्यक्ति की रजत को उठा लेने की प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति भावात्मक ज्ञान का फल है न कि ज्ञानभाव का। रजत और शुक्ति के भेद का अग्रहण (एक प्रकार का ज्ञानभाव) भ्रांत पुरुष को रजत में प्रवृत्त नहीं कर सकता। भेद का अग्रहण व्यवहार का हेतु नहीं हो सकता। रजत की उपस्थिति का भावात्मक ज्ञान ही हाथ बढ़ाने की क्रिया का कारण हो सकता है। इसलिये पहले इदं पदार्थ (शुक्ति) में रजत का आरोपण होता है, फिर उसमें प्रवृत्ति; यही मत ठीक है।[1]

---

[1]—चेतनव्यवहारस्याज्ञान-पूर्वकत्वानुपपत्तेः, आरोपज्ञानोत्पादक्रमेणैवेति। भामती, पृ० १९

कुमारिल-कृत भ्रम की व्याख्या विपरीत-ख्याति कहलाती है। श्री

विपरीतख्याति

पार्थसारथि मिश्र शास्त्रदीपिका (पृ० ५८-५९) में लिखते हैं कि प्रभाकर की अख्याति दो चंद्र दीखने की व्याख्या नहीं कर सकती। द्रष्टा जानता है कि चंद्रमा एक है, फिर भी आंख को उंगली से पीड़ित करने पर दो चंद्र दिखाई देते हैं। यहां 'द्वित्व' का ज्ञान कैसा होता है? दो चंद्रों का स्मरण नहीं है, ग्रहण भी नहीं होता क्योंकि दो चंद्रों का संनिकर्ष नहीं है। फिर द्वित्व (दो-पन) का भ्रम क्यों होता है? लेखक का अपना उत्तर यह है कि नेत्रों को दो देशों या स्थानों तथा चंद्रमा इन तीनों का संनिकर्ष प्राप्त है। भ्रम इसलिये होता है कि देशगत द्वित्व का दोषवश चंद्रमा में आरोप हो जाता है। इसी प्रकार शुक्ति में पूर्वानुभूत रजत के गुणों का आरोपण कर दिया जाता है और शुक्ति रजताकार दीखने लगती है। भ्रम का कारण शुक्ति और रजत के भेद का अग्रहण नहीं बल्कि शुक्ति का रजतरूप में ग्रहण है। भ्रांत-ज्ञान में दर्शक स्वयं कुछ करता है, एक के गुणों को दूसरे में आरोपित करता है। यह आरोपण 'दोषवश' होता है।

कुमारिल का मत वेदांत के अध्यास-वाद के अधिक समीप है, परंतु वह मीमांसा के मौलिक सिद्धांतों के अनुकूल नहीं है। विपरीत-ख्याति स्वतः प्रामाण्यवाद को ठेस पहुँचाती है। प्रभाकर का मत वर्तमान यथार्थवाद के अधिक अनुकूल है। वस्तुतः प्रभाकर के अनुसार भ्रांत-ज्ञान अधूरा ज्ञान है, अज्ञान नहीं। परंतु कुमारिल के मत में 'अज्ञान' वास्तविक है। अज्ञान की भी एक प्रकार की सत्ता है, यही मत वेदांत का भी है।

पाँचवां अध्याय

वेदांतसूत्र, योगवाशिष्ठ और गौड़पाद

वेदांत के प्रमुख आचार्यों के सिद्धांतों का वर्णन करने से पहले हम वेदांत-सूत्रों का कुछ परिचय देना आवश्यक समझते हैं। अन्य दर्शनों के प्राचीन सूत्रों की भाँति वेदांत-सूत्रों का समय भी ठीक-ठीक नहीं बतलाया जा सकता। पश्चिमी विद्वानों के अनुरोध से प्रो॰ हिरियन्ना सूत्रों का रचना-काल ४०० ई॰ समझते हैं। वेदांत-सूत्र वादरायण की कृति बतलाये जाते हैं। कुल ग्रंथ में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद; प्रत्येक पाद अधिकरणों में विभक्त है। एक अधिकरण में एक विशेष प्रश्न या समस्या पर विचार किया जाता है। वेदांत-सूत्र का उद्देश्य स्पष्ट है। उपनिषदों की शिक्षा के विषय में प्राचीन काल से मतभेद चला आता था, कुछ विद्वान् उन्हें द्वैत-परक समझते थे, कुछ अद्वैत-परक। कुछ आलोचकों का यह भी कहना था कि सब उपनिषद् एक-सी शिक्षा नहीं देते, उपनिषदों में आंतरिक मतभेद हैं और उनकी शिक्षा में संगति या सामञ्जस्य भी नहीं है। उपनिषदों में परस्पर विरोधी कथन पाये जाते हैं। इन आक्षेपों का उत्तर देने के लिये और सब उपनिषदों की एक संगत और सामञ्जस्य व्याख्या करने के लिये ही वेदांत-सूत्रों की रचना की गई। वादरायण का अनुरोध है कि सारे उपनिषद् एक ही दार्शनिक मत का प्रतिपादन करते हैं। उपनिषदों की विभिन्न उक्तियों में जो विरोध दीखता है वह वास्तविक नहीं है, वह उपनिषदों को ठीक न समझ सकने का परिणाम है। वादरायण से पहले भी ऐसे प्रयत्न किये जा चुके थे, यह वेदांत सूत्रों से ही प्रतीत होता है। वादरायण

ने काशकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि आश्मरथ्य, जैमिनि, बादरि आदि अनेक विचारकों के मत का जगह-जगह उल्लेख किया है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि वादरायण के सूत्र अन्य सब समान प्रयत्नों से श्रेष्ठ थे और श्रेष्ठ माने गए। इसी कारण उनकी रक्षा हो सकी।

इस प्रकार पाठक समझ सकते हैं कि वादारायण के सूत्र मीमांसा-सूत्रों के समान तथा अन्य दर्शनों के सूत्रों से भिन्न हैं। जैमिनि और वादरायण श्रुति के व्याख्याता-मात्र हैं; वे मौलिक विचारक होने का दावा नहीं करते। न्याय, वैशेषिक, योग और सांख्य का अपना मत है जिसकी पुष्टि वे श्रुति से कुछ प्रमाण देकर कर लेते हैं। इन दर्शनों के आचार्य यह दिखला कर संतुष्ट हो जाते हैं कि उनका मत श्रुति का विरोधी नहीं है। परंतु दोनों मीमांसाओं का श्रुति से ज्यादा घनिष्ट संबंध है, श्रुति का मत ही उनका मत है और श्रुति की संगत व्याख्या कर देना ही उनका कार्य है। पूर्व मीमांसा वेद के उस भाग की व्याख्या करती है जिसे 'कर्मकाण्ड' कहते हैं; 'ज्ञान-काण्ड' की व्याख्या उत्तर-मीमांसा का काम है। इस प्रकार दोनों मीमांसाओं को एक दूसरे का पूरक कहा जा सकता है। श्री उपवर्ष ने दोनों पर वृत्ति लिखी, ऐसा कहा जाता है। फिर भी दोनों मीमांसाओं में कुछ विरोध था जो उनके अनुयायियों के हाथों में और भी बढ़ गया। इस समय मीमांसा से मतलब पूर्व-मीमांसा का समझा जाता है और उत्तर मीमांसा का नाम वेदांत पड़ गया है। दोनों के वर्त्तमान दार्शनिक सिद्धांतों में विशेष समता नहीं है।

वेदांत-सूत्रों के रचयिता वादरायण ने उपनिषदों को किस प्रकार समझा था अथवा उनका दार्शनिक मत क्या था, यह विवादास्पद है। काल-क्रम से उपनिषदों की तरह वेदांत-सूत्र भी अनेक व्याख्याओं के शिकार बन गए। भारतीय दर्शन में वेदांत का अर्थ 'उपनिषद्, वेदांत-सूत्र और भगवद्गीता द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत, समझा जाता है। इन तीनों को

मिलाकर 'प्रस्थानत्रयी', कहते हैं। विभिन्न आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे हैं और उसकी विभिन्न व्याख्याएं की हैं। यह सब व्याख्याएं 'वेदांत' कहलाती हैं, यद्यपि उनमें गम्भीर मतभेद हैं। मानवी बुद्धि सब प्रकार के बंधनों का तिरस्कार करके अपनी स्वतंत्रता की किस प्रकार रक्षा करती है, यह वेदांत के विभिन्न स्कूलों या संप्रदायों को देख कर स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक आचार्य ने सूत्रों, उपनिषदों और गीता का अर्थ अपने-अपने दार्शनिक सिद्धांत के अनुकूल कर डाला है। इस प्रकार वेदांत के अंतर्गत ही द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत आदि संप्रदाय पाए जाते हैं। परंतु व्यवहार में 'वेदांत' शब्द का प्रयोग शांकर-वेदांत या अद्वैत-वेदांत के लिए होता है। वेदांत-सूत्रों की तरह शंकराचार्य के ब्रह्म-सूत्र-भाष्य की भी अनेक व्याख्याएं हो गईं और अद्वैत-वेदांत के अंतर्गत ही कई संप्रदाय चल पड़े। इस वर्णन से भारतीय मस्तिष्क की उर्वरा-शक्ति का कुछ अनुमान हो सकता है। दार्शनिक मतों की विविधता भारतीयों के दर्शन-प्रेम और दार्शनिक अभिरुचि की द्योतक है।

वेदांत-सूत्र या ब्रह्मसूत्र पर श्री शंकराचार्य का 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' और श्री रामानुजाचार्य का 'श्रीभाष्य', सब से प्रसिद्ध हैं। इन के अतिरिक्त श्री बल्भाचार्य, श्री निंबार्काचार्य, श्री माध्वाचार्य के भाष्य भी महत्वपूर्ण हैं। भास्कर, यादव प्रकाश, केशव, नीलकण्ठ बलदेव, विज्ञान-भिक्षु, आदि ने भी सूत्रों पर टीकाएं कीं जो प्रसिद्ध न हो सकीं। द्रामिड़, टंक भारुचि, भातृप्रपञ्च, कार्दी, ब्रह्मानन्द, गुरुदेव आदि ने भी सूत्रों पर व्याख्यायें लिखीं, ऐसा कहा जाता है। इनमें कोई भी उपलब्ध नहीं है। टीकाओं और टीकाकारों की संख्या से वेदांत-सूत्रों की प्रसिद्धि और आद-रणीयता का अनुमान किया जा सकता है।

बिना भाष्यों की सहायता के सूत्रों का अर्थ लगाना असंभव ही है। कौन अधिकरण या सूत्र किस श्रुति या ।। की ओर संकेत करता है, इस

का निर्णय भी हमारे लिये संभव नहीं है। ऐसी दशा में यह निश्चय करना कि सूत्रकार का मत क्या है, बहुत कठिन काम है। थिबो नामक विद्वान् का मत है कि सूत्रों के दार्शनिक सिद्धांत शंकर की अपेक्षा रामानुज के अधिक अनुकूल हैं, परंतु उपनिषदों की शिक्षा शंकर के अधिक अनुकूल है। इसका अर्थ यह हुआ कि वादरायण की अपेक्षा शंकर ने उपनिषदों को ज्यादा ठीक समझा है। 'वादरायण उपनिषदों को नहीं समझते थे' यह मानने को हिंदू-हृदय कठिनता से तैयार हो सकेगा। वास्तव में यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि सूत्र रामानुज-मत का ही प्रतिपादन करते हैं। कुछ सूत्र रामानुज के अनुकूल जान पड़ते हैं तो कुछ शंकराचार्य के। यदि शंकर ने उपनिषदों की ठीक व्याख्या की है और यदि यह मान लिया जाय कि वादरायण उपनिषदों का रहस्य समझते थे, तो यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि शंकर की व्याख्या ही सूत्रों की वास्तविक व्याख्या है। अब हम पाठकों को ब्रह्मसूत्र या वेदांत के वर्ण्य विषय का कुछ परिचय देने की कोशिश करेंगे।

पहला अध्याय

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ।१।१।१

अब ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।

जन्माद्यस्य यत, ।१।१।२

जिस ब्रह्म से इस जगत् का जन्म, स्थिति और भंग (नाश या प्रलय) होता है।

ब्रह्म की यह परिभाषा सप्रपंच या सगुण ब्रह्म में घटती है, जिसे वेदांत की परिभाषा में 'ईश्वर' या 'अपर ब्रह्म' या 'कार्य ब्रह्म' कहते हैं और जो शुद्ध ब्रह्म से नीची श्रेणी का पदार्थ है। रामानुज इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि जिनके मन में निर्विशेष या निर्गुण ब्रह्म

जिज्ञास्य हैं उनके मत में यह सूत्र नहीं घटता क्योंकि निर्गुण या निष्प्रपंच ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति आदि नहीं हो सकती। थिबो का भी विचार है कि सूत्रों का उपक्रम (आरंभ) शंकराचार्य के विरुद्ध है। अद्वैत वादियों का उत्तर है कि यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है, स्वरूप-लक्षण नहीं है। ब्रह्म सत्, चित और आनंद है यह स्वरूप-लक्षण हुआ।

शास्त्र योनित्वात्। तत्तु समन्वयात्। १।१।३,४

ऋग्वेदादि शास्त्रों का कर्त्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही हो सकता है। ब्रह्म जगत् का कारण है, इस विषय में श्रुतियों का एक मत है।

ईक्षतेर्नाशब्दम्

श्रुति में—तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेतयेति—ईक्षण शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ है 'उसने देखा या सोचा।' इस क्रिया का प्रयोग जड़ प्रकृति के साथ नहीं हो सकता, इसलिए चेतन ब्रह्म हो जगत् का कारण है। 'आत्मा, शब्द का प्रयोग भी है यह छठवां सूत्र बतलाता है।

आनंदमयोऽभ्यासात्। १।१।१२

ब्रह्म आनंदमय है, क्योंकि श्रुति बारा बार ऐसा कहती है। 'आनंदमय' में 'मय प्रत्यक्ष' विकार के अर्थ में नही, प्राचुर्य के अर्थ में है। ब्रह्म में आनंद की प्रचुरता है। श्रुति में आनंदमय ब्रह्म के लिए आया है न कि जीव के लिए। ब्रह्म के आनंद से ही जीव आनंद होता है।

शेष अध्याय में यह बतलाया गया है कि उपनिषदों के विभिन्न स्थानों में ब्रह्म को विभिन्न नाम दिए गए हैं। सूत्र में हिरण्यमय पुरुष ब्रह्म ही है। आकाश, प्राण, ज्योति, अत्ता और वैश्वानर ब्रह्म के ही नाम हैं। ब्रह्म द्युलोक और भूलोक आदि का आयतन (घर) या आधार है। भूमा, अक्षर और दहराकाश भी ब्रह्म ही है। सूर्य, चंद्रमा, नक्षत्र सब ब्रह्म की ज्योति से प्रकाशित हैं। जिन श्रुतियों में संख्या वाले प्रकृति का वर्णन देखते हैं, उनका वास्तव में दूसरा ही अर्थ है। श्रुति का सृष्टि-क्रम

सांख्य के क्रम से भिन्न है। श्रुति कहती है कि उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ जब कि सांख्य के अनुसार आकाश तन्मात्रा-विशेष से उत्पन्न होता है।

दूसरा अध्याय

वेदांत का दूसरा अध्याय बड़े महत्त्व का है। इसमें सूत्रकार कुछ देर के लिये तार्किक बन गए हैं। इस अध्याय का दूसरा पाद तर्कपाद कहलाता है, क्योंकि उसमें श्रुति की दुहाई देकर नहीं बल्कि तर्क का आश्रय लेकर वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, जैन आदि मतों का खंडन किया गया है। पहले पाद में कुछ आक्षेपों का समाधान है।

विपक्षी आक्षेप करता है कि ब्रह्म के जगत का कारण मानने पर सांख्य स्मृति से विरोध होता है। उत्तर यह है, कि सांख्य-सिद्धांत मान लेने पर दूसरी स्मृतियों का विरोध होगा। अद्वैत-प्रतिपादक और ब्रह्म को एक-मात्र तत्त्व बताने वाली श्रुतियों का भी तो मान करना है, स्मृति का ध्यान बाद को करना चाहिए। सांख्य के सब तत्त्वों का नाम भी श्रुति में नहीं है। इसी प्रकार योग स्मृति का विरोध भी करना ही पड़ेगा, यद्यपि यौगिक क्रियाओं का आदर सब को करना चाहिए।

एक आक्षेप यह भी है कि जगत् ब्रह्म से विलक्षण या भिन्न गुणवाला है, इसलिए ब्रह्म उसका कारण नहीं हो सकता। उत्तर यह है कि गोबर से बिच्छू जैसी भिन्न वस्तु पैदा होती है और पुरुष शरीर से केश, नख आदि उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् भी उत्पन्न हो सकता है। यदि कारण और कार्य बिलकुल एक-से ही हों तो कारण-कार्य संबंध का ही लोप हो जाय। ब्रह्म और जगत् में सत्ता गुण तो समान है ही। यहां शंकराचार्य यह भी कहते हैं कि वास्तव में सृष्टि मायामयी है। जैसे मायावी अपनी माया से नहीं छूता, वैसे ही ब्रह्म में जगत् के

विकारों का स्पर्श नहीं होता।

श्रुति के विरोध में तर्क नहीं करना चाहिए क्योंकि तर्क अप्रतिष्ठित है। एक वादी के तर्कों का दूसरा वादी खंडन कर डालता है (२।१।११)

परमाणुवाद श्रुति-परक न होने से त्याज्य है। असत्कार्य वाद ठीक नहीं, कार्य और कारण एक ही होते हैं। मिट्टी के होने पर घट उपलब्ध होता है, इससे सत्कार्यवाद सिद्ध होता है।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्व शब्द कोपो वा।

श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्। (२।१।२६-२७

विपक्षी आक्षेप करता है कि यदि सत्कार्यवाद के अनुसार जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानोगे तो दो में से एक दोष, जरूर आएगा। या तो मानना होगा कि सारा ब्रह्म जगत् रूप में परिवर्तित हो जाता है अथवा यह मानना होगा कि ब्रह्म का कोई भाग जगत् बन जाता है। पहली दशा में ब्रह्म की सत्ता का एक प्रकार से लोप हो जायगा; केवल जगत् रह जायगा। दूसरी दशा में ब्रह्म सावयव (हिस्सेवाला, सखंड) हो जायगा और ब्रह्म को निरवयव बतानेवाली श्रुति से विरोध होगा।

इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि श्रुति ही जगत् को ब्रह्म का कार्य बतलाती है और वही ब्रह्म का विकार बिना स्थित रहना भी कथन करती है। इसलिए उक्त आक्षेप ठीक नहीं।

पाठक स्वयं देख सकते हैं कि सूत्रकार की युक्ति कितनी लचर या निर्बल है। श्रुति में विश्वास न रखनेवाला व्यक्ति इस युक्ति से कभी संतुष्ट नहीं हो सकता। श्री शंकराचार्य इस कमी को समझते थे, इसलिए उन्होंने सूत्र के भाष्य में मायावाद का प्रवेश करा दिया। ब्रह्म वास्तव में जगत् रूप में परिणत नहीं हो जाता, किंतु ऐसा परिणत हुआ प्रतीत होता है। जैसे रस्सी में सर्प दिखाई देता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् दिखाई पड़ता है। जैसे भ्रम का सर्प रस्सी में कोई विकार उत्पन्न नहीं करता वैसे

ही जगत् ब्रह्म की सत्ता में कोई विकार नहीं लाता। शंकर का यह 'विवर्त्तवाद' या 'मायावाद' उनकी अपनी चीज़ है; सूत्रों में इस सिद्धांत की उपस्थिति मालूम नहीं पड़ती।

इन सूत्रों के भाष्य में रामानुज भी कहते हैं कि ब्रह्म में विचित्र शक्तियां हैं, इसलिए आक्षेप-कर्त्ता के दोष उसमें नहीं आएंगे। ब्रह्म दूसरे पदार्थों की तरह नहीं है और उसके विषय में श्रुति ही प्रमाण है (शब्दैकप्रमाणकत्वेन सकलेतर वस्तु विसजातीयत्वादस्यार्थस्य विचित्र शक्तियोगो न विरुध्यते इति न सामान्यतो दृष्टं साधनं दूषणं वार्हति ब्रह्म)[१] यह स्पष्ट है कि रामानुज का समाधान ठीक नहीं है। अविद्या के कारण ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है, शंकराचार्य की यह व्याख्या सबसे अधिक युक्ति-संगत और बुद्धि को संतुष्ट करनेवाली है।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति। २।१।३४

संसार में कोई दुःखी है, कोई सुखी। क्या इससे जगत् के रचयिता में विषमता और निर्घृणता (निर्दयता) दोष नहीं आते? सूत्रकार का उत्तर है, 'नहीं'। ईश्वर जो विषम सृष्टि करता है, वह जीवों के कर्मों की अपेक्षा से, न कि निरपेक्ष होकर संसार अनादि है, इसलिये प्रारंभ में विषमता कहां से आई, यह प्रश्न नहीं उठता।

दूसरे पाद में विभिन्न मतों का खंडन है जो हम संक्षेप में देते हैं।

सांख्य का खंडन

सांख्य की युक्ति है कि जगत् के घट-पट आदि पदार्थ सुख, दुःख, मोहात्मक हैं, इसलिये उनका कारण प्रधान है। शंकराचार्य इस युक्ति का खंडन करते हुये कहते हैं कि घट, पट में सुख-दुख देखना अयुक्त है। सूत्रकार का कहना है कि विश्व में जो तरह-तरह की रचना पाई जाती है उसकी उत्पत्ति या सिद्धि बिना चेतन-कर्त्ता के नहीं हो सकती। संसार के सर्वश्रेष्ठ शिल्पी जिस

---

[१]—दे० कमंकर का कम्पैरिज़न आव् भाष्यज़ पृ० ३३

विचित्र सृष्टि की कल्पना भी नहीं कर सकते, उसका कारण अचेतन प्रकृति कैसे हो सकती है ?

सत्, रज, तम की साम्यावस्था प्रकृति है; इस साम्यावस्था का भंग क्यों और कैसे होता है, यह सांख्यवाले नहीं समझा सकते। प्रकृति का परिणाम पुरुष के लिये होता है, यह भी समझ में नहीं आता। अचेतन प्रकृति पुरुष का हित-साधन करने का विचार कैसे कर सकती है, वह सांख्यवाले ही जानें। गाय का दूध चेतन गौ द्वारा अधिष्ठित होता है इसलिये बछड़े के लिये प्रस्रवित होने लगता है। यदि कहो घास दूध बन जाती है और घास अचेतन है, तो ठीक नहीं। बैल भी घास खाता है, पर उसके दूध नहीं उतरता। इसलिये दूध का निमित्त मानना पड़ेगा।

अंधे और लँगड़े का दृष्टांत पुरुष की सक्रियता सिद्ध करता है जो सांख्य को अभिप्रेत नहीं है। बिना कुछ कहे लँगड़ा अंधे को मार्ग नहीं बता सकता। यदि चुम्बक और लोहे का उदाहरण ठीक माना जाय तो पुरुष और प्रकृति के सान्निध्य की नित्यता से प्रकृति की प्रवृत्ति भी नित्य हो जायगी और कभी प्रलय न होगी।

वैशेषिक का खंडन

सूत्रों में न्याय का खंडन नहीं है। परमाणुओं का परिमंडल या अणु परिमाण होता है, उनसे बड़े परिमाणों की सृष्टि कैसे होती है ? द्व्यणुक का ह्रस्व परिमाण कहां से आता है ? यदि इंद्रिय-अगोचर परमाणुओं से दीखने योग्य त्र्यणुक और अणु परिमाण से महत्परिमाण उत्पन्न हो सकता है तो चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् उत्पन्न होता है यह मानने में क्या हानि है ? कार्य का कारण से भिन्न होना दोनों जगह समान है। (२।२।१६)

प्रलय-काल परमाणु विभागावस्था में होते हैं, उनके संयोग का कारण क्या होता है ? संयोगकर्म का कोई चेतन-कर्त्ता होना चाहिए। 'अदृष्ट' अचेतन है, इसलिये परमाणु-संयोग का निमित्त नहीं हो सकता। उस समय आत्माएं भी अचेतन होती हैं, फिर उनका मन से संयोग भी

नहीं होता, इसलिये परमाणुओं का आदिम संयोग सिद्ध नहीं होता। [इस आलोचना से मालूम होता है कि सूत्रकार और शंकराचार्य दोनों वैशेषिक को अनीश्वरवादी समझते थे, क्योंकि ईश्वर परमाणुओं के प्रथम संयोग का कारण होता है, यह तर्क आलोचना में नहीं उठाया गया है।] (२।२। १२)

जिस पदार्थ में रूप, रस, गंध, स्पर्श हों वह स्थूल और अनित्य होता है, इस व्याप्ति से परमाणुओं का कार्य और अनित्य होना सिद्ध होता है। (२।२।१५)

परमाणु या तो प्रवृत्ति-स्वभाव वाले हैं, या निवृत्ति- स्वभाववाले, य दोनों स्वभाव वाले या दोनों स्वभाव रहित। पहली दशा में सृष्टि तो होगी, प्रलय न हो सकेगी। दूसरी दशा में केवल प्रलय संभव है। तीसरी दश संभव नहीं है, परमाणुओं में विरुद्ध गुण नहीं हो सकते। चौथी दश। म प्रवृत्ति का कारण किसी वाह्य पदार्थ (अदृष्ट आदि) को मानना पड़ेगा जिसका संनिधान (समीपता) या तो नित्य होगा और प्रलय न हो सकेगा, या अनित्य या अनियमित। किसी प्रकार भी परमाणुवादी दोष से न बच सकेंगे। (२।२।१४)

बौद्धों का खंडन

बौद्धों के क्षणिक स्कंधों और अणुओं का ंघात नहीं बन सकता, यह पहले भाग में लिख चुके हैं। क्योंकि उत्तर-क्षण की उत्पत्ति से पहले पूर्व-क्षण नष्ट हो चुकता है, इसलिये पूर्व-क्षण उत्तर-क्षण का हेतु या कारण नहीं हो सकता।

'अर्थक्रियाकारित्व' सत्ता का लक्षण कर देने पर 'प्रतिसंख्यानिरोध' और 'अप्रतिसंख्यानिरोध' (बुद्धिपूर्वक विज्ञान-संतति का नाश और सुषुप्ति आदि में अबुद्धि-पूर्वक निरोध) दोनों नहीं बन सकते। बौद्धों के क्षणिक भाव पदार्थ अविराम प्रवाहित होते रहते हैं। यदि अंतिम विज्ञान को, जिसका निरोध अभीष्ट है, सत् माना जाय तो उससे दूसरा विज्ञान ज़रूर उत्पन्न होगा अन्यथा उस विज्ञान की 'सत्' संज्ञा न हो सकेगी; उसमें

सत्ता-लक्षण न घट सकेगा। यदि अंतिम विज्ञान को असत् माना जाय तो उससे पहले का विज्ञान भी असत् होगा और इस प्रकार सारी विज्ञान-संतति असत् हो जायगी; तब ज्ञान से निरोध किसका होगा ?

विज्ञानवाद की आलोचना पहले लिखी जा चुकी है। 'बाह्यता' का भ्रम भी बाह्य के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। बंध्या पुत्र को किसी ने कहीं नहीं देखा है इसलिये उसका भ्रम भी नहीं होता।

जैनों के सप्त भंगी न्याय का खंडन भी ऊपर लिख चुके हैं। जीव को शरीर-परिमाणी मानने पर वह अनित्य हो जायगा।

तटस्थेश्वरवाद

कुछ लोगों (जैसे न्याय) के मत में ईश्वर उपादान कारण नहीं है, केवल अधिष्ठाता कारण है। जैसे कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है, वैसे ईश्वर प्रकृति या परमाणुओं से सृष्टि करता है। ईश्वर केवल निमित्त कारण है। यह मत ठीक नहीं। इस मत को मानने पर ईश्वर पक्षपात दोष से नहीं बच सकता। ईश्वर ने अच्छे-बुरे प्राणी क्यों बनाये ? यदि कहो कर्मों के अनुसार ईश्वर ने भेद-सृष्टि की तो कर्म और ईश्वर एक दूसरे के आश्रित हो जायँगे; ईश्वर का वस्तुकृत परिच्छेद भी हो जायगा। प्रकृति और जीव उसकी असीमता को नष्ट कर देंगे। या तो ईश्वर में जीवों की संख्या और प्रकृति की सीमा का ज्ञान होगा, या नहीं। पहली दशा में प्रकृति और जीव परि-मित हो जायँगे; दूसरी दशा में ईश्वर असर्वज्ञ बन जायगा।

भागवत धर्म का खंडन

इस मत में एक निरञ्जन वासुदेव चार रूपों में स्थित रहता है, वासुदेव-व्यूह, संकर्षण-व्यूह, प्रद्युम्न-व्यूह और अनिरुद्ध-व्यूह। उनमें वासुदेव परा प्रकृति है, अन्य उसके कार्य हैं। वासुदेव से संकर्षण (जीव) उत्पन्न होता है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन), उससे अनिरुद्ध (अहंकार)। उत्पत्ति मानने से जीव अनित्य हो जायगा फिर मोक्ष या भगवत्प्राप्ति किसे होगी ? कर्त्ता

(जीव) से कारण (मन) की उत्पत्ति भी ठीक सिद्धांत नहीं है। फिर इस मत का श्रुति में उपपादन भी नहीं है।

नोट—उपर्युक्त आलोचनाओं में हमने शांकर भाष्य का अनुसरण किया है।

तीसरे पाद का पहला अधिकरण आकाश को ब्रह्म का कार्य होना सिद्ध करता है। आकाश निर्विभाग और नित्य नहीं है। इसी प्रकार वायु, जल और अग्नि भी कार्य हैं। जीव का जन्म औपाधिक है और नित्यता वास्तविक। जीव ज्ञाता (ज्ञः) है अथवा ज्ञानस्वरूप या चैतन्य-स्वरूप है।

आगे के अधिकरण में 'आत्मा अणु है या विभु' इस पर विचार किया गया है। रामानुज के मत में आत्मा या जीव अणु है; शंकर के मत में अणुत्व उपाधि-सहित जीव का धर्म है। अधिकरण के आरंभ के सूत्रों से ऐसा मालूम होता है कि सूत्रकार जीव को अणु मानते हैं। शंकर की सम्मति में यह सूत्र (१९-२८) पूर्वपक्ष के हैं। हमें रामानुज की व्याख्या ज़्यादा स्वाभाविक मालूम होती है। दस सूत्रों का लंबा पूर्वपक्ष मानना अस्वाभाविक है।

जीव कर्ता है और स्वतंत्र है; यह ठीक है कि ईश्वर कर्म करता है, परंतु यह कर्म कराना जीव के पूर्व प्रयत्नों की अपेक्षा से होता है। जीव ब्रह्म का अंश या आभास है।

तीसरा अध्याय

मरने के बाद जीव सूक्ष्म भूतमात्राओं से वेष्टित होकर जाता है। जीव संपूर्ण कर्मों का भोग किये बिना ही स्वर्ग को जाते हैं। अभुक्त कर्मों के अनुसार ही स्वर्ग के बाद जन्म होता है। इन कर्मों को, जिनका फल स्वर्ग नहीं है, 'अनुशय' कहते हैं। पापी जीव चंद्रलोक को नहीं जाते।

स्वप्न में जीव सृष्टि करता है। रामानुज के मत में स्वप्न-सृष्टि का कर्ता ईश्वर है।

पाँचवें अधिकरण (द्वितीयपाद में) का नाम उभयलिङ्गाधिकरण है। ब्रह्म वास्तव में नीरूप, निर्विशेष और निर्गुण है, यह शंकराचार्य का मत है। 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' (३।२।१४) यह सूत्र शांकर मत की पुष्टि करता है। इसका अर्थ है—श्रुति में ब्रह्म के निर्गुण वर्णन की प्रधानता है, इसलिये ब्रह्म निर्गुण या नीरूप (रूपहीन) है। रामानुज ने इस अधिकरण में चार सूत्र और मिलाकर दूसरी व्याख्या की है। उनके मत में यह अधिकरण ब्रह्म का दोषों से रहित होना कथन करता है।

कर्म का फल ईश्वर देता है न कि स्वयं कर्म या अदृष्ट। जैमिनि के मत में 'धर्म' फल देता है।

उद्गीथ-विद्या, प्राण-विद्या, शाण्डिल्य आदि विद्याओं में ब्रह्म की ही उपासना बतलाई गई है। अवशिष्ट तृतीय अध्याय और चौथे अध्याय के अधिकांश भाग में जिन विषयों का वर्णन है उनका दार्शनिक महत्व कम है।

चौथा अध्याय

द्वितीय पाद में यह बतलाया गया है कि वाणी, मन, प्राण आदि का लय कहाँ होता है। विद्वान् दक्षिणायन में मर कर भी विद्या का फल पाता है।

अर्चिरादि मार्ग अनेक नहीं एक ही है। अर्चिष् आदि जीव को ले जानेवाले देवताओं के नाम हैं। बादरि का मत है कि परब्रह्म गति का कर्म नहीं हो सकता, इसलिये 'काय ब्रह्म' तक जीव को पहुँचाया जाता है, ऐसा मानना चाहिये। जैमिनि का मत इससे उलटा है; परब्रह्म ही जीव का गंतव्य है। यहां अधिकरण समाप्त हो जाता है; शंकर के मत में पहला मत ही सूत्रकार का सिद्धांत है। शंकर के अनुसार अगले दो सूत्रों

का दूसरा अधिकरण है। रामानुज के मत में कुल एक ही अधिकरण है (७—१६)। सोलहवें सूत्र के साथ ही तृतीयपाद समाप्त हो जाता है। सूत्रकार का मत जैमिनि का मत है, यह रामानुज की व्याख्या का सारांश है। ब्रह्म 'पर' और 'अपर' दो नहीं हैं; ब्रह्म एक ही है।

चौथे पाद में भी मुक्त पुरुष का वर्णन है। मुक्त पुरुष के अपने रूप का आविर्भाव हो जाता है। जैमिनि के मत में मुक्त पुरुष ब्रह्म के रूप से स्थित होता है ब्रह्म का रूप पा जाता है। औडुलोमि के अनुसार मुक्त पुरुष चैतन्य मात्र होता है। (४।४।१, ५,६) यही शंकर का मत है। संकल्प करते ही सारे भोग उसके पास उपस्थित हो जाते हैं; उसका कोई और अधिपति नहीं होता; जैमिनि के मत में शरीर का भाव होता है, बादरि के मत में अभाव। बादरायण यहाँ कोई विरोध नहीं देखते; संकल्प करते ही उसका शरीर हो जाता है। जगत् की सृष्टि आदि व्यापार मुक्त पुरुष नहीं कर सकता। भोगमात्र में वह ब्रह्म के समान होता है। श्रुति कहती है कि उसकी पुनरावृति या संसार में पुनर्जन्म नहीं होता। यह वेदांत का अंतिम सूत्र है, अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।

शंकर के मत में यह सब वर्णन उस जीव का है जिसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो गई है। ऐसा जीव भी वापिस नहीं आता, पूर्ण मुक्त हो जाता है। पूर्ण मुक्त और ब्रह्म में तो भेद ही नहीं रहता, उसके लिये यह कहना कि वह जगत् के व्यापार नहीं कर सकता या सिर्फ भोग में ब्रह्म के समान होता है, निरर्थक है।

रामानुज के मत में यह पूर्ण मुक्त का वर्णन है। मुक्त पुरुष ब्रह्म में लीन या एक नहीं हो जाता; वह ब्रह्म से कुछ कम रहता है। थिबो का कथन है कि उपक्रम (आरंभ) की तरह उपसंहार (अंत) भी शंकर के विरुद्ध है। यह संभव नहीं है कि बादरायण ने अपने सूत्रों का अंत 'कार्य ब्रह्म' तक पहुँचे हुये 'अपूर्णमुक्त के वर्णन के साथ किया हो। अंतिमसूत्र की पुनरुक्ति आचार्य के हृदय की गंभीर भावना को व्यक्त

करती है। यह वर्णन पूर्ण मुक्त पुरुष का ही है और 'पर तथा 'अपर' ब्रह्म का भेद शंकर को कल्पना है।

थिबो की टीका ठीक मालूम पड़ती है। वास्तव में 'अविद्या' या 'माया' की धारणा शंकर को अपनी है, इसी कारण उन्हें सूत्रकार के 'परिणाम-वाद' की जगह 'विवर्त्तवाद' का प्रतिपादन करना पड़ा, यही कारण उनके सूत्रों के अर्थ में जगह-जगह खींचा-तानी करने का है। अविद्या की उपाधि से ही ब्रह्म, ईश्वर बन जाता है। 'अपर-ब्रह्म और 'पर-ब्रह्म' का भेद शंकर का अपना मालूम होता है, सूत्रकार का नहीं। सूत्रकार की शिक्षा का सारांश यही है कि संपूर्ण जगत् ब्रह्म का कार्य है, जीव ब्रह्म का अंश है और मुक्ति का अर्थ ब्रह्म लोक-प्राप्ति है। कारण और कार्य में अनन्यत्व सबंध होता है। सूत्रकार जगत् को मिथ्या नहीं समझते; वे विवर्त्तवादी नहीं है। विश्व की रचना ब्रह्म की लीला है। ब्रह्म और उसके व्यापारों के विषय में श्रुति ही प्रमाण है। आचार्य श्रुति को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं और स्मृति को 'अनुमान'।

योगवाशिष्ठ[1]

श्री शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत का वर्णन करने से पहले हम दो कृतियों का परिचय दे देना चाहते हैं, एक योगवाशिष्ठ और दूसरी माण्डूक्य-कारिका। पहली कृति एक बड़ा ग्रंथ है[2] और दूसरी बहुत संक्षिप्त वस्तु है। दोनों पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। दोनों निराशा-वादी हैं और जगत् को स्वप्नवत् समझते हैं। कुछ ही वर्ष पहले प्रोफ़ेसर

---

[1] 'योगवाशिष्ठ का यह परिचय डाक्टर बी० एल० आत्रेयके "योगवाशिष्ठ एण्ड मॉडर्न थाट" के आधार पर लिखा गया है।

[2]—डा० दासगुप्त के अनुसार योगवाशिष्ठ में २३७३४ श्लोक हैं (दे० भाग २, पृ० २२८)

बी० एल० आत्रेय (काशी) ने आधुनिक विद्वानों का ध्यान योग-वाशिष्ठ की ओर आकर्षित किया है। योगवाशिष्ठ को दार्शनिक विचारों-का भण्डार ही समझना चाहिये। इस पद्यात्मक ग्रंथ के रचयिता को दार्शनिक प्रक्रिया स्वाभाविक मालूम होती है। नीचे हम अनुवाद-सहित कुछ श्लोक उद्धृत करके पाठकों को योगवाशिष्ठ का थोड़ा-सा परिचय देने की कोशिश करेंगे। संख्यायें प्रकरण, अध्याय और श्लोक बतलाती हैं। संसार दुःखमय है—

सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि, मूर्ध्नि रम्येष्वरम्यता।
सुखेषु मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् (५।९।४१)
आपदः सम्पदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम्।
जीवितं मरणायैव वत माया विजृम्भितम् (६।९३।७३)
शैलनद्या रय इव संप्रयात्येव यौवनम् (६।७८।५)
पातं पक्व फलस्यैव मरणं दुर्निवारणम्। (६।७८।३)

कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः।
कास्ता दिशो यासु न दुःख-दाहः।
कास्ताः प्रजा यासु न भङ्ग रत्वम्।
कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया। (१।२७।३१)

अर्थः—सत्ता या अस्तित्व के सिर पर असत्ता या नाश वर्त्तमान है; सौंदर्य पर कुरूपता सवार है; सुखों पर दुःख का आधिपत्य है। इन में से एक का आश्रय मैं किसका करूँ?

सारी संपदाएं आपत्ति रूप हैं, सुख केवल दुःख के लिये है; जीना मरने के लिए है, सब माया का विजृंभण (खेल) है।

शैल-नदी के प्रवाह की तरह यौवन चला जा रहा है। पके हुए फल के पतन की तरह मरना निश्चित है।

कौन सी दृष्टियां (दार्शनिक सिद्धांत) हैं जिनमें दोष नहीं? कौन-सी

दिशाओं में दुख की जलन नहीं है ? कौन-सी उत्पत्तिवाली वस्तुएं हैं, कौन जीव हैं, जो मरणशील नहीं हैं ? कौन-सी क्रियायें या व्यापार हैं, जिनमें माया नहीं है ?

मनुष्य को पुरुषार्थ करना चाहिए, पुरुषार्थ ही दैव है —

यथा यथा प्रयत्नः स्याद् भवेदाशुफलं तथा ।
इति पौरुषमेवास्ति दैवमस्तु तदेव च ॥ (२।६।२)
न तदस्ति जगत्कोशे शुभ कर्मानुपातिना ।
यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः ॥ (३।६२।८)

अर्थः—जैसे-जैसे मनुष्य प्रयत्न करता है, वैसे-वैसे शीघ्र फल मिलता है। पौरुष ही सब कुछ है, वही दैव है। जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो शुद्ध पुरुषार्थ से प्राप्त न हो सके।

ज्ञान के लिये अनुभूति ही सर्वश्रेष्ट साधन है :—

अनुभूति बिना रूप नात्मनश्चानुभूयते ।
सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः ॥ (५।६४।५३)
न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः ।
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया स्वस्थया धिया ॥ (६।११८।४)

अर्थः—अनुभव के बिना आत्मानुभूति नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष-ज्ञान अनुभव-साध्य है। न शास्त्र से, न गुरु से; अपनी आत्मा अपनी ही बुद्धि को स्वस्थ करके देखी जा सकती हैं।

योगवाशिष्ठ का विश्वास है कि जगत् मनोमय है। यदि जगत् को द्रष्टा से अत्यंत भिन्न मानें तो किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता।

न संभवति संबंधो विषमाणां निरंतरः ।
न परस्परसंबंधाद् बिना नुभवनं मिथः । ३।१२१।३७),
ऐक्यं च बुद्धि संबंधं नास्त्यसावसमानयोः । (३।१२१।४२)
सजातीयः सजातीयेनैकतामनुगच्छति ।
अन्योऽन्यानुभवस्तेन भवत्वेकत्व निश्चयः । (६।५५।१२)

द्रष्ट दृश्ये न यद्येकमभविष्यच्चिदात्मके ।

तद् दृश्यास्वादमज्ञः स्यान्नादृष्ट्वेक्षुमिवोपलः । (६।३८।६)

अर्थः—जो वस्तुएं एक दूसरे से अत्यंत भिन्न हैं, उनमें संबंध नहीं हो सकता और बिना संबंध हुए ज्ञाता को ज्ञेय का अनुभव नहीं हो सकता । संबंध एकता को कहते हैं; जो समान नहीं हैं, उनमें यह नहीं हो सकता । सजातीय (एक श्रेणी के) पदार्थों में एकता या संबंध होता है; इसी से एक को दूसरे का अनुभव होता है । यदि द्रष्टा (जीव) और दृश्य (जगत्) दोनों चैतन्य रूप न होते तो द्रष्टा जीव को कभी न जान सकता, जैसे पत्थर गन्ने का स्वाद नहीं जानता ।

पाठक इस युक्ति को बहुत ध्यान से पढ़ें । योरुप के बड़े-बड़े दार्शनिकों ने इस युक्ति का आधुनिक काल में प्रयोग किया है । जैनियों और सांख्य की आलोचना में हमने इसी युक्ति का आश्रय लिया था । जो अत्यंत भिन्न हैं उनमें संबंध नहीं हो सकता । इससे विश्व की एकता सिद्ध होती है । यदि प्रकृति और पुरुष, पुद्गल और जीव अत्यंत भिन्न हों, तो उनमें ज्ञातृ-ज्ञेय संबंध संभव न हो सके । यदि सृष्टि से हमारी किसी प्रकार एकता न हो तो वह हमें सुंदर न लगे, हमारे हृदय को स्पर्श न करे । द्वैतवाद की सबसे बड़ी कठिनता जड़ और अजड़ में संबंध स्थापित करना है । हीगल ने इसी युक्ति का आश्रय लेकर 'विरुद्धगुण एकत्र नहीं हो सकते' इस नियम का खंडन किया था । विरोध भी एक प्रकार का संबंध है और विरुद्धों में भी किसी प्रकार की एकता होनी चाहिए । प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रेडले का कथन है:—

'एक अवयवी या ऊँची श्रेणी के अंतर्गत ही संबंध हो सकते हैं; इसके अतिरिक्त सबंध का कोई अर्थ नहीं है ।'[1]

इसी तर्क के सहारे ब्रेडले ने विश्व-तत्त्व की एकता सिद्ध की है । पाठक

[1]—एपियरेंस एण्ड रिअलिटी, पृ० १४२

हमारे पिछले उदाहरण को याद कर लें। दो गज़ और दो मिनिट में इस लिये कोई संबंध दिखलाई नहीं देता कि हम उन्हें किसी एक बड़ी श्रेणी के अंतर्गत नहीं ला सकते। इस तर्क से क्या निष्कर्ष निकला है ? यह योगवाशिष्ठ के ही शब्दों में सुनिये :—

बोधावबुद्धं यद्वस्तु बोध एव तदुच्यते।
ना बोधं बुध्यते बोधो वैरूप्याच्छेन नान्यथा ।६।२५।१२
यदि काष्ठोपलादीनां न भवेद् बोधरूपता।
तत्सदानुपलम्भः स्यादेतेषामसतामिव। (६।२५।१)
सर्वं जगद्गतं दृश्यं बोधमात्रमिदं ततम्।
स्पन्दमात्रं यथा वायुर्जलमात्रं यथार्णवः ।६।२५।१७
मनोमनन निर्माणमात्रमेतज्जगतत्रयम्। (४।१६।२३)
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः
अंतःकरणतत्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः। (५।५६।३५)
कल्पं क्षणीकरोत्यंतः क्षणं नयति कल्पताम्
मनस्तदायत्त मतो देशकालक्रमं विदुः। (३।१०३।१४)
कांता विरहिणामेकं वासरं वत्सरायते। (३।२०।५१)
ध्यान प्रक्षीण चित्तस्य न दिनानि न रात्रयः। (३।६०।२६)

भावार्थ:—बोध या ज्ञान से जो वस्तु जानी जाय उसे बोध ही समझना चाहिए। बोध या ज्ञान बोध भिन्न-पदार्थ को नहीं जान सकता। यदि काठ और पत्थर बोधरूप न हों तो असत्पदार्थों की भाँति उनकी कभी उपलब्धि न हो। यह सारा ब्रह्मांड बोधरूप है, जैसे वायु केवल स्पंदन है और समुद्र जलमात्र है। यह तीनों लोक मन के मनन द्वारा ही निर्मित हैं मनोमय हैं। द्युलोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियां, दिशाएं—यह सब अंतःकरण द्रव्य के भाग से हैं जो बाहर स्थित हैं।

देश और काल का क्रम मन के अधीन है। मन एक क्षण को कल्प के बराबर लंबा बना सकता है और एक कल्प को क्षण के बराबर छोटा। जिनका प्रियतमा से वियोग हो जाता है उन्हें एक दिन वर्ष के बराबर प्रतीत होता है। ध्यान-द्वारा जिसने चित्त (वृत्तियों) का क्षय कर दिया है उसके लिए न दिन हैं न रातें।

पाठक कहेंगे कि यह तो विज्ञानवाद या बर्कले की सब्जेक्टिविज़्म है। इसीलिये हमने कहा था कि योगवाशिष्ठ पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव दिखाई देता है। योगवाशिष्ठ के लेखक में बौद्ध-विचारकों जैसी उड़ान और साहस है। परंतु फिर भी योगवाशिष्ठ वेदांत का ग्रंथ है। एक श्लोक कहता है,

जाग्रत्स्वप्नदशा भेदो न स्थिरास्थिरते बिना
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः। (४।१६।११)

अर्थात् जाग्रत-दशा और स्वप्न-दशा में कोई भेद नहीं है, सिर्फ़ यही भेद है कि पहली में स्थिरता और दूसरी में अस्थिरता पाई जाती है। दोनों में सदैव और सर्वत्र एक-सा अनुभव होता है।

यह विशुद्ध विज्ञानवाद है। परंतु योगवाशिष्ठ के रचयिता का एक स्थिर तत्त्व 'ब्रह्म' में विश्वास है, यही विज्ञानवाद से भेद है।

सर्व शक्ति परं ब्रह्म सर्व वस्तुमयं ततम्
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम् (६।१४।८)
अवाच्यमनभिव्यक्तमतीन्द्रिय मनामकम्। (६।५२।२७)
न चेतनो न च जड़ो न चैवासन्नसन्मयः।
नाहं नान्यो न चैवैको नानेको नाप्यनेकवान्। (५।७२।४१)
यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः। (३।५।५)
न च नास्तीति तद्वक्तं युज्यते चिद्वपुर्यदा।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा। (६।५३।६)
अक्षयामृत सम्पूर्णादम्भोदादिव वृष्टयः। (३।५।१४)

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां त्रयाणामुदयो यतः। (६।१०६।१२)
न सन्नासन्न मध्यान्तं न सर्वं सर्वमेव च।
मनोवाचोभिरग्राह्यं शून्याच्छून्यं सुखात्सुखम् (३।११९।८३)
आत्मैव स्पन्दते विश्वं वस्तु जातैरिवोदितम्।
तरङ्ग कण कल्लोलैरनन्तामम्बुधाविव। (५।७१।२३)
परमार्थघनं शैलाः परमार्थघनं द्रुमाः।
परमार्थघनं पृथ्वी परमार्थघनं नभः। (३।५५।४५)
लीयतेऽङ्कुरकोशेषु रसीभवतिपल्लवे।
उल्लसत्यम्बु वीचित्वे प्रनृत्यति शिलोदरे।
प्रवर्षत्यम्बुदो भूत्वा शिलीभूयावतिष्ठते। (३।४०।२१,२२)
ब्रह्म सर्वं जगद्वस्तु पिण्डमेकमखण्डितम्। (३।६०।३६)

भावार्थः—ब्रह्म सर्वशक्तिमय है, सर्ववस्तुमय है; वह सदा, सर्वत्र सब रूपों में विराजमान है। वह अग्राह्य है, अभिव्यक्त नहीं है, इंद्रिय-रहित और नाम-शून्य है। वह न चेतन है, न जड़, न सत् न असत्, न मैं न मैं से भिन्न, न एक न अनेक। आत्मा आदि उसके नाम कल्पित हैं, स्वाभाविक नहीं। 'वह नहीं है', ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह चैतन्य स्वरूप है; 'वह है' ऐसा भी दोष-रहित ब्रह्म को नहीं कह सकते। जैसे मेघों से वृष्टि होती है वैसे ही आनंदमय अथवा अमृतमय ब्रह्म से द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों का उदय होता है। ब्रह्म न सत् है न असत्, न मध्य न अंत, न सब कुछ न-कुछ; वह वाणी और मन से ग्रहण होने योग्य नहीं है, वह शून्य से भी शून्य है, सुखरूप है। हजारों वस्तुओं के रूप में आत्मा ही स्पंदित हो रही है, जैसे समुद्र में अनंत जल तरंग, कण कल्लोल रूप में स्पंदित रहता है। पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी और आकाश परमार्थ ब्रह्मरूप हैं। वही ब्रह्म अंकुरों में लीन होता है, यही पत्तों में रस बन जाता है; जल की लहरों में क्रीड़ा करता है, शिला-

गर्भ में नाचता है, मेघ बन कर बरसता है और शिला बन कर स्थिर रहता है। एक अखंड ब्रह्म ही जगत् की सारी वस्तुएँ है।[1]

गौड़पाद की माण्डूक्य-कारिका

माण्डूक्योपनिषत् पर कारिका लिखनेवाले गौड़पाद सांख्य-कारिका के टीकाकर से भिन्न कहे जाते हैं। अद्वैत-वेदांत के ग्रंथों में यह कारिकाएं सबसे प्राचीन हैं। शंकर का मायावाद यहाँ पाया जाता है। श्री गौड़पाद शायद शंकराचार्य के शिक्षक श्री गोविंद के गुरु थे। कारिकाओं पर शंकराचार्य ने टीका लिखी है। कुल कारिकाएं चार प्रकरणों में विभक्त हैं—अर्थात् आगम प्रकरण जो मांडूक्य की व्याख्या है, वैतथ्य प्रकरण, जिस में जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध किया है, अद्वैतप्रकरण और अलात शांति प्रकरण। गौड़पाद के सिद्धांत कहीं विज्ञानवाद, कहीं शून्यवाद और कहीं अद्वैत वेदांत से मिलते हैं। वे वेदांती हैं, पर उनपर बौद्धों का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। कारिकाओं में 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग कई जगह हुआ है। कुछ कारिकाएं नागार्जुन की कारिकाओं से बिलकुल मिलती हैं। कम-से-कम यह निश्चित है कि गौड़पाद बौद्ध-दर्शन और बौद्ध-ग्रंथों से काफ़ी परिचित थे।

गौड़पाद के मत में संसार स्वप्न की तरह मिथ्या है। वैतथ्य प्रकरण के चौथे श्लोक की टीका में श्री शंकराचार्य लिखते हैं:—

जाग्रद् दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा, दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टांतः।

अर्थात् जाग्रतावस्था में दीखनेवाले भावपदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि वे दृश्य हैं, स्वप्न में दीखनेवाले भाव पदार्थों की तरह। इस प्रकार प्रतिज्ञा,

---

[1]—योगवाशिष्ठ शंकर के बाद की रचना मानी जाती है यद्यपि प्रो०, आत्रेय का मत और है। (दे० दासगुप्त, भाग २, पृ० २२८)

हेतु और उदाहरण तीनों मौजूद हैं। 'जो-जो दृश्य है, वह-वह मिथ्या है' यह व्याप्ति है। यह गौड़पाद की पहली युक्ति है। दूसरी युक्ति सुनिए,

आदावंते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।

जो आदि में नहीं है और अंत में भी नहीं है, उसे वर्त्तमान काल में भी वैसा ही समझना चाहिए। एक समय था जब यह जगत् नहीं था, एक समय यह रहेगा भी नहीं; इसलिये अब इस जगत् की वास्तविक सत्ता है, यह हठपूर्वक कौन कह सकता है?

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान्।
वाह्यानाध्यात्मिकाँश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः (२।१६)

पहले जीव की कल्पना होती है, फिर भौतिक और मानसिक भावों की। कल्पित जीव की जैसी विद्या होती है वैसी ही उसकी स्मृति होती है।

जैसे अंधकार में निश्चय न होने के कारण रस्सी कभी सर्प कभी पानी की धारा मालूम होती है, वैसी ही जीव की कल्पना है। (२।१८)

जैसे स्वप्न हैं, जैसी माया है, जैसा गंधर्व-नगर (गंधर्व-रचित मायिक नगर) होता है, वैसा ही वेदांत के वेत्ता इस जगत् को समझते हैं। (२।३१)

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता। (२।३२)

न जन्म होता है न नाश; न कोई बद्ध है न साधक। मोक्षार्थी भी कोई नहीं है, यही परमार्थ-ज्ञान है।

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयंते तद्वज्जीवा इहात्मनि (३।४)

जैसे घट आदि के नष्ट हो जाने पर घटाकाश आदि का महाकाश में लय हो जाता है, वैसे ही जीवों का आत्मा या ब्रह्म में लय हो जाता है।

यथा भवती बालानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः (३।८)

जैसे बालकों की मति में आकाश...संसार के मलों से मलिन हो जाता है, वैसे ही अविद्वान् आत्मा को मलिन होनेवाला समझते हैं।

नागार्जुन की तरह गौड़पाद का भी मत है कि किसी वस्तु की उत्पत्ति मानना संगत नहीं है। 'अजाति' अथवा जन्म का अभाव ही दार्शनिक सत्य है। वे कहते हैं,

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति (३।२०)

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद् भविष्यति।३।२१।

जन्म की सत्यता के पक्षपाती अजात (जो उत्पन्न नहीं हुआ है) तत्त्व का ही जन्म कथन करते हैं। परंतु जो 'अजात' है वह अमर है, वह मरणशील कैसे बनेगा (अर्थात् वह उत्पन्न कैसे होगा) ?

जो अमर है, वह मरणशील नहीं बन सकता, जो मरणशील है वह अमर नहीं हो सकता। कोई वस्तु अपने स्वाभाविक धर्म को नहीं छोड़ सकती।

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम्।४।३।

भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते।४।४।

द्वैतवादियों में आपस में विरोध है। कुछ वादी विद्यमान की उत्पत्ति

कहते हैं, कुछ अविद्यमान की (पहले सत्कार्यवादी है, दूसरे असत्कार्यवादी)। न विद्यमान उत्पन्न होता है, न अविद्यमान ही उत्पन्न होता है। वास्तव में 'अजाति' ही सत्य है, इसे तर्क करते हुए अद्वैती सिद्ध करते हैं।

स्वतो वा परतोवाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
सदसत् सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।४। २२।

न कोई चीज़ अपने से उत्पन्न होती है, न दूसरे पदार्थ से; सत्, असत्, या सत् और असत् कोई चीज़ उत्पन्न नहीं होती। पाठक इस कारिका की नागार्जुन की पहली कारिका से तुलना करें।

कारणाद् यद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं तव
जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम्। ।४।१२।

सांख्यवाले प्रकृति को अज कहते हैं और कार्य की कारण से अनन्यता बतलाते हैं। यदि काय और कारण एक ही हैं, तो कारण की तरह कार्य को भी अज (जन्म-रहित) मानना चाहिए। यदि कार्य महत्तत्त्व आदि अज नहीं हैं तो कारण प्रकृति कैसे अज हो सकती है?

यदि कारण को अज न मानकर उत्पत्तिवाला मानें तो भी नहीं बनता। वह उत्पन्न कारण किसी और से उत्पन्न हुआ होगा, वह किसी और से इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। ।४।१३।

नास्त्यसद्धेतुकमसत् सदसद्धेतुकं तथा।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः ।४।४०।

असत् हेतु वाला असत् कहीं नहीं है, असत् जिसका हेतु हो ऐसा सत् पदार्थ भी नहीं है; सत् से उत्पन्न सत्पदार्थ भी नहीं है; सत् हेतु वाला असत् पदार्थ तो हो ही कैसे सकता है? अभिप्राय यह है कि कार्य-कारण-भाव किसी प्रकार नहीं बनता। उत्पत्ति और नाश के समान ही कारणता की धारणा विरोध-ग्रस्त है।

गौड़पाद को विज्ञानवाद भी अभिप्रेत नहीं है क्योंकि उसमें भी उत्पत्ति की धारणा वर्त्तमान है और गौड़पाद 'अजाति' के समर्थक हैं।

तस्मान्न जायते चित्तं चित्त-दृश्यं न जायते ।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ।४।२८।

चित्त उत्पन्न नहीं होता, चित्त के दृश्य भी उत्पन्न नहीं होते । जो उसकी उत्पत्ति मानते हैं वे आकाश में 'पद' देखते हैं । पद का अर्थ है सरणि या मार्ग । चित्त की उत्पत्ति आकाश-कुसुम के तुल्य है, यह आशय है ।

कल्पना-हीन अज ज्ञान ज्ञेय से अभिन्न कहा जाता है । ब्रह्म ज्ञेय है, अज है, नित्य है; अज द्वारा ही वह ज्ञेय है । ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों अज हैं । (३।३३)

जब मन निगृहीत (समाधिस्थ) होता है तब उसमें कल्पनाएं नहीं रहतीं; यह दशा (योग-द्वारा) ज्ञेय है, यह सुषुप्ति से भिन्न है । सुषुप्ति-दशा में प्रवृत्ति और वासनाओं के बीज वर्त्तमान रहते हैं ।३।३४।

ब्रह्म अज है, निद्रा और स्वप्न रहित है, नाम और रूप हीन है, सदैव-प्रकाश-स्वरूप है, सर्वज्ञ है । ब्रह्म-प्राप्ति के लिये उपचार (किसी प्रकार के अनुष्ठान) की आवश्यकता नहीं है (३।३६)

जब चित्त सुषुप्ति में लय होना छोड़ देता है, जब वह विक्षिप्त नहीं होता, वायु-रहित स्थान में दीप की नाईं जब वह स्थिर हो जाता है, जब उसमें विषयों की कल्पनाएं स्फुरित होना बंद हो जाती हैं, तब साधक ब्रह्म-स्वरूप हो गया, ऐसा समझना चाहिए । (३।४६)

इस स्वस्थ, शान्त, कैवल्यरूप, अज, अज द्वारा ज्ञेय, अनुत्तम सुख या आनंद की ही सर्वज्ञ संज्ञा है । आनंद और ज्ञान ब्रह्म का ही स्वरूप है । (३।४७)

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजसाम्यं विशारदम्
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथा बलम् । ४।१०० ।

जो ब्रह्म कठिनता से देखा जाता है, जो अतिशय गंभीर है, जो अज, सम और विशारद है, जो अनेकता-हीन है, उस परमार्थ तत्त्व को यथाशक्ति नमस्कार करते हैं ।

—०*०—

छठवां अध्याय

अद्वैत-वेदांत

श्री शंकराचार्य

अद्वैत वेदांत के प्रतिपादक श्री शंकराचार्य भारत के दार्शनिक आकाश के सब से प्रभापूर्ण नक्षत्र हैं। उनकी गणना भारत के श्रेष्ठतम विचारकों में होनी चाहिए। याज्ञवल्क्य, आरुणि, गौतम, कणाद और कपिल के अतिरिक्त जो कोरे दार्शनिक ही नहीं बल्कि ऋषि थे, भारत के किसी दार्शनिक की तुलना शंकर से नहीं की जा सकती। तर्क-बुद्धि में नागार्जुन, उद्योतकर और धर्मकीर्ति शंकर से कम नहीं, किंतु उनमें उस क्रान्तदर्शिता का प्रायः अभाव है जो नवीन विश्व-दृष्टि को जन्म देती है। रामानुज में भी आलोचना-शक्ति जितनी प्रखर है उतनी सृजनात्मक प्रतिभा नहीं, शंकर में दोनों ही शक्तियाँ पूर्ण विकसित रूप में वर्तमान हैं। श्री शंकराचार्य का भाष्य समुद्र की तरह गंभीर और आकाश-मण्डल की तरह शांत और शोभामय है। संसार के किसी दार्शनिक ने ऐसे मेधावी टीकाकारों और व्याख्याओं को आकर्षित नहीं किया, जैसे कि शंकर ने; किसी के इतने अनुयायी नहीं हुये जितने कि शंकर के। अकेले शंकर ने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक बौद्धों के बौद्धिक साम्राज्य को नष्ट करके वेदांत की दुंदुभि बजा दी।

शंकर का समय (७८८—८२० ई०) बताया जाता है। उनकी

अवस्था केवल बत्तीस वर्ष की हुई। कहते हैं कि आठ वर्ष की अवस्था तक वे सब वेद पढ़ चुके थे। ब्रह्मचर्यावस्था से ही उन्होंने संन्यास ले लिया। शंकर का हृदय बड़ा मृदुल था। कहा जाता है कि संन्यास-धर्म के विरुद्ध उन्होंने अपनी मृतक माता का दाह-संस्कार किया। उनकी मृत्यु केदारनाथ (हिमालय) में हुई।

एक किंवदंती से पता चलता है कि शंकर से कुमारिल की भेंट हुई थी। कुमारिल ने बौद्धों का खण्डन करके अपने कर्म-प्रधान दर्शन का प्रचार किया था। कुमारिल के शिष्य मण्डनमिश्र से शंकर को घोर शास्त्रार्थ करना पड़ा। इस शास्त्रार्थ में मण्डनमिश्र की पत्नी 'भारती' मध्यस्थ थीं। मंडनमिश्र मीमांसा के अद्वितीय पंडित थे। उनके द्वार पर कीरांगनाएं (सारिकाएं) 'प्रामाण्यवाद' के विषय में बातें करती थीं। शंकर से परास्त हो कर वे अद्वैत-वादी 'सुरेश्वराचार्य' बन गये। इन कथाओं में कितना ऐतिहासिक तथ्य है, यह बताना कठिन है। सुरेश्वर को मंडनमिश्र के नाम से कई लेखकों ने उद्धृत किया है। किंतु संपति दोनों की एकता के संबंध में बड़ा संदेह हो गया है। श्री कुप्पूस्वामी शास्त्री ने स्वसंपादित 'ब्रह्मसिद्धि' की भूमिका में काफ़ी छानबीन के बाद यह स्थापना की है कि मण्डन और सुरेश्वर भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। दोनों के मंतव्यों में महत्त्वपूर्ण मतभेद हैं। सुरेश्वराचार्य शंकर के कट्टर अनुयायी हैं जब कि ब्रह्मसिद्धि यत्र-तत्र शांकर मत का खण्डन भी करती हैं। शास्त्री जी के मत में मण्डन मिश्र को अद्वैत का एक स्वतन्त्र शिक्षक या व्याख्याता मानना चाहिये। ब्रह्मसिद्धि शंकरभाष्य के बाद की रचना है। शास्त्री जी ने यह भी दिखलाया है कि शंकर के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र पर मण्डन मिश्र का प्रभाव पड़ा। इसके विपरीत विवरणकार पर सुरेश्वराचार्य का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है।

श्री शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों और भगवद्गीता पर भाष्य

वेदान्त का साहित्य लिखे हैं। उपदेशसाहस्री, शतश्लोकी आदि उनके सरल प्रकरण-ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने दक्षिणामूर्ति स्तोत्र, हरिमीडे स्तोत्र, आनंदलहरी, सौन्दर्यलहरी आदि भी लिखे हैं। अपनी कृतियों से शंकराचार्य कवि, भक्त और दार्शनिक सभी सिद्ध हो जाते हैं। उनके दर्शन को किसी ने अद्वैतवाद, किसी ने मायावाद या मिथ्यात्ववाद और किसी ने (आधुनिक काल में) रहस्यवाद का नाम दिया है।

शांकर भाष्य पर पद्मपाद ने "पंचपादिका"[1] लिखी और श्री वाचस्पति मिश्र ने "भामती।" वाचस्पति मिश्र ने सभी आस्तिक दर्शनों पर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं, परन्तु उनमें "भामती" का जो कि उनकी अंतिम कृति है, स्थान सब से ऊँचा है। 'पंचपादिका' पर प्रकाशात्मन् ने 'विवरण' लिखा। "भामती" पर अमलानंद का 'कल्पतरु' और उस पर अप्पय दीक्षित का 'कल्पतरु-परिमल' प्रसिद्ध हैं। "भामती" और 'विवरण' के नाम से अद्वैतवेदांत के दो संप्रदाय चल पड़े। 'सर्वदर्शन-संग्रह' के लेखक माधवाचार्य ने 'विवरण-प्रमेयसंग्रह' और 'पंचदशी' दो ग्रन्थ लिखे हैं। शांकर-भाष्य पर आनंदगिरि का 'न्याय-निर्णय' और गोविंदानंद की 'रत्नप्रभा' भी प्रसिद्ध हैं। शंकर के शिष्य सुरेश्वर ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' और 'वार्त्तिक' दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। सुरेश्वराचार्य के शिष्य श्री सर्वज्ञमुनि का 'संक्षेप शारीरक' भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। श्रीहर्ष का 'खंडन-खंड-खाद्य' (११९० ई०) तर्कनात्मक ग्रन्थों में बहुत प्रसिद्ध है। नवीन ग्रन्थों में मधुसूदन सरस्वती की 'अद्वैतसिद्धि' बहुत प्रसिद्ध है। धर्मराजाध्वरीन्द्र की 'वेदान्त-परिभाषा' (१६ वीं शताब्दी) वेदांत के सिद्धांतों का प्रमाणों अंतर्गत वर्णन करती है। 'शिखामणि' उस पर टीका है। सदानंद का 'वेदांतसार'

---

[1]—पंचपादिका टीका केवल पहले चार सूत्रों (चतुःसूत्री) पर है।

सरल रूप में वेदांत को तत्त्व समझाता है। अप्पय दीक्षित के 'सिद्धान्त लेश संग्रह' में अनेक आचार्यों के मतों का ग्रह है।

पाठकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भारतीय दर्शनों की उन्नति और विस्तार टीकाओं के रूप में हुआ है। टीका लिखना हमारे यहां छोटा काम नहीं समझा जाता था। भारत के बड़े-बड़े विचारक टीकाकार के रूप में ही जनता के सामने आए हैं। प्रत्येक टीकाकार मूलग्रन्थ से कुछ अधिक कहने की चेष्टा करता है। वाचस्पति, सुरेश्वर, प्रकाशात्मन् जैसे प्रतिभाशाली लेखकों पर किसी भी देश को गर्व हो सकता है, परन्तु वे अपने को टीकाकार या व्याख्याता के अतिरिक्त कुछ नहीं समझते। भारतीय दार्शनिकों ने वैयक्तिक यश की विशेष परवाह न की, उन्होंने जो कुछ किया अपने संप्रदाय के लिये किया। फिर भी यह ठीक है कि कभी-कभी टीकाओं और उपटीकाओं की संख्या वैध सीमा का उल्लंघन कर जाती है। 'वेदान्त-सूत्रों' से 'कल्पतरु-परिमल' तक टीकाओं या व्याख्याओं की गिनती आधुनिक विद्यार्थी के लिए विस्मय-जनक है।

मीमांसा की आलोचना

शांकर भाष्य में भारत के प्रायः सभी दर्शनों की आलोचना की गई है। मीमांसकों और वेदांतियों का झगड़ा मुख्यतः दो विषयों पर है। प्रथमतः, मीमांसक कर्म से मुक्ति मानते हैं और वेदांती ज्ञान से। कुछ विचारकों का मत ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद भी है पर वेदांत उससे सहमत नहीं है। दूसरा झगड़ा श्रुतियों के प्रतिपाद्य विषय में है। मीमांसकों के मत में वेद कर्म-परक हैं, ज्ञान-परक नहीं। वेदांतियों की सम्मति में ब्रह्म का ज्ञान कराना ही श्रुतियों का परम उद्देश्य है। इन दोनों मत-भेदों का हम क्रमशः वर्णन करेंगे।

कर्म से मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार होती है इसका वर्णन हम मीमांसा

कर्म और ज्ञान— मोक्ष के साधन के प्रकरण में कर चुके हैं। मीमांसक विचारकों के अनुसार काम्य तथा प्रतिषिद्ध कर्मों के त्याग और नित्य कर्मों के सतत अनुष्ठान से मुक्ति मिल सकती है। नित्य कर्मों से तात्पर्य संध्या-वंदन आदि से है। वेदांतियों का कथन है कि नित्य-कर्म सब के लिए एक-से नहीं है, वे वर्णादि की अपेक्षा रखते हैं, और द्वैत की भावना के बिना अनुष्ठित नहीं हो सकते। द्वैत-भावना उससे मोक्ष की आशा नहीं की जा सकती। मीमांसक भी मानते हैं कि कर्म-फल से छूटने पर ही मुक्ति होती है। परन्तु कर्म का मूल अज्ञान है, अज्ञान को नष्ट किये बिना, केवल काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों को छोड़ देने से, कर्म की जड़ नष्ट नहीं हो सकती और कर्म-फल से छुटकारा भी नहीं मिल सकता।

मोक्ष कर्म का फल नहीं हो सकता; इस विषय में श्री सुरेश्वराचार्य, शांकर-भाष्य का अनुसरण करते हुए कहते हैं :—

उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
नैवं मुक्तिर्यतस्तस्मात्कर्म तस्या न साधनम्॥

नैष्कर्म्य सिद्धि। १।५३

कर्म का फल या तो उत्पाद्य (उत्पन्न करने योग्य वस्तु) होता है या विकार्य; या संस्कार्य अथवा आप्य (प्राप्य)। मुक्ति इनमें से कुछ भी नहीं है इसलिए वह कर्म का फल नही हो सकती। श्री शंकराचार्य लिखते हैं :—

यस्यतूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं, वाचिकं, कायिकं वा कार्यमपेक्षते इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्।

अर्थात् यदि मोक्ष को उत्पाद्य या विकार्य मानें तो मुक्तावस्था अनित्य हो जायगी। इसी प्रकार संस्कार का अर्थ है दोष दूर करना या गुणारोपण करना। परंतु मोक्ष तो अपने ही स्वरूप के आविर्भाव को कहते हैं। मुक्त

होने का अर्थ कहीं जाना भी नहीं है। संयोग का अंत वियोग में होता है, इसलिये किसी देश या स्थान-विशेष की प्राप्ति मोक्ष नहीं है (संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि—सांख्यसूत्र)। इस प्रकार मोक्ष कर्म का फल नहीं हो सकता।

तब क्या कर्म मोक्ष-प्राप्ति में बिलकुल सहायक नहींहो सकते? वेदांत का उत्तर है कि कर्म 'आराद‌ुपकारक' या सहायक मात्र हैं। अच्छे कर्मों से चित्त-शुद्धि और विघ्नों का नाश होता है जिससे कि मुमुक्षु को शीघ्र ज्ञान हो जाता है। परंतु मुक्ति का 'नियतपूर्ववृत्ति' कारण ज्ञान ही है। गीता कहती है,

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

अर्थात् जो मुनि योगारूढ़ होना चाहता है उसे कर्मों से सहायता मिल सकती है, परंतु योगारूढ़ के लिये 'शम' (संन्यास ही साधन हैं। इस प्रकार कर्म दूरवर्त्ती उपकारक है और ज्ञान साक्षात् उपकारक है।

श्रुति का प्रतिपाद्य केवल कर्म या ब्रह्म भी?

अब हम दूसरे विवाद-ग्रस्त प्रश्न पर आते हैं। प्रभाकर का मत है कि वेद के सब वाक्य क्रिया-परक हैं, सब श्रुतियां 'कुछ करो' का उपदेश करती हैं, 'अमुक वस्तु का ऐसा स्वरूप या धर्म है' यह बतलाना श्रुति का उद्देश्य नहीं है। पारिभाषिक शब्दों में वेद में 'सिद्धवस्तु' के बोधक वाक्य नहीं हैं। प्रभाकर का मत है कि भाषा-ज्ञान बिना कार्य-परक वाक्यों के नहीं हो सकता। 'गाय लाओ' 'अश्व लाओ' इन दो वाक्यों से गाय और अश्व का भेद समझ में आता है। इसी प्रकार 'गाय लाओ' और 'गाय को बाँधो', इन आज्ञाओं का पालन होता हुआ देखकर बालक 'लाओ' और 'बाँधो' अर्थ-भेद जान सकता है। सारे सार्थक वाक्यों का

संबंध किसी कर्म या क्रिया से होना चाहिये। प्रत्येक शब्द का किसी क्रिया से संबंध रहता है जिससे कि उस शब्द का अर्थ-ज्ञान हुआ था।

अद्वैतवादी उत्तर दे सकता है कि आरंभ में शब्दों का अर्थ किसी प्रकार भी सीखा जाय, बाद को शब्दों का प्रयोग क्रिया की ओर संकेत किये बिना सर्वथा संभव है। कुमारिल इस तथ्य को समझता है, परंतु श्रुति आत्म-ज्ञान का साधन है, यह उसे भी स्वीकार नहीं है। अपने मत की पुष्टि के लिये कुमारिल ने 'प्रमाण व्यवस्था' की दुहाई दी है। प्रत्येक प्रमाण का विषय निश्चित है; एक प्रमाण का विषय दूसरे प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। प्रत्यक्ष का विषय श्रुति से जाना जाय यह उचित नहीं है। श्रुति का विषय खास तौर से, दूसरे प्रमाणों का अज्ञेय होना चाहिए। जहां प्रत्यक्षादि से काम चल जाय वहां श्रुति उद्धृत करने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि आत्मा एक सिद्ध वस्तु है, उसे दूसरे प्रमाणों से जाना जा सकता है; इसलिये आत्मा को श्रुति का प्रतिपाद्य मानना आवश्यक नहीं है।

'प्रमाण' का यह लक्षण वेदांत को भी स्वीकार है। वेदांत-परिभाषा के अनुसार।

अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्।

अनधिगत और अबाधित अर्थ-विषयकज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं। ऐसे ज्ञान का साधन 'प्रमाण' है। प्रमाण के इस लक्षण को 'भामती' भी स्वीकार करती है (अबाधितानधिगतासंदिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानाम्—१।१।४)। इस लक्षण के अनुसार श्रुति की विषय-वस्तु प्रमाणांतर से अज्ञेय होनी चाहिये। वेदांतियों का कथन है कि आत्मा का ज्ञान श्रुति की सहायता के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार 'ब्रह्म श्रुति का प्रतिपाद्य है' इसकी असंभावना नष्ट हो जाती है।

यदि श्रुति के सब वाक्यों को क्रिया-परक माना जाय तो निषेध-

वाक्य जैसे 'ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए', व्यर्थ हो जाएंगे। इस के अलावा श्रुति के पचासों वाक्यों की कार्य-परक व्याख्या संभव नहीं है। 'उस समय एक अद्वितीय सत् ही वर्त्तमान था' इस वाक्य की कार्य-परक व्याख्या नहीं हो सकती। 'मैं उस औपनिषद (उपनिषदों में वर्णित) पुरुष के विषय में पूछता हूँ' (तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि) इत्यादि से सिद्ध होता है कि उपनिषदों में मुख्यतया आत्म-तत्त्व का प्रतिपादन है।

श्री शंकराचार्य कहीं-कहीं कहते हैं कि ब्रह्म केवल श्रुति-द्वारा ज्ञेय है, अन्य प्रमाणों का विषय नहीं है।[1] अन्यत्र उनका कथन है कि 'सिद्ध वस्तु' होने के कारण ब्रह्म-विचार में श्रुति, प्रत्यक्षादि सब का प्रामाण्य है और सब का उपयोग होना चाहिये। ब्रह्म-ज्ञान का फल ही अनुभव-विशेष है।[2]

वेदांत में तर्क का स्थान

ब्रह्म-ज्ञान में प्रमाणों का क्या उपयोग है इसी से संबद्ध यह प्रश्न भी है कि वेदांतशास्त्र में तर्क का क्या स्थान है? इस विषय में भी शंकराचार्य ने परस्पर-विरोधी बातें कही हैं। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' सूत्र पर भाष्य करते हुए शंकर कहते हैं कि ब्रह्म जैसे गम्भीर विषय में तर्क को चुप रहना चाहिए क्योंकि तर्क अप्रतिष्ठित है। यह बहुधा देखा गया है कि एक तार्किक की युक्तियों का दूसरा अधिक चतुर तार्किक खण्डन कर डालता है। तर्क-ज्ञान आपस में विरोधी भी होते हैं—तर्क से परस्पर विरुद्ध बातें भी सिद्ध की जा सकती हैं।

---

[1] न च परिनिष्ठित वस्तु स्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादि विषयत्वं ब्रह्मणः। १, १, ४ (पृ० ६३)।

[2] श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथा संभवमिह प्रमाणम्, अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तु विषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य १,१,२ (पृ० ५२)

इस पर प्रतिपक्षी कहता है कि 'तर्क अप्रतिष्ठित है' यह भी तो बिना तर्क के सिद्ध नहीं हो सकता। न बिना तर्क के लोक-व्यवहार ही चल सकता है। शंकर उत्तर देते हैं कि कुछ विषयों में तर्क अवश्य उपयोगी होता है, पर ब्रह्म-विषय में नहीं।

दूसरे स्थानों में शंकर तर्क की प्रशंसा करते हैं। माण्डूक्य-कारिका (३।१) पर टीका करते हुए वे कहते हैं कि केवल तर्क से भी अद्वैत का बोध हो सकता है। गीता में 'ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता' ऐसा कहने वालों को डाँटते हुए वे कहते हैं :—

तथा च तदधिगमाय अनुमाने आगमे च सति ज्ञानं नोत्पद्यत इति साहसमेतत्। गीता २।२१।

अर्थात्—अनुमान और श्रुति के रहते हुए यह कहना कि ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता, साहसमात्र है। यहां आचार्य ने यह मान लिया है कि अनुमान प्रमाण ब्रह्म-ज्ञान में सहायक होता है। यहीं पर शंकर कहते हैं कि ब्रह्म इन्द्रियातीत भी नहीं है।

करणागोचरत्वादिति चेन्न शास्त्राचार्योपदेश शमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्।

शास्त्र और आचार्य के उपदेश और शम, दम आदि से शुद्ध किया हुआ मन आत्म-दर्शन का साधन होता है। प्रश्न यह है कि शंकर की इन विरोधी उक्तियों का सामंजस्य कैसे किया जाय?

डॉयसन आदि विद्वनों ने यह लक्षित किया है कि 'तर्क' की भरसक बुराई करते हुए भी शंकराचार्य ने अपने ग्रंथों में तर्क का स्वच्छंद प्रयोग किया है।[१] वस्तुतः शंकर की गणना संसार के श्रेष्ठतम तर्क-विशारदों में होनी चाहिए। फिर उनका तर्क के विरोध में इतना आग्रह क्यों है? इस प्रश्न के उठानेवाले इस बात को भुला देते हैं कि शंकर ने कहीं-कहीं तर्क

[१] सिस्टम आव् वेदांत, पृ० ९६

की प्रशंसा भी की है। प्रश्न शंकर की इन विभिन्न प्रवृत्तियों में संगति स्थापित करने का है।

शंकर के एक कथन से यह सिद्ध होता है कि वे तर्क को प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि) से भिन्न समझते थे। न्याय का भी यही मत है। वात्स्यायन की सम्मति में तर्क प्रमाणों से भिन्न प्रमाणों का अनुग्राहक (सहायक) मात्र है।[1] वेदांत सूत्र २,२, २८ में आचार्य विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं; कि 'जो प्रमाणों से जाना जाय वह संभव है, अन्यथा असंभव, संभवता और असंभवता प्रमाणों से निरपेक्ष नहीं जानी जा सकती। प्रमाण-सिद्ध वस्तु का संभावना-असंभावना के विचार से अपलाप नहीं हो सकता।'[2] जो बात अनुभव-सिद्ध है, जैसे बाह्य जगत की सत्ता, उसका तर्क से खण्डन नहीं किया जा सकता। इसलिए शंकर का मत है कि तर्क को विशृंखल नहीं हो जाना चाहिए। "श्रुति से अनुगृहीत तर्क का ही, अनुभव का अंग होने के कारण, आश्रय लिया जाता है।"[3] अभिप्राय यह है कि जो तर्क अनुभव पर आश्रित नहीं है, वह शुष्क, सरहीन अथवा अप्रतिष्ठित होता है पंचदशी कहती है:—

स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यताम् मा कुतर्क्यताम्

---

[1] तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं, प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्व-ज्ञानाय कल्पते। वात्स्यायन भाष्य, (चौखम्बा० डा० गंगानाथ झा द्वारा संपादित), पृ० ३२

[2] प्रमाणप्रवृत्यप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवावंवधार्येते न पुनः संभवासंभव पूर्विके प्रमाणप्रवृत्यप्रवृत्ती। सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादि विकल्पैर्न भवतीत्युच्येतोपलब्धेरेव? वे० भा० २, २, २८।

[3] श्रुत्यनुगृहीत एवह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते। वे० भा २, १, ६

नीचे अर्थात् अपने अनुभव के अनुसार तर्क करो, कुतर्क का जाल मत फैलाओ। शंकर के मत में निरंकुश तर्क की अपेक्षा अनुमान-मूलक तर्क अधिक प्रबल है। स्वयं अनुमान प्रत्यक्ष पर आश्रित है।[१] इस प्रकार प्रत्यक्ष या अनुभव वेदांत में अन्यतम प्रमाण है। वेदांत का प्रत्यक्ष-विषयक मत महत्त्व पूर्ण भी है। प्रमाणों में हम केवल इसी का वर्णन करेंगे। सांख्य और वेदांत के प्रत्यक्ष-संबंधी विचारों में बहुत समता है।

प्रत्यक्ष या अपरोक्ष

वेदांती प्रत्यक्ष प्रमाण को 'अपरोक्ष' कहना अधिक पसंद करते हैं। किसी प्रकार का भी साक्षात् ज्ञान (डाइरेक्ट एक्सपीरियेंस) प्रत्यक्ष या अपरोक्ष ज्ञान है। इंद्रिय-संनिकर्ष सर्वत्र आवश्यक नहीं है। सांख्य के मत में दस इंद्रियां और मन अहंकार का कार्य हैं, यहां उन्हें भौतिक माना जाता है। अंतःकरण भी भौतिक है। वेदांती मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को अंतःकरण-चतुष्टय कहते हैं; संशय, निश्चय, स्मरण और गर्व क्रमशः इनके धर्म हैं। एक ही अंतःकरण (आंतरिक इंद्रिय) के चार क्रियायें करने के कारण यह चार नाम हैं। चारों भूतों का कार्य होते हुए भी अंतःकरण में तेजस् तत्त्व की प्रधानता है। सुषुप्ति के अतिरिक्त सब दशाओं में अंतःकरण सक्रिय रहता है। सांख्य की तरह वेदांत में भी अंतःकरण की वृत्तियाँ मानी जाती हैं। पदार्थों प्रत्यक्ष वे में क्या होता है? अंतःकरण की वृत्ति, किरण की भाँति निकल कर पदार्थ का आकार धारण कर लेती है। सांख्य के पुरुष की तरह वेदांत की आत्मा अपने चैतन्य से वृत्तियों को प्रकाशित कर देती है और तब ज्ञान उत्पन्न होता है।

वेदांत में 'ज्ञान' का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक अर्थ में वृत्तियों

---

[१] प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य बृहदा० उप० भा० १।२।१

को प्रकाशित करनेवाला चेतन-तत्त्व ही जिसे साक्षि-चैतन्य कहते हैं, ज्ञान वा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है, बल्कि स्वरूप ही है। चेतन-तत्व ही ज्ञान है। इसप्रकार वेदांत का मत न्याय वैशेषिक से भिन्न है। दूसरे अर्थ में चैतन्य से प्रकाशित बुद्धि-वृत्ति ही ज्ञान है।[1] यह मत सांख्य के समान है। पहले अर्थ में ज्ञान नित्य, अखंड और निर्विकार है, दूसरे अर्थ में ज्ञान परिवर्तित होता रहरा है। पहले ज्ञान को 'साक्षि-ज्ञान' और दूसरे को 'वृत्ति-ज्ञान' कहते हैं। साक्षिज्ञान सुषुप्ति में भी बना रहता ; वृत्तिज्ञान द्रष्टा और दृश्य के संयोग का फल है।

वृत्तिज्ञान के अतिरिक्त भी अंतःकरण के परिणाम होते हैं; सुख, दुख आदि ऐसे ही परिणाम हैं। सुख,दुख का ज्ञान भी वृत्तियों द्वारा होता है, परंतु उनके ज्ञान में वृत्ति को 'बाहर' नहीं जाना पड़ता। सुख-दुख का ज्ञान भी प्रत्यक्ष-ज्ञान है, इसीलिये इंद्रिय-अर्थ संनिकर्ष प्रत्यक्ष के लिये आवश्यक नहीं माना गया। वृत्ति का विषयाकार हो जाना ही प्रत्यक्ष हेतु है। वेदांत का निश्चित सिद्धांत है कि ज्ञान निर्विषयक नहीं होता मिथ्याज्ञान का भी 'विषय' होता है। 'प्रत्यक्ष' या 'अपरोक्ष' ज्ञान में ज्ञेय वस्तु की सत्ता अवश्य होती है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञेय वस्तु का इंद्रियों से ही ग्रहण हो। जीव का अपना स्वयं प्रत्यक्ष होता है परंतु, इसी कारण 'अहंप्रत्यय' को इंद्रियों का विषय नहीं कह सकते। स्वप्न-दशा में केवल सूक्ष्म शरीर सक्रिय होता है और स्थूल शरीर से संयोग छूट जाता है। आप पूछ सकते हैं कि, क्या स्वप्न-प्रत्यक्ष में भी ज्ञेय वस्तुओं कीसत्ता होती है? आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि वेदांत का उत्तर स्वीकारात्मक है। सुषुप्ति-दशा में सूक्ष्म-शरीर का साथ भी छूट

---

[1] तु० की० विवरण— सांख्य वेदांतिनां करणव्युत्पत्या बुद्धिवृत्ति भावव्युत्पत्या संवेदनमिति पृ० १७४।

जाता है और कारण-शरीर मात्र रह जाता है। कारण-शरीर से अभिप्राय साक्षी की अज्ञानोपाधि से है। सुषुप्ति-दशा में सूक्ष्म-शरीर या लिंग-शरीर अविद्या में लय हो जाता है। साक्षि-चैतन्य का सूक्ष्म-शरीर से संबंध होना ही 'जीव' की सत्ता का हेतु है। सुषुप्ति-अवस्था में वस्तुतः जीव की, जो कि कर्त्ता और भोक्ता है, सत्ता नहीं रहती। उपनिषद् में लिखा है कि सब प्राणी प्रतिदिन सत् (ब्रह्म) से संपन्न होते हैं, पर इसे जानते नहीं। सुषुप्ति में मनुष्य को, बल्कि हर प्राणी को, ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है (समाधिसुषुप्तिमुक्तिषु ब्रह्मरूपता) अन्तःकरण के निष्क्रिय हो जाने के कारण सुषुप्ति में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता।

उपाधि का अर्थ

हम ने कहा कि सुषुप्ति-अवस्था में केवल अज्ञान की उपाधि रह जाती है। यहां उपाधि का अर्थ समझ लेना चाहिए। यदि 'क' नामक वस्तु 'ख' नामक वस्तु से संसक्त हो कर 'ख' में अपने गुणों का आरोपण कर दे तो 'क' को 'ख' की उपाधि कहा जायगा (स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिणि स्वधर्मासंज्ञक उपाधिः; उप समीपे स्थित्वा स्वयं रूपमन्यत्रादधातीत्युपाधिः)। आकाश व्यापक है, परन्तु घट में जो आकाश है वह परिच्छिन्न है। शास्त्रीय भाषा में हम कह सकते हैं कि घट की उपाधि से आकाश परिच्छिन्न हो जाता है। घटाकाश, मठाकाश आदि उपाधि-सहित आकाश की संज्ञाएं हैं। इसी प्रकार अविद्या या माया की उपाधि से वेदांत का 'ब्रह्म' 'जीव' बन जाता है।

ऊपर कहा गया है कि वेदांत के मत में स्वप्न के ज्ञेय-पदार्थों की भी सत्ता होती है। यह सत्ता किस प्रकार की है, यह आगे बतालाया जायगा। भ्रम के पदार्थ की भी सत्ता होती है। शुक्ति में जो रजत दिख-

लाई देती है, रज्जु में जो सर्प दीखता है उनका भी अस्तित्त्व होता है। ज्ञान बिना विषय के नहीं होता, इस सिद्धांत को अच्छी तरह याद रखना चाहिये।

नैयायिकों और बौद्धों को दी हुई सत्पदार्थ की परिभाषा हम देख चुके हैं। वेदांतियों ने भी सत् की अलग परिभाषा की है। जिसकी सत्ता हो उसे सत्पदार्थ नहीं कहते।[1] सत्पदार्थ उसे कहते हैं जिसका तीनों कालों में 'बाध' न हो। तीनों कालों में स्थिर रहनेवाली वस्तु 'सत्' है। जिसकी कभी, तीनों कालों में प्रतीति न हो वह 'असत्' है। वेदांतियों के मत में केवल ब्रह्म ही सत्पदार्थ है। खपुष्प और बंध्यापुत्र असत्पदार्थों के उदाहरण हैं।

अनिर्वचनीय-ख्याति

शुक्ति में जो रजत प्रतीत होती है वह न सत् है, न असत्। शुक्ति रजत को सत् नहीं कह सकते क्योंकि बाद को शुक्तिका-ज्ञान से उसका 'बाध' हो जाता है; उसे असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि उसकी प्रतीति होती है। सत्ख्याति (रामानुज की) और असत्ख्याति (शून्य-बादी की) दोनों ही भ्रम की ठीक व्याख्याएं नहीं हैं। अख्याति, अन्यथा-ख्याति और विपरीतख्याति भी सदोष हैं। वेदांत के मत में भ्रम की व्याख्या अनिर्वचनीय- ख्याति से ठीक-ठीक हो सकती है। भ्रम में जो पदार्थ दीखता है वह 'अनिर्वचनीय' है।

अनिर्वचनीय एक पारिभाषिक शब्द है; पाठकों को इसका अर्थ ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए। लोक में अनिर्वचनीय का अर्थ अवर्णनीय समझा जाता है; इसीलिए प्रायः आत्मा या ब्रह्म को अनिर्वचनीय कह

---

[1] न प्रकाशमानतामात्रं सत्वम्—भामती

दिया जाता है। वास्तव में ब्रह्म अनिर्वचनीय नहीं है। जो वस्तु सत् भी न कही जा सके और असत् भी न कही जा सके उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। अनिर्वचनीय का अर्थ है 'सदसद्-विलक्षण' (सत् और असत् से भिन्न)। ब्रह्म तो सत् है, अनिर्वचनीय नहीं। वेदांती लोग माया या अविद्या को अनिर्वचनीय कहते हैं। माया या अज्ञान का वर्णन न सत् कहकर हो सकता है, न असत् कहकर; सत्त्व और असत्त्व से वह अनिर्वचनीय है। भ्रांत-ज्ञान में जो पदार्थ दीखता है वह भी अनिर्वचनीय है अर्थात् अनिर्वचनीय अविद्या माया या अज्ञान का कार्य है। इसी प्रकार स्वप्न के पदार्थ भी अनिर्वाच्य हैं। यही नहीं जाग्रतावस्था के पदार्थ भी मायामय हैं, अनिर्वचनीय हैं। यही वेदांत का मायावाद है। पाठक याद रक्खें, वेदांत यह नहीं कहता कि जगत् है ही नहीं अथवा जगत् के पदार्थों की सत्ता नहीं है। यदि ऐसा होता तो जगत् अनिर्वचनीय न हो कर असत् होता, जैसा कि माध्यमिक का मत बतलाया जाता है। जगत् मिथ्या है शून्य नहीं, अनिर्वचनीय है; असत् नहीं। शून्यत्व और मिथ्यात्व में भेद है इसलिये शून्यवाद और अनिर्वचनीयवाद भी भिन्न-भिन्न हैं।

विवर्त्तवाद

वेदांत का कारणता-संबंधी सिद्धांत 'विवर्त्तवाद' कहलाता है। हम देख चुके हैं कि नैयायिक का असत्कार्यवाद और सांख्य का सत्कार्यवाद दोनों कठिनाई में डाल देते हैं, दोनों सदोष हैं। इसलिये वेदांत का कथन है कि उत्पत्ति से पहले कार्य को न तो नैयायिकों की तरह असत् मानना चाहिए, न सांख्यों की तरह सत्। कार्य वास्तव में अनिर्वचनीय होता है। सत् कारण से अनिर्वचनीय कार्य उत्पन्न होता है। अनिर्वचनीय कार्य का पारिभाषिक नाम 'विवर्त्त' है। परिणामवाद (जो कि सांख्य का सिद्धांत है) और विवर्त्तवाद में क्या भेद है इसे वेदांत परिभाषा इस प्रकार बतलाती है।

परिणामो नामोपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः ।
विवर्त्तो नामोपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः ।[1]

अर्थात्—उपादान कारण का सदृश कार्य परिणाम कहलाता है और विषम कार्य विवर्त्त । यह सादृश्य और विषमता सत्ता की श्रेणी या प्रकार में होती है । दही दूध का परिणाम है और सर्प रस्सी का विवर्त्त । दही और दूध की सत्ता एक प्रकार की है, सर्प और रस्सी की दो प्रकार की। सर्प की सत्ता केवल कल्पना में है; देश और काल में नहीं ।

तीन प्रकार की सत्ताएं

ब्रह्म की सत्ता 'पारमार्थिक' या तात्त्विक सत्ता है; इस सत्ता का कभी 'बाध' नहीं होता । स्वप्न के पदार्थों की 'प्रातिभासिक' सत्ता है, शुक्ति में दीखनेवाली रजत की सत्ता भी ऐसी ही है । 'प्रातिभासिक' सत्तावाले पदार्थ सब देखनेवालों के लिये एक-से नहीं होते, उन्हें लेकर व्यवहार नहीं किया जा सकता । जगत् के कुर्सी, मेज़, वृक्ष आदि पदार्थों की 'व्यावहारिक' सत्ता है जो सब देखनेवालों के लिये एक-सी है । स्वप्न और भ्रम के पदार्थों का बाध या नाश जाग्रतावस्था या ठीक व्यावहारिक ज्ञान से हो जाता है । जाग्रतावस्था के पदार्थ भी, जिनकी व्यावहारिक सत्ता है, तत्त्वज्ञान होने पर नष्ट हो जाते हैं । वास्तविक ज्ञानी के लिये ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सत्पदार्थ नहीं है । जैसे जागे हुये के लिये स्वप्न के पदार्थ झूठे हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञानी के लिये जगत् मिथ्या हो जाता है। अब पाठक 'विवर्त्त' का अर्थ समझ गये होंगे । सर्प रस्सी का विवर्त्त है क्योंकि उसकी सत्ता

---

[1] पृष्ठ १४१ वेदांतसार में लिखा है:—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदीरितः ।

रस्सी से भिन्न प्रकार की है—रस्सी की व्यावहारिक सत्ता है और सर्प की प्रातिभासिक। इसी प्रकार जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है, ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है और जगत् की व्यावहारिक।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से व्यावहारिक सत्तावाले जगत् के पदार्थों का ज्ञान हो सकता है; ब्रह्म के ज्ञान के लिए श्रुति ही एक मात्र अवलंब हैं। उपनिषदों में जो परा और अपरा विद्याओं का भेद किया गया है, वह शंकर को स्वीकार है। अपरा विद्या की दृष्टि से जीव और जड़ पदार्थ बहुत से हैं, संसार में भेद है। इसके बिना व्यवहार नहीं चल सकता, इसलिए इसे व्यावहारिक ज्ञान भी कह सकते हैं। सब जीवों की एकता और विश्व-तत्त्व के ऐक्य का ज्ञान परा विद्या है। क्योंकि उपनिषद् इस ज्ञान की शिक्षा देते हैं, इस-लिए उपनिषदों की भी 'परा विद्या' संज्ञा है। परा विद्या वह है जिससे ब्रह्म का ज्ञान हो (अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते)। इस प्रकार 'पारमार्थिक ज्ञान' और 'व्यावहारिक ज्ञान' में भेद है। अद्वैत-दर्शन में इस भेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तर्काप्रतिष्ठानात्—सूत्र की व्याख्या में शंकराचार्य कहते हैं कि एक तार्किक की युक्तियों का दूसरा तार्किक खंडन कर डालता है। संसार के तीनों कालों के तार्किकों को इकट्ठा करना संभव नहीं है जिससे कि सत्य का निश्चय किया जा सके। इसलिए तर्क अप्रतिष्ठित है। श्रुति और तर्क में विरोध होने पर तर्क को त्याग देना चाहिये।

श्रुति कहती है कि विश्व में एक ही चेतन तत्त्व है जिसको जानने से सब कुछ जाना जाता है। यह तत्त्व सत्, चित् और आनंद स्वरूप है। परंतु हमारा व्यावहारिक ज्ञान इसके विरुद्ध साक्षी देता है, इसका क्या कारण है? शंकर का उत्तर है कि इसका कारण 'अध्यास' या मिथ्याज्ञान है।

'जो जैसा न हो उसे वैसा जानना' यह अध्यास का लक्षण है। एक वस्तु में दूसरी वस्तु के गुणों का आरोप और प्रतीति अध्यास है। रज्जु में सर्प का दीखना, शुक्ति में रजत की प्रतीति, रेते में जल का अनुभव यह सब अध्यास के उदाहरण हैं। अध्यास का अर्थ है मिथ्याज्ञान (एतावता मिथ्या ज्ञानमित्युक्तं भवति—भामती)। श्री शंकराचार्य ने अध्यास का लक्षण 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः'[1] किया है। स्मृति-ज्ञान में ज्ञान का विषय उपस्थित नहीं होता, इसी प्रकार मिथ्याज्ञान का विषय भी सद्रूप से वर्तमान नहीं होता। स्वप्न-ज्ञान भी अध्यास-रूप है। यथार्थ ज्ञान में ज्ञान का विषय जैसा जाना जाता है वैसा उपस्थिति होता है, उसका कारण परिच्छिन्नता, अनेकता और दुःख की प्रतीति होती है, उसका कारण अध्यास है। अज्ञानवश हम आत्मा में अनात्मा के गुणों का आरोप कर डालते हैं और अनात्मा में आत्मा के। हम आत्मा को सुखी, दुःखी, कृश और स्थूल कहते हैं तथा देह को चेतन। यह जड़ और चेतन का परस्पराध्यास है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार का अध्यास कब और कैसे संभव हो सका। पहले प्रश्न के उत्तर में शंकर का कथन है कि यह अध्यास अनादि और नैसर्गिक है (स्वाभाविकोऽनादिरयं व्यवहारः—वाचस्पति)। दूसरा प्रश्न यह है—आत्मा में अनात्मा का अध्यास संभव कैसे है? शंकर के शब्दों में,

कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्। सर्वोहि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि।

---

[1] वेदांत भाष्य भूमिका।

उच्यते, न तावदयमेकान्तेनाविषयः; अस्मत्प्रत्यय विषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः ।[1]

प्रश्न-कर्त्ता कहता है कि आत्मा में विषय का, जड़ जगत् का अध्यास कैसे होता है, यह समझ में नहीं आता। जो वस्तु सामने होती है उसी में दूसरी वस्तु का अध्यास किया जा सकता है, रस्सी के सम्मुख होने पर ही उसमें सर्प का भ्रम हो सकता है; आपके कथनानुसार तो आत्मा विषय नहीं है, प्रमाणों से ज्ञेय नहीं है, फिर उसमें जड़ जगत् और उसके धर्मों का अध्यास कैसे संभव है ?

उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा ज्ञान का विषय ही न हो, ऐसा नहीं है। यह ठीक है कि आत्मा अन्य विषयों की तरह नहीं जानी जाती, परंतु वह अस्मत्प्रत्यय का विषय है। 'मैं हूँ' इस ज्ञान में आत्म-प्रतीति होती है। चैतन्यमय आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान भी है।

यदि चिदात्मा को अपरोक्ष न मानें तो उसके प्रथित (प्रसिद्ध, ज्ञात) न होने से सारा जगत् भी प्रथित न हो सकेगा और सब कुछ अंध या अप्रकाश हो जायगा (वाचस्पति)। जगत् जड़ है, वह स्वतः प्रकाशित नहीं है, यदि आत्मा को भी स्वतः-प्रकाशित न मानें तो जगत् में कहीं भी प्रकाश न मिल सकेगा।

पाठक देखेंगे कि शंकराचार्य की इन पंक्तियों में आत्म-सत्ता सिद्धि के लिए एक विशेष प्रकार की युक्ति का प्रयोग किया गया है। मीमांसकों से शास्त्रार्थ करते समय वेदांती लेखक कह देते हैं कि आत्मा श्रुति के बिना ज्ञेय नहीं है। इसका अभिप्राय यही समझना चाहिए कि आत्मा

[1] वही भूमिका ।

का स्वरूप श्रुति की सहायता बिना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता। परंतु आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए श्रुति की अपेक्षा नहीं हैं; आत्मसत्ता की सिद्धि शब्द प्रमाण पर निर्भर नहीं है। फिर क्या आत्म-सिद्धि के लिए किसी और प्रमाण से कांम लेना पड़ेगा? वेदांत का उत्तर है, नहीं। आत्मा स्वयं-सिद्ध है, वह किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं करती।

आत्मा की स्वयं-सिद्धता

जैन-दर्शन, न्याय- वैशेषिक, सांख्य योग और मीमांसा में भी आत्म-सत्ता को अनुमान द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। आत्मा को शरीर, इंद्रियों और मन से भिन्न भी सिद्ध किया गया है। परंतु वेदांत आत्म-सत्ता की सिद्धि में अनुमान का प्रयोग नहीं करता। जिस अनुमान से आप आज आत्मा को सिद्ध करना चाहते हैं उसमें कल कोई आप से बड़ा तार्किक दोष निकाल सकता हैं। ईश्वर के अनुमान में संसार के विचारकों का एक मत आज तक न हो सका। इसलिए वेदांत-दर्शन अपने चरम-तत्त्व आत्मा की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण पर निर्भर नहीं रहना चाहता।

परंतु किसी न किसी प्रकार की युक्ति तो देनी ही पड़ेगी। इस युक्ति का निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। संसार के सारे विचारक एक बात पर एक मत हैं, वह यह कि हमें किसी न किसी प्रकार का अनुभव अवश्य होता है। जीवन अनुभूतिमय है; रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सुख, दुःख आदि का अनुभव, अपनी चेतना का अनुभव, यह जीवन की साधारण घटनाएं हैं। इस घटना के दृढ़ आधार (नींव) पर खड़े होकर हमें दार्शनिक प्रक्रिया का आरंभ करना चाहिए। वेदांत का कथन है कि किसी प्रकार का भी अनुभव य अनुभूति चैतन्य-तत्व के बिना नहीं हो सकती।

यदि ज्ञेय की तरह ज्ञाता भी जड़ है, तो ज्ञान या चैतन्य की किरण कहां से फूट पड़ती है ? विश्व-ब्रह्मांड से अनुभव-कर्त्ता को निकाल दीजिए और आप देखेंगे कि संसार में प्रकाश नहीं है, ज्ञान नहीं है, ऐक्य नहीं है, भेद नहीं है। चेतन-तत्त्व के बिना विश्व नेत्रहीन हो जायगा (प्राप्त-मान्ध्यमशेषस्य जगतः—वाचस्पति)। इसलिए यदि आप चाहते हैं कि आपका प्रमाण-प्रमेय व्यवहार चलता रहे, आपके तर्क सार्थक हों, तो आपको आत्मतत्त्व की स्वयं-सिद्धता को स्वीकार कर लेना चाहिए। आत्मा को माने बिना किसी प्रकार का अनुभव संभव नहीं हो सकता, इसलिए आत्मा की सत्ता अनुभव या अनुभूति (एक्सपीरियेंस) की सत्ता में ओतप्रोत है। आत्मा व्यापक है और अनुभव व्याप्य;व्यापक के बिना व्याप्यनहीं रह सकता । अग्नि के बिना धूम की सत्ता संभव नहीं है, यह तर्कशास्त्र का साधारण नियम है। श्री शंकराचार्य लिखते हैं :—

आत्मत्वाच्चात्मनोनिराकरणशंकानुपपत्तिः ! नह्यात्माऽऽगंतुकः कस्यचित्, स्वयं सिद्धत्वात्। नह्यात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति। तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यन्याप्रसिद्धप्रमेयसिद्धय उपादीयंते। ... आत्मातु प्रमाणादि व्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादि व्यवहारात् सिध्यति न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगंतुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरुपम्। य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते। (वेदांत-भाष्य, २।३।७)

इस महत्त्वपूर्ण वाक्य-समूह को हमने उसके सौंदर्य और स्पष्टता के कारण विस्तार से उद्धृत किया है। इसका अर्थ यही है कि 'आत्मा होने के कारण ही आत्मा का निराकरण संभव नहीं है। आत्मा बाहर की चीज़ नहीं है, वह स्वयं-सिद्ध है। आत्मा आत्मा के प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रयोग आत्मा

अपने से भिन्न पदार्थों की सिद्धि में करता है। आत्मा तो प्रमाणादि व्यवहार का आश्रय है, और प्रमाणों के व्यवहार से पहले ही सिद्ध है। आगंतुक (आई हुई, बाह्य) वस्तु का ही निराकरण होता है न कि अपने रूप का। यह आत्मा तो निराकरण करनेवाले का ही अपना स्वरूप है। अग्नि अपनी उष्णता का निराकरण कैसे कर सकती है ?'

आगे आचार्य कहते हैं कि आत्मा 'सर्वदा-वर्त्तमान-स्वभाव' है, उसका कभी अन्यथा-भाव नहीं होता। पहले सूत्र की व्याख्या में ब्रह्म की सिद्धि भी इसी प्रकार की गई है। सब की आत्मा होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्त्व प्रसिद्ध ही है (सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्व-प्रसिद्धिः—१।१।१)। आत्मा ही ब्रह्म है। इस प्रकार वेदांत से विश्व-तत्त्व की सत्ता स्वयं-सिद्ध है। जो आत्मा और परमात्मा में भेद मानते हैं वे ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता त्रिकाल में भी सिद्ध नहीं कर सकते।

यह विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आत्मा की सिद्धि के लिए वेदांत ने जो युक्ति दी है वह दर्शनशास्त्र का अंतिम तर्क है। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कांएट ने शंकर के ग्यारह सौ वर्ष बाद इसी तर्क से 'ईग' या अनुभव-केन्द्र (युनिटी ऑव ऐपर्सेप्शन) की सिद्धि की है। केवल इस युक्ति के आविष्कार के कारण ही कांएट का स्थान योरुप के धुरंधर दार्शनिकों में है। काएट की युक्ति ट्रांसेंडेएटल युक्ति कही जाती है। शंकर ने इस युक्ति का प्रयोग कई जगह किया है, यद्यपि उसे कोई विशेष नाम नहीं दिया है। शंकर के अनुयायी भी इस युक्ति के महत्त्व को भली प्रकार समझते थे। सुरेश्वराचार्य कहते हैः—

यतोराद्धिःप्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति

अर्थात् जिससे प्रमाणों की सिद्धि होती है वह प्रमाणों से कैसे सिद्ध होगा ? प्रमाता के बिना प्रमाणों की चर्चा व्यर्थ है। याज्ञवल्क्य ने कहा

था—विज्ञातारमरे केन विजानीयात्, जो सब को जाननेवाला है उसे किस प्रकार जाना जा सकता है। सूर्य के लिये प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। प्रमाणों के प्रकाशक आत्मा को प्रमाण प्रकाशित नहीं कर सकते।

आत्मा की स्वयं-सिद्धता वेदांत की भारतीय दर्शन को सब से बड़ी देन है। भारत के किसी दूसरे दर्शन ने इस महत्त्वपूर्ण विषय पर ज़ोर नहीं दिया। जहां तार्किक-शिरोमणि नैयायिक अनुमान के भरोसे बैठे रहे, वहां वेदांतियों ने विश्व-तत्त्व को आत्म-तत्त्व से एक बताकर स्वतःसिद्ध कथन कर डाला।

आत्मा की सत्ता तो स्वयं-सिद्ध है परंतु आत्मा का विशेष ज्ञान श्रुति पर निर्भर है, यह शंकराचार्य का सिद्धांत है। उनके अनुयायियों ने आत्मा के स्वरूप को अनुमान द्वारा पकड़ने की कोशिश की है। आत्मा सत् और चित् है यह तो आत्म-सत्ता के साथ ही सिद्ध हो जाता है; आत्मा आनंद स्वरूप भी है, यह श्रुति और अनुमान के बल पर सिद्ध किया गया है। संक्षेप शारीरक के लेखक श्री सर्वज्ञात्म मुनि ने आत्मा की आनन्द-रूपता सिद्ध करने की दो युक्तियां दी हैं।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा सुखस्वरुप इसलिये है कि उसका और सुख का लक्षण एक ही है; सुख का लक्षण आत्मा में घटता है। "जो वस्तु अपनी सत्ता से ही परार्थता को छोड़ देती है उसे सुख कहते हैं।" सब पदार्थों की कामना सुख के लिये की जाती है परंतु सुख की कामना किसी अन्य वस्तु के लिये नहीं होती, स्वयं सुख के लिये ही होती है। इसलिए सुख वह है जो परार्थ या दूसरे के लिये नहीं है। सुख का यह लक्षण आत्मा में भी वर्त्तमान है, इसलिए आत्मा सुख-स्वरूप है।

सब चीजें आत्मा के लिये हैं, आत्मा किसी के लिये नहीं है (संक्षेप शारीरक, १।२४)।

सुख का दूसरा लक्षण यह है कि उसमें भी उपाधि-हीन प्रेम होता है; अन्य वस्तुओं का प्रेम औपाधिक है। आत्मा में भी उपाधि-शून्य प्रेम होता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आत्मा के लिये ही सब वस्तुएं, पिता, पुत्र, भार्या, धन आदि, प्रिय होते हैं। इस युक्ति से भी आत्मा आनंद स्वरूप है। (१।२५)।

श्री सुरेश्वराचार्य ने आत्मा की आनंदमयता या दुःख-शून्यता सिद्ध करने के लिये दूसरी युक्ति दी है। वे कहते हैं :—

> दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्।
> दुःखिनः साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दुःखिता तथा।
> नर्तेस्याद् विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः।
> धीविक्रिया सहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः।
>
> (नैष्कर्म्यसिद्धि, २। ७६, ७७)

यदि आत्मा को दुःखी माना जाय तो दुःखी होने का, अथवा 'मैं दुःखी हूँ, इसका साक्षी कौन होगा ? जो दुःखी है वह साक्षी (द्रष्टा) नहीं हो सकता और साक्षी को दुःखी मानना ठीक नहीं। बिना विकार के आत्मा दुःखी नहीं हो सकता, और यदि आत्मा विकारी है तो वह साक्षी नहीं हो सकता। बुद्धि के हजारों विकारों का मैं साक्षी हूं इसलिये मैं विकार-हीन हूँ, यह सिद्धांत सांख्य के अनुकूल ही है।

यदि वास्तव में आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव है तो उसमें अनित्यता, अशुद्धि, अल्पज्ञता और बंधन का दर्शन झूठा होना चाहिए। अध्यास के सद्भाव में यही युक्ति है। यही नहीं अनुभव भी अध्यास की विद्यमानता की गवाही देता है। उपनिषद् ऋषियों के

अनुभव का शब्दमय वर्णन मात्र हैं। ऋषियों या आप्तों के अनुभवों का कोई भी साधक अपने जीवन में साक्षात् कर सकता है। वेदांत की दृष्टि में सब प्रमाणों की अपेक्षा अपना अनुभव अधिक विश्वसनीय है। ब्रह्मज्ञान तभी सार्थक है जब अपने साथ विश्व-तत्त्व की एकता का व्यावहारिक अनुभव लाए। वास्तविक ज्ञान जीवन को प्राभावित करता है; वह साधारण व्यक्ति को गीता का स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त बना देता है।

अध्यास के लिये यह आवश्यक नहीं हैं कि अध्यास के अधिष्ठान (शुक्ति) और अध्यस्त पदार्थ (रजत) में समता या सादृश्य ही हो। आत्मा में मनुष्यत्व, पशुत्व, ब्राह्मणत्व आदि का अध्यास होता है, परंतु आत्मा और मनुष्यत्व पशुत्व, या ब्राह्मणत्त्व में कोई सादृश्य नहीं है। इसी प्रकार विषय दोष या करण दोष (इंद्रियादि का दोष) भी अपेक्षित नहीं है। अध्यस्त वस्तु का पूर्व संस्कार भी ज़रूरी नहीं है।[1] अध्यास का पुष्कल कारण अज्ञान है; अज्ञान की सत्ता अध्यास को जन्म देने को यथेष्ट है। अज्ञान, अविद्या या माया यही अध्यास का बीज है।

यदि एक निर्गुण निरंजन, निर्विकार ब्रह्म ही वास्तविक तत्त्व है तो

माया

यह जगत् कहां से आया? एक से अनेक की उत्पत्ति कैसे हुई? भेद-शून्य से भेदों की सृष्टि कैसे हुई? पर्वत नदी, वृक्ष, तरह-तरह के जीवित प्राणी एक निर्विशेष तत्त्व में से कैसे निकल पड़े? एक और अनेक में क्या संबंध है मानव-जाति एक है और मनुष्य अनेक इन अनेक; मनुष्यों में जो मनुष्यत्व

---

[1] दे० संक्षेप शारीरिक, १।२८-३०

की एकता है उसका क्या स्वरूप है? यह दर्शनशास्त्र की प्रथम और अंतिम समस्या है; मस्तिष्क को उलझन में डालनेवाली यह प्रमुख पहेली है। न एकता से इनकार करते बनता है न अनेकता से, और दोनों में संबंध सोचना असंभव मालूम पड़ता है। हजारों प्राणियों में एक-सी प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। जीव-विज्ञान बतलाता है कि प्राणियों की असंख्य जातियों के असंख्य व्यक्तियों में एक ही जीवन-धारा प्रवाहित हो रही है। जातियों के भेद तात्त्विक नहीं हैं; एक जाति दूसरी जाति में परिवर्तित हो जाती है। प्राणि-वर्गों का यह जाति-परिवर्त्तन ही विकास है। मछली और बन्दर धीरे-धीरे मनुष्य बन जाते हैं। हमारा प्रश्न यह था कि प्राणियों के भेदों में व्यापक जीवन की यह एकता क्या है, उसे कैसे समझा जा सकता है?

कविता लिखकर कवि निश्चल नही बैठ सकता, अपनी कविता उसे किसी को सुनानी ही पड़ेगी। आलोचकों की झिड़कियां सहकर भी साहित्यकार साहित्य-रचना से बाज़ नहीं आ सकता। जेल जाकर भी गेलिलिओ को यह घोषणा करनी ही पड़ी कि पृथ्वी सूर्यमंडल के चारों ओर घूमती है। हम अपने सत्य और सौंदर्य के अनुभव को छिपाकर नहीं रख सकते। हमें विधाता ने ही परमुखापेक्षी बनाया है। समाज के बिना हम जीवित नहीं रह सकते। एकांत वास का आनंद मनुष्य के लिये नहीं है। योगी भी किसी से योग चाहता है। हम पूछते हैं कि हम में एक-दूसरे के अंतर में प्रवेश करने की इतनी प्रबल उत्कंठा क्यों है? कौन शक्ति हमें एकता के सूत्र में बांधे हुये है? और हम में भेद क्यों है, हम संघर्ष और घृणा-द्वेष में क्यों फँसते हैं, यह भी विचारणीय विषय है।

वेदांत का उत्तर है कि जगत् के दो कारण हैं; एक तात्त्विक और

दूसरा अतात्त्विक या अनिर्वचनीय। अभेद का कारण हम में ब्रह्म की उपस्थिति है और भेद का कारण हमारी अविद्या है। एक ब्रह्म की सत्ता खंड-खंड होकर दीखती है। नाम-रूप के योग से एक अनेक हो जाता है। ब्रह्म जगत् का विवर्त्त कारण है और विश्व के विवर्त्तों का कारण अविद्या या माया है। सांख्य की प्रकृति के समान माया जगत् का उपादान कारण है। जगत् माया का परिणाम है और ब्रह्म का विवर्त्त। कुछ विद्वान् यों भी कहते हैं कि माया-सचिव (मायायुक्त) ब्रह्म ही जगत् का कारण है। मूल बात यह है कि माया की उपस्थिति के कारण निर्गुण और अखंड ब्रह्म नामरूपात्मक जगत् के रूप में परिवर्तित प्रतीत होने लगता है।

माया या अविद्या मेरी या आपकी चीज़ नहीं है; वह सार्वजनिक और सार्वभौम है; वह ब्रह्म की चीज़ है। माया को मैंने या आपने नहीं बुलाया, वह अनादि है और स्वाभाविक है। आप में और मुझ में भेद डालने वाली यह माया कब और कहां से आई, यह कोई नहीं बता सकता। आपको पाठक और मुझे लेखक किसने बनाया, कोई नहीं कह सकता। स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, ईंट और पत्थर का भेद माया की सृष्टि है। यह माया न सत् है न असत्, यह अनिर्वचनीय है। माया का कार्य जगत् भी अनिर्वचनीय है। सर राधाकृष्णन् कहते हैं कि माया वेदांतियों की 'ब्रह्म और जगत् में संबंध बता सकने की अशक्ति या 'अक्षमता' का नाम है। क्रिश्चियन लेखक अर्कहार्ट कहता है कि रहस्यवादी की एकता की अनुभूति उसे भेदों को 'माया' कहने को बाध्य करती है।[1]

---

[1] वेदांत एण्ड माडर्न थाट, पृ० १०६

जो अनादि और भावरूप (पाज़िटिव) है, जो ज्ञान से नष्ट हो जाती है, जो सत् और असत् से विलक्षण है, वह अज्ञान है, वह माया है। 'भावरूप' का अर्थ यही है कि माया 'अभावरूप' नहीं है, उसकी सत्ता है (अभावविलक्षणत्त्वमात्रं विवक्षितम्)।

माया या अज्ञान में दो शक्तियां हैं, एक आवरण-शक्ति और दूसरी विक्षेप शक्ति। अपनी पहली शक्ति के कारण माया आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है; अपनी दूसरी शक्ति के बल पर वह जगत् के पदार्थों की सृष्टि करती है। श्री सर्वज्ञमुनि कहते हैं।

> आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपम्
> जीवेश्वरत्व जगदाकृतिभिर्मृषैव।
> अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगात्
> आत्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन ॥ सं० शारीरक १।२०।

अर्थात् आत्म-विषयक और आत्माश्रयी अज्ञान आत्मा के ज्योतिर्मय रूप को ढक कर अपनी विभ्रमशक्ति से आत्म-तत्व को जीव, ईश्वर और जगत् की आकृतियों में विक्षिप्त कर देता है। सर्वज्ञमुनि के गुरु सुरेश्वराचार्य भी अज्ञान शब्द का प्रयोग करना पसंद करते हैं।

अज्ञान का आश्रय और विषय

थोड़ी देर के लिये हम भी 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग करेंगे। अज्ञान अनादि और भावरूप है, यह ऊपर कहा जा चुका है। प्रश्न यह है कि (१) अज्ञान रहता कहां है, अज्ञान का आश्रय क्या है; और (२) अज्ञान किसका है, अज्ञान का विषय क्या है। अज्ञान ब्रह्म का है, या ब्रह्म-विषयक है, इस विषय में प्रायः मतैक्य है। वाचस्पति के मत में अज्ञान का आश्रय जीव है; सुरेश्वर, सर्वज्ञमुनि और विवरणकार की सम्मति में अज्ञान का आश्रय और विषय दोनों ब्रह्म है। (आश्रयत्वविषयत्वभागिनी,

निर्विभाग चितिरेव केवला—सर्वज्ञमुनि)। संक्षेप-शारीरक में वाचस्पति के मत का खण्डन किया गया है। सर्वज्ञमुनि कहते हैं,

पूर्वसिद्धतमसोहि पश्चिमो
नाश्रयो भवति, नापि गोचरः ।१।३१६।

अज्ञान जीव से पहले की वस्तु है और जीव का कारण है; अज्ञान पूर्व-सिद्ध है, जीव बाद को आता है। इसलिए जीव अज्ञान का न आश्रय हो सकता है, न विषय। इसी प्रकार जड़-तत्त्व भी अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ जगत् भी जीव की तरह अज्ञान से उत्पन्न होता है। कार्य अपने कारण का आश्रय या विषय कभी नहीं बन सकता।

वाचस्पति के अनुयायियों का उत्तर है कि यह प्रश्न करना कि 'जीव पहले या अज्ञान' व्यर्थ है, बीज और अंकुर की तरह उनका संबंध अनादि है। पहले अविद्या थी जिससे जीव उत्पन्न हुआ, यह कथन भ्रमात्मक है। ऐसा कोई समय न था जब जीव नहीं थे, इसलिए जीव को अविद्या का आश्रय मानने में कोई दोष नहीं है।

माया और अविद्या

वास्तव में माया और अविद्या एक ही वस्तु हैं।[1] शंकराचार्य ने सृष्टि का हेतु बताने में दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। ब्रह्मसूत्र की भूमिका में उन्होंने अध्यास का निमित्त मिथ्याज्ञान को बतलाया है जो अविद्या का पर्याय है। 'कृत्स्न-प्रसक्ति' नामक अधिकरण से भाष्य में भी ब्रह्म के अनेक रूपों को अविद्या-कल्पित बतलाया है (अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात्-

---

[1] दे० पंचपादिका विवरण (विजयानगरम् संस्कृत सीरीज़), पृ० ३२ भाष्य-कारेणचाविद्या मायाऽविद्यात्मिका मायाशक्तिरिति तत्र-तत्र निर्देशात्। टीकाकारेण चाविद्या मायाऽक्षरमित्युक्तत्वात्।......

२।१।२७)। कहीं-कहीं वे माया शब्द का प्रयोग भी करते हैं। 'जैसे मायावी अपनी फैलाई हुई माया में नहीं फँसता वैसे ही ब्रह्म जगत् के नानात्व से स्पर्श नहीं किया जाता'। इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकराचार्य ने माया और अविद्या दोनों शब्दों का प्रयोग बिना अर्थभेद के किया है। साधारण भाषा में अविद्या का मतलब विद्या या ज्ञान का अभाव समझा जाता है। ऐसी अविद्या वैयक्तिक और अभावरूप है। परंतु वेदांत की अविद्या सार्वजनिक और भावरूप है। वस्तुतः जीव या बद्ध पुरुषों के दृष्टिकोण से वही माया है। 'अविद्या' का संबंध ज्ञाता या विषयी से अधिक है और 'माया' का ज्ञेय या विषय से। अविद्या बुद्धि का धर्म है और माया का स्वयं ब्रह्म से संबंध है। माया ब्रह्म की शक्ति है। लोकमत अथवा लौकिक प्रयोग का ध्यान रखते हुए ही शायद बाद के वेदांतियों ने अविद्या और माया में भेद कर दिया। शुद्ध-सत्त्व-प्रधान माया है और मलिन-सत्त्व-प्रधान अविद्या; माया 'ईश्वर' की उपाधि है और अविद्या 'जीव' की।

अविद्योपाधिको जीवो न मायोपाधिको खलु।
मायाकार्यगुणच्छन्ना ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥

अर्थात् जीव अविद्या की उपाधिवाला है, माया की उपाधिवाला नहीं। माया के गुणों से आच्छन्न तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर (ईश्वर) हैं।[1]

---

[1] विवरणकार के मत में माया और अविद्या एक हैं, पर व्यवहार-भेद से विक्षेप की प्रधानता से माया और आवरण की प्रधानता से अविद्या संज्ञा है तस्माल्लक्षणैक्याद्वृद्धव्यवहारे चैकत्वावगमादेकस्मिन्नपि वस्तूनि विक्षेप-प्राधान्येन माया आच्छादनप्राधान्येनाविद्येति व्यवहारभेदः। वही, पृ० ३२।

अविद्या शब्द के प्रयोग से जीवगत दोष की प्रतीति होती है। जीव का दोष जीव तक ही सीमित होगा और उससे अलग अस्तित्ववान् न हो सकेगा। परंतु अविद्या ऐसी नहीं है। मुझे जो पर्वत दिखाई देता है, वह मेरे वैयक्तिक दोष के कारण नहीं। संसार के और प्राणियों को भी पर्वत दीखता है। अविद्या व्यक्ति का नहीं सार्वभौम दोष है, ब्रह्मांड का पाप है। ज्यों-ज्यों वेदांत-दर्शन का विकास होता गया त्यों-त्यों अविद्या या माया की भावरुपता पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। पद्मपाद ने अविद्या को 'जड़ात्मिका-अविद्या-शक्ति'[1] कहकर वर्णित किया है। वाचस्पति के मत में अविद्या अनिर्वचनीय पदार्थ है (अनिर्वाच्याविद्या)। सुरेश्वर और सर्वज्ञमुनि अज्ञान को आवरण और विक्षेप शक्तिवाला अनादि भाव पदार्थ समझते हैं। अविद्या या माया का भावात्मक स्वरूप व्यक्ति के मिथ्या-ज्ञान और जगत् के जड़त्व में अभिव्यक्त होता है।

मूलाविद्या और तूलाविद्या

'भामती' के मंगलाचरण में श्री वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म को अविद्या-द्वितय-सचिव (दो अविद्याओं से सहचरित) कथन किया है। जगत् की व्यावहारिक सत्ता का कारण मूलाविद्या है, यह अविद्या मुक्ति से पहले नष्ट नहीं होती। परंतु झूठ और सच, भ्रम और यथार्थज्ञान का भेद व्यावहारिक जगत् के अंतर्गत भी है, उसका कारण तूलाविद्या है। तूलाविद्या का अर्थ 'व्यावहारिक अज्ञान' समझना चाहिए। परमार्थ-सत्य की दृष्टि से शुक्ति-ज्ञान भी भ्रम है जब कि व्यावहारिक दृष्टि से शुक्ति-ज्ञान यथार्थ ज्ञान या नैया-

---

[1] अज्ञानमिति च जड़ात्मिकाऽविद्या शक्तिः पञ्चपादिका (विजयानगरम् संस्कृत सीरीज़), पृ० ४।

यिकों की प्रमा है और रजत-ज्ञान भ्रम। शुक्ति में रजत-ज्ञान या रजत के अध्यास का कारण तूलाविद्या है; ब्रह्म में शुक्ति अथवा सम्पूर्ण व्यावहारिक जगत् का अध्यास मूलाविद्या का परिणाम है। तूलाविद्या का नाश सतर्क निरीक्षण, विज्ञान अथवा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की सहायता से होता रहता है, किंतु मूलविद्या बिना ब्रह्म-ज्ञान के नष्ट नहीं हो सकती। 'उपाधिसहित चैतन्य का आच्छादन करने वाली अविद्या का नाम तूला विद्या है।'

क्या जगत मिथ्या है ?

शंकराचार्य के अनुसार जगत् का निमित्त कारण और उपादन कारण दोनों 'ईश्वर' या 'सगुण ब्रह्म' या 'कार्यब्रह्म' है। जगत् का उपादान ईश्वर है और विवर्तो-पादान ब्रह्म। मिट्टी घड़े का उपादान कारण है और कुम्हार निमित्त कारण रस्सी सप का विवर्त्तोपादान है। वाचस्पति के मत में ब्रह्म जगत् का कारण है और अविद्या या माया सहकारी कारण। वेदांत परिभाषा की सम्मति में जगत् का कारण माया को कहना चाहिए। सर्वज्ञमुनि के मत में अद्वितीय ब्रह्म ही जगत् का कारण है। प्रश्न यह है कि क्या इनमें से किसी मत के अनुसार जगत् मिथ्या है? उत्तर में 'हां' और 'न' दोनों

---

१ अपने 'विवेक चूड़ामणि' ग्रंथ के कुछ स्थलों में तो श्री शंकरचार्य ने जगत् को 'सत्' तक कह डाला है 'सत् ब्रह्म का सब कार्य सत् ही है' (सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदेव—श्लो०२३२) 'जैसे मिट्टी के सब कार्य मिट्टी ही होते हैं, वैसे ही सत् से उत्पन्न यह सब कुछ सदात्मक ही है' (मृत्कार्य-सकलं घटादि...मृण्मात्र मेवाभितः तद्वासज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्र मेवाखिलम्—श्लोक २४३) "कथमसतः "सज्जायेत" वाक्य में भी जगत् को सत् कहा गया है।

कहे जा सकते हैं। प्रश्नकर्त्ता 'मिथ्या' शब्द से क्या समझता है इसी पर उसके प्रश्न का उत्तर निर्भर है। जगत् इस अर्थ में मिथ्या नहीं है कि उसकी 'सत्ता' नहीं है। जगत् की 'सत्ता' है, व्यावहारिक सत्ता है, इससे कोई वेदांती स्वप्न में भी इनकार नहीं कर सकता। शश-शृंग और आकाश-पुष्प की भाँति जगत् असत् या शून्य नहीं है। शंकर के मत में तो भ्रम और स्वप्न के पदार्थों में भी एक प्रकार की सत्ता, प्रातिभासिक सत्ता भ्रम-ज्ञान भी वस्तु-शून्य या निर्विषयक नहीं होता। परंतु यदि मिथ्या का पारिभाषिक अर्थ समझा जाय तो संसार को मिथ्या कहने में कोई दोष नहीं है। मिथ्या का पारिभाषिक अर्थ है अनिर्वचनीय अर्थात् सत् और असत् से भिन्न। सत् का अर्थ है 'त्रिकालाबाधित'। इस अर्थ में अवश्य संसार मिथ्या है।

विज्ञानवाद का खण्डन करते हुये, "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" (२।२।२६) सूत्र के भाष्य में शंकर ने स्पष्ट कहा है कि जगत् स्वप्न के समान नहीं है। वे लिखते हैं :—

वैधर्म्यंहि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यतेहि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य......अपि च स्मृतिरेषायत्स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरित दर्शनम्। तत्रैवं सति न शक्यते वक्तुंमिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धि त्वात्स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता। (२।२।२६)

अर्थात् स्वप्नदशा और जाग्रतदशा के धर्मों (स्वरूप) में भेद है। वह भेद क्या है? 'बाध होना' और 'बाध न होना'। स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत दशा में बाध हो जाता है...एक और भी भेद है। स्वप्न-दर्शन स्मृतिरूप है और जाग्रतकाल की 'उपलब्धि' से भिन्न है। इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत के भेद का स्वयं अनुभव करते हुये यह कहना ठीक

नहीं कि 'जाग्रत काल की उपलब्धि झूँठी है, उपलब्धि होने के कारण स्वप्न की उपलब्धि की तरह ।'

जगत् की स्वतंत्र सत्ता का इससे अच्छा मण्डन और क्या हो सकता है ? भारतीय वेदांत भी यथार्थवादी है और भारतीय यथार्थवाद में आदर्शवाद ओत-प्रोत है । वास्तव में जीवन पर दृष्टि रखना भारतीय-दर्शन का एक विशेष गुण है । पाठक देखेंगे कि उपर्युक्त भाष्य-खण्ड में श्री शंकराचार्य ने गौड़पाद की कारिका का खण्डन किया है । [1]

ईश्वर

ईश्वर, सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म और कार्य ब्रह्म अद्वैत-वेदांत में पर्याय-वाची शब्द हैं । हम कह चुके हैं कि माया की उपाधि से ब्रह्म ईश्वर बन जाता है । इस प्रकार ईश्वर की सत्ता व्यावहारिक जगत् की सत्ता के समान है । व्यावहारिक दृष्टि से ईश्वर और जगत् दोनों की सत्ता है और ईश्वर जगत् का 'अभिन्न निमित्तोपादान कारण' है । ईश्वर ही विश्व की सत्ता का आधार है; यही मत गीता का भी है । 'माया' में सतोगुण की प्रधानता है । सांख्य की प्रकृति की माया स्वतः जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकती । माया ईश्वर की शक्ति है; ईश्वर के आश्रय से वह सृष्टि करती है । गीता कहती है—मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् अर्थात् मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चर और अचर जगत् को उत्पन्न करती है । पाठक पूछेंगे कि क्या अद्वैत वेदांत का ईश्वर अज्ञानी है ? वेदांत का उत्तर कुछ इस प्रकार होगा । अज्ञानी होना और सर्वज्ञता व्यावहारिक जगत् की चीज़ें हैं । परमार्थ-सत्य की दृष्टि से उक्त प्रश्न ही व्यर्थ है । व्यवहार-जगत् में ईश्वर

---

[1] गौड़पादीय कारिका ।२।४।

अज्ञानी नहीं, सर्वज्ञ है। ईश्वर माया का स्वामी है न कि दास। ईश्वर के ऊपर माया की आवरण-शक्ति काम नहीं करती। ईश्वर को सदैव सब बातों का ज्ञान रहता है। ईश्वराश्रित माया अपनी विक्षेप शक्ति के कारण संसार की उत्पति का हेतु बनती है। ब्रह्म-तत्त्व की एकता और जगत् के मायिक स्वरूप का ज्ञान ईश्वर में सदैव रहता है। ईश्वर मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति का आदर्श और श्रद्धा-भक्ति का विषय है। ईश्वर में अनंत ज्ञान, अनंत सौंदर्य और अनंत पवित्रता है। हमारे नैतिक जीवन का आदर्श संकीर्णता को त्याग कर सबको अपना रूप जानना और सब से समान व्यवहार करना है। नैतिक-जीवन की ऊँचाई पर पहुँच कर हम अपने और समाज के, नहीं-नहीं अपने और विश्व-ब्रह्मांड के स्वार्थ में भेद करना छोड़ देते हैं। विश्व का कल्याण ही हमारा कल्याण हो जाता है, विश्व का हित ही हमारा हित। यह आदर्श भगवान् में नित्य चरितार्थ है। वे विश्व की आत्मा हैं, विश्व का कल्याण-साधन ही उनका एकमात्र कार्य है। इसीलिये भगवान् का अवतार होता है, इसीलिये वे तरह-तरह की विभूतियों में अपने को प्रकट करते हैं। सर्वज्ञ ईश्वर ने वेदों की रचना की है और मनुष्य को प्रकाश दिया है। ईश्वर की भक्ति से ज्ञान और ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो सकती है जिसका निश्चित अंत मोक्ष है।

परंतु यह याद रखना चाहिए कि वेदांत का ईश्वर ब्रह्म की अपेक्षा कम तात्त्विक है। ईश्वर का संबंध व्यावहारिक जगत् से है और ज्ञानियों के लिए ईश्वर-भक्ति अपेक्षित नहीं है। ज्ञानी की क्रांत-दर्शिनी दृष्टि में जगत् के समान ईश्वर की भी पारमार्थिक सत्ता नहीं है; ईश्वर भी ब्रह्म का एक विवर्त्त (ऐपियरेंस) है, यही ब्रैडले का भी मत है।

अविद्या से ससक्त होकर, अविद्या की उपाधि से, ब्रह्म का विशुद्ध

जीव

चैतन्य-स्वरूप जीव बन जाता है। प्रत्येक जीव के साथ एक अंतःकरण की उपाधि रहती है। इसीलिए जीव परिच्छिन्न और अल्पज्ञ है। ईश्वर में अविद्या नहीं है, पर अविद्या ही जीव का जीवन है। अविद्या में रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता है तथा सतोगुण की न्यूनता (मलिनसत्त्व प्रधानाऽविद्या)। ईश्वर में वैयक्तिक स्वार्थ नहीं है, सारा ब्रह्मांड उसका शरीर है और सारे ब्रह्मांड का स्वार्थ ही उसका स्वार्थ है। परंतु जीव का अपना अलग स्वार्थ है। जिसके कारण वह कर्त्ता, भोक्ता, बुद्ध और साधक बनता है। कुछ के मत में अंत-करण में ब्रह्म का प्रतिबिंब ही जीव है। इस मत में ईश्वर, माया में ब्रह्म के प्रतिबिंब का नाम है। विद्यारण्य के अनुसार मन में ब्रह्म का प्रतिबिंब जीव है, और सारे प्राणियों के वासना संस्कारों-सहित माया में ब्रह्म का प्रतिबिंब ईश्वर है। पंचपादिका-विवरण का लेखक जीव को ईश्वर का प्रतिबिंब मानता है।[1]

एक और अनेक जीववाद

कुछ विचारकों के मत में वास्तव में जीव एक ही है और उपाधि अविद्या है। एक ही जीव है और एक ही शरीर। शेष जीव और शरीर उक्त एक जीव की कल्पना सृष्टि या स्वप्न-मात्र है।[2] अथवा, एक मुख्य जीव हिरण्यगर्भ है, शेष जीव हिरण्यगर्भ की छायामात्र हैं। स्वयं हिरण्यगर्भ ब्रह्म का प्रतिबिंब है।[3] इस दूसरे मत में जीव एक है और शरीर अनेक। इन शरीरों में

---

[1] प्रतिबिम्बो जीवः बिम्बस्थानीय ईश्वरः—सिद्धांतलेश- (विजया-नगरम्), पृ० १७

[2] वही, पृ० २०

[3] वही, पृ० २१

सब में अवास्तविक जीव हैं। एक जीववादियों का एक तीसरा समुदाय भी है जिसके अनुसार एक ही जीव बहुत से शरीरों में रहता है।[1] यह सारे मत शांकरभाष्य के विरुद्ध हैं जहां जीवों की अनेकता का स्पष्ट प्रतिपादन है। अनेक जीववादियों में भी इसी प्रकार मतभेद हैं, परंतु हमारी दृष्टि में इन सब मतों का दार्शनिक महत्त्व बहुत कम है। एक अनिर्वचनीय तत्त्व अविद्या की धारणा ही अद्वैत-वेदांत की मौलिक सूझ है।

अप्पय दीक्षित ने 'सिद्धांतलेश' के आरंभ में लिखा है कि प्राचीन आचार्य एक अद्वितीय सत् पदार्थ ब्रह्म के प्रतिपादन में ही विशेष रुचि रखते थे, ब्रह्म से जगत् के विवर्त्त किस प्रकार या किस क्रम से उत्थित होते हैं, इसके वर्णन में उनकी अभिरुचि कम थी; इसीलिए नवीन लेखकों में मतभेद उत्पन्न हो गये। इन्हीं मतभेदों का प्रदर्शन अप्पय दीक्षित के 'सिद्धांतलेश संग्रह' का वर्ण्य विषय है। वास्तव में चैतन्य-तत्त्व की एकता और अविद्या की धारणा यही अद्वैत-वेदांत के दो महत्त्वपूर्ण सिद्धांत हैं। अन्य बातों का स्थान गौण है।

जीव और साक्षी[2]

ऊपर हम साक्षि-ज्ञान और वृत्ति-ज्ञान का भेद बता चुके हैं। साक्षी का अर्थ है देखनेवाला। साक्षी ब्रह्म, ईश्वर और जीव तीनों से भिन्न बतलाया जाता है। उपाधि-शून्य चेतन तत्त्व का नाम ब्रह्म है; वह तत्त्व अंतःकरण की उपाधि से साक्षी बन जाता है। साक्षी बुद्धि-वृत्तियों को प्रकाशित मात्र करता है। 'जीव' का बुद्धि-वृत्तियों से अधिक घनिष्ठ संबंध है; जीव में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान भी होता है। साक्षी ईश्वर से भी भिन्न है, ईश्वर

---

[1] वही, पृ० २१

[2] राधाकृष्णन्, भाग २, पृ० ६०१-६०३

क्रियाशील है और साक्षी निष्क्रिय। यह हमने आपको विद्यारण्य स्वामी का मत सुनाया।

ऐसी परिस्थितियों में मतभेद होना स्वाभाविक है। कौमुदीकार के मत में ईश्वर का एक विशेषरूप ही साक्षी है।[1] उपनिषद् के दो पक्षियों में एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा केवल देखता रहता है। पहला पक्षी जीव है और दूसरा ईश्वर। शंकराचार्य के ग्रंथों में इन दोनों मतों के पक्ष में उद्धरण मिल सकेंगे।

वेदांत-परिभाषा के मत में जीव ही एक दृष्टि से 'साक्षी' है और दूसरी दृष्टि से 'जीव' अर्थात् कर्त्ता और भोक्ता। अंतःकरण से उपहित चैतन्य साक्षी है। यह साक्षी प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग है। वही अंतःकरण जिसका धर्म है वह प्रमाता या जीव है। जीव और अंतःकरण का संबंध, साक्षी और अंतःकरण के संबंध से अधिक घनिष्ठ है। सिद्धांतलेश के अनुसार—अंतःकरण विशिष्टः प्रमाताः तदुपहितः साक्षी।[2] जिस प्रकार साक्षी का व्यक्तिगत शरीर से संबंध होता है, इसी प्रकार ईश्वर का संपूर्ण जगत् से संबंध है। यह मत भी अन्य मतों से अधिक विरुद्ध नहीं है।

जीव के शरीर; पंचकोश

विशुद्ध ब्रह्म ही शरीर, अंतःकरण आदि की उपाधि से जीव हो जाता है। कर्तृत्व-और भोक्तृत्व-संपन्न जीव के तीन शरीर हैं। पहला शरीर स्थूल शरीर है जो दीखता है और मरने पर जिसका दाह-संस्कार किया जाता है, स्वप्न और सुषुप्ति में स्थूलशरीर क्रियाहीन हो जाता है; यह प्रत्येक जन्म में बदलता

---

[1] सिद्धांतलेश, पृ० ३३

[2] वही, पृ० ३४

रहता है। पंच ज्ञानेंद्रिय, पांच कर्मेंद्रिय, मन, बुद्धि और पांच प्राण मिलकर सूक्ष्म शरीर बनाते हैं। यह सांख्य के लिंग-शरीर के समान है। अज्ञान की उपाधि, जो सुषुप्ति में भी वर्त्तमान रहती है, कारण-शरीर है। यह कारण-शरीर मुक्ति से पहले नहीं छूटता।

जीव को पांच कोशों में लिपटा हुआ भी बतलाया जाता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय यह पांच कोश हैं। मोक्ष-दशा में यह कोश नहीं रहते। अन्नमय कोश स्थूल शरीर है, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश सूक्ष्म शरीर के तत्त्व हैं। शंकराचार्य के मत में आनंद ब्रह्म का स्वरूप नहीं है; 'आनंदमय' भी एक कोश है। वेदांत के 'आनंदमयाधिकरण' की शंकर ने दो व्याख्याएं की हैं। ब्रह्म आनंदमय है, यही सूत्रों का स्वाभाविक अर्थ है। इसके विरुद्ध अनेक आक्षेप उठाकर सूत्रकार ने उनका खंडन किया है। परंतु शंकर के मत में ब्रह्म और आनंदमय एक नहीं हैं। तैत्तिरीय में ही, जहां जगह-जगह ब्रह्म को आनंदमय कहा है, ब्रह्म को आनंद का 'पुच्छ और प्रतिष्ठा' भी बतलाया है (ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा) आनंद के हिस्सों का भी वर्णन है। 'प्रिय उसका सिर है, मोद दाहिना पक्ष, प्रमोद दूसरा पक्ष, आनंद आत्मा और ब्रह्म पूंछ या प्रतिष्ठा।' इस प्रकार ब्रह्म आनंदमय से भिन्न है। रामानुज का मत सूत्रकार के अनुकूल है। 'सोऽकामयत' (उसने इच्छा की) क्रिया का कर्त्ता 'आनंदमय' ही हो सकता है। ब्रह्म शब्द नपुंसक लिंग है, उसका 'सः' (पुलिङ्ग 'वह') से निर्देश नहीं हो सकता। 'मय' प्रत्यय प्राचुर्य अर्थ में है न कि विकार अर्थ में। हमें रामानुज की व्याख्या ज़्यादा स्वाभाविक और संगत मालूम पड़ती है। अपनी रूपकमयी भाषा में ब्रह्म को आनंद की प्रतिष्ठा कह कर भी उपनिषद् उसे ब्रह्म से भिन्न नहीं समझते। ब्रह्म का आनंदमयत्व उपनिषदों की काव्यमय शैली के अधिक

अनुकूल है। कवि-हृदय विश्व-तत्त्व को निरानंद नहीं देख सकता, भले ही वह दार्शनिक बुद्धि के अधिक अनुकूल हो ।

अपनी 'विवेक चूड़ामणि' में कवि शंकराचार्य ने ब्रह्म को 'निरंतरा-नंद रसस्वरूप' कह कर वर्णन किया है (देखिये, श्लोक २३६) परंतु उसी ग्रंथ में दार्शनिक शंकर ने आनंदमय का कोश होना सिद्ध किया है। (श्लोक, २११)।[१]

अवच्छेदवाद और प्रतिबिंबवाद

सूर्य का सहस्रों घटों, नदियों और समुद्रों में प्रतिबिंब पड़ता है। एक सूर्य अनेक होकर दीखता है; स्थिर सूर्य लहरों में हिलता हुआ प्रतीत होता है। घड़ों को नष्ट कर दीजिए, नदियों और समुद्रों को हटा दीजिए, तो फिर एक ही सूर्य रह जाता है। इसी प्रकार अविद्या में ब्रह्म के अनेक प्रतिबिंब वास्तविक प्रतीत होते हैं, वास्तव में ब्रह्म अनेक या विकारी नहीं हो जाता। अविद्या के नष्ट होते ही ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित हो उठता है। यह 'प्रतिबिंबवाद' है। रूपक के सौंदर्य के कारण ही कुछ विचारकों ने इसे स्वीकार कर लिया, ऐसा प्रतीत होता है।

अवच्छेदवाद के समर्थक अधिक हैं। सूर्य की तरह ब्रह्म साकार नहीं है जिसका कहीं प्रतिबिंब पड़े। अविद्या की उपाधि ही ब्रह्म के दूसरे रूपों में भासमान होने का हेतु है। अवच्छेद और परिच्छेद लग-भग समानार्थक हैं। अविद्या की उपाधि से अवच्छिन्न या परिच्छिन्न ब्रह्म जीव और जगत बन जाता है। अवच्छेदक का अर्थ है सीमित कर देनेवाला। अज्ञान से अवच्छिन्न ब्रह्म खंड-खंड प्रतीत होता है। दोनों 'वादों' में शब्द मात्र का भेद है। वेदांत की मूल धारणाएं—ब्रह्म और अविद्या दोनों में वर्त्तमान हैं।

---

[१] 'विवेकचूड़ामणि', के शंकर की कृति होने में संदेह है।

'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, यही वेदांत की शिक्षा का, एक लेखक के मत में, सारांश है'। जो तत्त्व पिंड (शरीर) में है, वही ब्रह्मांड में है, जो शरीर का आधार है वही जगत् का भी आधार है।

महावाक्यों का अर्थ

'ब्रह्म को जानने से सब कुछ जाना जाता है' 'प्रारंभ में केवल एक अद्वितीय सत् ही था' इत्यादि श्रुतियां जगत् की एकता घोषित करती हैं। श्रुति के महावाक्य बतलाते हैं कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं। 'मैं ब्रह्म हूँ' 'वह (ब्रह्म) तू है' 'यह आत्मा ब्रह्म है' (अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म) इत्यादि वाक्य नित्यशुद्ध और नित्यमुक्त ब्रह्म तथा बंधन-ग्रस्त जीव की एकता कथन करते हैं। प्रश्न यह है कि ब्रह्म और जीव जैसी भिन्न वस्तुओं की एकता समझ में किस प्रकार आ सकती है? श्रुति के वाक्यों का तात्पर्य हृदयंगम ही कैसे हो सकता है? अत्यंत भिन्न धर्मवाले 'तत्पदार्थ' (ब्रह्म) और 'त्वं पदार्थ' (जीव) का ऐक्य मन पर आसानी से अंकित नहीं हो सकता।

वेदांतियों का कहना है कि श्रुति-वाक्यों का अभिप्राय लक्षणाओं की सहायता से जाना जा सकता है। जहां शब्दों का सीधा वाच्यार्थ लेने से वाक्य का अर्थ-बोध न हो, वहां लक्षणा से आशय जाना जाता है (तात्पर्यानुतपत्तिर्लक्षणाबीजम्)। शब्दों का सधारण अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है; लक्षणा की सहायता से जो अर्थ मिलता है उसे 'लक्षितार्थ' कहते हैं। महावाक्यों के अर्थ-बोध के लिये तीन लक्षणाओं का ज्ञान आवश्यक है अर्थात् जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा। पहली दो को 'जहत्स्वार्था' और अजहत्स्वार्था' भी कहते हैं; तीसरी इन्हीं दो का मेल है।

जहत्स्वार्था—'गंगा में गांव है' इस वाक्य का वाच्यार्थ विरोध-ग्रस्त

है। गंगा-प्रवाह में गांव की स्थिति संभव नहीं है। इसलिये उक्त वाक्य का 'गंगा के तट पर गांव' है' यह अर्थ करना चाहिए। यहां 'गंगा' शब्द का वाच्यार्थ, कोश-गत अर्थ, छोड़ देना पड़ा, इस लिये इसे जहत्स्वार्था लक्षणा का उदाहरण कहेंगे। जहत् का अर्थ है त्यागता हुआ या त्यागती हुई, जहत्स्वार्था का मतलब हुआ 'अपने अर्थ को छोड़ती हुई,।

अजहत्स्वार्था या अजहल्लक्षणा—इस लक्षणा में भी वाच्यार्थ में परिवर्त्तन करना पड़ता है परंतु वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़ नहीं दिया जाता। 'शोणो गच्छति' शोण जाता है, इस वाक्य में शोण का वाच्यार्थ 'लाल' है। परंतु इतने से काम नहीं चलता, इसलिए 'शोण' में लक्षणा करनी पड़ती है। शोण का लक्षितार्थ हुआ 'लाल रंग का घोड़ा'। इस प्रकार शक्यार्थ या वाच्यार्थ का परित्याग नहीं हुआ क्योंकि घोड़े का रंग लाल है। शोण का अर्थ लक्षणा की सहायता से शोणत्व या लालिमा-विशिष्ट अश्व-द्रव्य हो गया, जिस से वाक्य सार्थक प्रतीत होने लगा।

जहदजहल्लक्षणा—इस लक्षणा में वाच्यार्थ का एक अंश छोड़ना पड़ता है और एक अंश का ग्रहण होता है। इस प्रकार इसमें 'जहती' और 'अजहती' दोनों के गुण वर्त्तमान हैं। 'जिस देवदत्त को मैंने काशी में देखा था उसी को अब मथुरा में देखता हूँ' यहाँ काशीस्थ देव-दत्त और मथुरा-स्थित देवदत्त की एकता का कथन है। परंतु पहले देवदत्त और दूसरे देवदत्त के देश-काल में भेद है। पहली बार जब देवदत्त को देखा था तो वह और देश तथा और समय में था; अब वह दूसरे स्थान और दूसरे काल में है। दोनों देवदत्तों की एकता तभी समझ में आ सकती है, जब हम दोनों में से देश-काल के विशेषण हटा लें। इस प्रकार 'तत्कालीन' और 'एतत्कालीन' तथा 'काशीस्थ' और 'मथुरास्थ' की विशेषताओं को वाच्यार्थ में से घटा देना पड़ता है। शेष वाच्यार्थ ज्यों का त्यों रहता है और दो देवदत्तों की एकता समझ में आ जाती है।

वेदांतियों का कथन है कि जीव और ब्रह्म की एकता बताने वाले महा-वाक्यों का अर्थ भी इसो प्रकार, जहदजहल्लक्षणा से, समझ में आ सकता है। 'जीव' और 'ब्रह्म' 'त्वम्' और 'तत्' के वाच्यार्थ में से उन गुणों को घटा देना चाहिए जो दोनों में तुल्य नहीं हैं। प्रत्यक्त्व अथवा चैतन्य गुण जीव और ब्रह्म दोनों में समान है। इस प्रकार उनकी एकता हृदयंगम हो सकती है।

वेदांत की साधना; मोक्षावस्था

वेदांत के आलोचकों का कथन है कि वेदांत में व्यावहारिक अथवा नैतिक जीवन के लिए स्थान नहीं है। शंकर का ज्ञान-मार्ग मनुष्यों को नैतिक उन्नति (मॉरल प्रोग्रेस) के लिए किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं देता। कर्तव्याकर्तव्य का विचार नीची श्रेणी के मनुष्यों के लिये है, ज्ञानियों के लिये नहीं। वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्य ज्ञानी के लिये नहीं है। वेद के विधि-वाक्य भी ज्ञानी की दृष्टि में अर्थ-हीन हैं। जिसकी दृष्टि जगत् को मिथ्या देखती है, जो संसार के सारे व्यवहारों को अतात्त्विक मानता है, वह विधि-निषेध का पालन करने को बाध्य नहीं हो सकता। इस प्रकार वेदांत-दर्शन सामाजिक जीवन का घातक है।

उत्तर में हमें निवेदन करना है कि यद्यपि वेदांत प्रवृत्ति-मार्ग से निवृत्ति-मार्ग को श्रेष्ठ समझता है, तथापि नैतिक-जीवन का परित्याग उस की शिक्षा नहीं है। वस्तुतः वेदांत की दृष्टि में बिना नैतिक गुणों—यम, नियम, आदि का धारण किये ज्ञान-प्राप्ति संभव नहीं है। ज्ञान-प्राप्ति तो दूर की बात है, चरित्र-हीन को ब्रह्म की जिज्ञासा करने का भी अधिकार नहीं है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' पर भाष्य करते हुये श्री शंकराचार्य ने 'अथ' का आनंतर्य अर्थ बतलाया है। ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी वही हो सकता है (१) जो नित्य और अनित्य के भेद का विवेक

कर चुका है; (२) जिसे इहलोक और परलोक के भोगों से वैराग्य हो गया है; (३) जिसमें शम-दम (मन और इंद्रियों का निग्रह) आदि संपत्तियाँ वर्त्तमान हैं। और (४) जिसे मोक्ष की उत्कट अभिलाषा है।

ज्ञान कोरी बुद्धि का विषय नहीं है। ज्ञान के लिए चतुर्मुखी साधना की आवश्यकता है। घृणा, द्वेष, स्वार्थपरता और पक्षपात को जीते बिना हृदय भूमि तैयार नहीं हो सकती, जिसमें ज्ञान का बीज बोया जा सके। संसार को मिथ्या या अतात्त्विक करने का अर्थ झूठ, कपट, आडंबर और मिथ्यादम्भ को प्रश्रय देना नहीं है। यह ठीक है कि ज्ञानी के लिये श्रुति के विधि-निषेध नहीं है (निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः—शुकाष्टक), पर हमें इस विचार का अनर्थ नहीं करना चाहिए। 'ज्ञानी के लिये कोई नियम या बंधन नहीं है' इसका क्या अर्थ है? जब शुरू-शुरू में कवि-छात्र कविता करना प्रारंभ करता है अथवा चित्रकला का विद्यार्थी चित्र-रचना का अभ्यास करता है तब उन्हें पिंगल और रेखा-शास्त्र के अनेक कठिन नियमों का बड़े मनोयोग से पालन करना पड़ता है। धीरे-धीरे जब वे छात्र काव्य-कला और चित्राङ्कण में निपुण होने लगते हैं तब उन्हें उन नियमों का पालन साधारण बात मालूम पड़ने लगती है—वे बिना मनोयोग के नियमानुकूल काम करने लगते हैं। अपनी कलाओं के पूरे 'मास्टर' या पंडित बन जाने पर उन्हीं छात्रों को काव्य और चित्र-कला के नियमों की परवाह भी नहीं रहती। तब वे जो कुछ लिख या खींच देते हैं वही कविता और चित्र हो जाता है; उनकी कृतियां स्वयं अपने नियमों की सृष्टि करने लगती है और उनके लिये शास्त्रों के बंधन नहीं रहते। इसी प्रकार सच्चरित्रता और साधुता के पंडितों को सदाचार के नियम सिखाने की आवश्यकता नहीं रहती। जिसने एक बार अपनी स्वार्थ-भावना का समूलोच्छेद कर लिया है उसे

कर्त्तव्य-विषयक शिक्षा की अपेक्षा नहीं रहती। ज्ञानी के विधि-निषेध से परे होने का यही यथार्थ अभिप्राय है।

गीता में जिसे स्थितप्रज्ञ कहा है वही वेदांत का कर्त्तव्य-बंधनों से मुक्त ज्ञानी है। गीता के अनुसार ज्ञानी को भी लोक-कल्याण के लिये कर्म करने चाहिए। ज्ञानी कर्म करे या न करे, इसके ज्ञानीपन में कोई भेद नहीं पड़ता। परंतु ज्ञानी कभी पाप कर्म में लिप्त हो सकता है, इसकी संभावना उतनी ही है जितनी कि किसी महाकवि के छंदोभंग करने की। ज्ञान होने के बाद साधक केवल प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिये जीवित रहता है। उस दशा में उसे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। ज्ञान-प्राप्ति में जो सुख और शांति है वह केवल परलोक की वस्तु नहीं है; उसका अनुभव इसी जन्म में बिना बहुत विलंब के हो सकता है। इस प्रकार ज्ञान का महत्त्व अनुभव से परे नहीं है।

मोक्ष-प्राप्ति के लिये वेदांत विशेषरूप से श्रवण, मनन और निदिध्यासन का उपदेश करता है। ये तीनों ही ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करने के साधन हैं। ब्रह्म की अनुभूति ही वह ज्ञान है जो अविद्या को नष्ट कर देता है। यह ब्रह्मानुभव भी बुद्धि की एक वृत्ति है, इसलिये श्रवण आदि साधनों से उत्पन्न की जा सकती है।[1] यह वृत्ति उत्पन्न होकर अज्ञान की दूसरी वृत्तियों को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है। जैसे अग्नि ईंधन को जलाकर शांत हो जाती है। वैसे ही यह वृत्ति अन्य वृत्तियों को नष्ट करके स्वयं भी नाश को प्राप्त हो जाती है।

मोक्ष पर अप्पय दीक्षित के विचार बड़े महत्व के हैं। उनका मत है

---

[1] देखिये विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० २१२, अनुभवो नाम ब्रह्मसाक्षात्कारफलकोऽन्तःकरणवृत्तिभेदः। एवं भामती पृ० ३१, (१।१।४)

मोक्ष के विषय में अप्पय दीक्षित का मत[1] कि 'पूर्ण मुक्ति' वैयक्तिक नहीं, सार्वजनिक चीज़ है। जब तक सब जीव मुक्त न हो जायं तब तक पूर्ण मुक्ति संभव नहीं है। अन्य जीवों के बंधन में रहते हुये एक दूसरे प्रकार की मुक्ति संभव है। इस दूसरे अर्थ में मुक्त जीव को ब्रह्म-लोक या ईश्वर-भाव प्राप्त हो जाता है,[2] जिसका वेदांत के अंतिम अध्याय में वर्णन है। आत्मैक्य का सिद्धांत यों भी स्वार्थपरता के लिये घातक है, उसके साथ ही यदि साधक यह भी जान ले कि बिना जगत् की मुक्ति हुये उसकी मुक्ति नहीं हो सकती तो उसका वैयक्तिक साधना में विशेष आग्रह न रहे। सारी मानव-जाति, नहीं नहीं, सारे प्राणि-वर्ग को साथ लेकर ही हमें साधना करनी है। बोधिसत्वों के आदर्श के अनु-सार संपूर्ण विश्व के प्राणियों को मुक्ति दिलाए बिना अपना मोक्ष स्वीकार करना भी पाप है। इसीलिये 'बोधिसत्वों' का पृथ्वी पर अवतार होता है, इसीलिये भगवान् कृष्ण को भी लोक-संग्रह के लिये कर्म करना पड़ता है।

अप्पय दीक्षित ने अपने मत की पुष्टि में शांकर भाष्य से उद्धरण दिया है। परंतु यदि यह शंकर का मत न भी हो तो भी उसके महत्त्व में कोई कमी नहीं पड़ती। वस्तुतः साधना वैयक्तिक हो भी नहीं सकती। क्या शंकराचार्य ने संसार के कल्याण के लिये अपना भाष्य नहीं लिखा? क्या उन्होंने अपने ज्ञान और बुद्धि से एक राष्ट्र को लाभ नहीं पहुँचाया? कृष्ण की गीता ने कितने हृदय को सांत्वना दी है? जब कोई साधु, महात्मा या विद्वान् लोगों में अपना मत फैलाने की कोशिश करता है तब वह, ज्ञात या अज्ञात-भाव से, मानव-जाति को अपने साथ साधना

---

[1] देखिये सिद्धांतलेश (विजयानगरम् संस्करण), पृ० १११ तथा आगे।

[2] तस्माद्यावत्सर्वमुक्ति परमेश्वरभावो मुक्तस्य, वही, पृ० ११२।

करने का निमंत्रण देता है। विश्व-साहित्य के कवि नाटककार और औपन्यासिक भी यही साधना कर रहे हैं। प्रयोगशालाओं में जीवन बितानेवाले वैज्ञानिक भी इसी में संलग्न हैं। सभी हृदयों में ब्रह्म की ज्योति छिपी है, और सभी उसे अभिव्यक्त करने का यत्न कर रहे हैं। किसी का यत्न अधिक तीव्र और स्पष्ट है; किसी का कम। सभी एक मार्ग के पथिक हैं, सभी एक ही आत्म-सौंदर्य के आकर्षण में पड़े हैं। ऐसी दशा में किसी को किसी से घृणा करने की जगह भी कैसे हो सकती है?

सातवां अध्याय

विशिष्टाद्वैत[1] अथवा रामानुज-दर्शन

आजकल के स्वतंत्र विचारकों की दृष्टि में यह प्रश्न विशेष महत्त्व का है कि उपनिषदों की ठीक व्याख्या शंकर ने की है या रामानुज ने। आज हम शंकर और रामानुज के भाष्यों का अध्ययन उन्हीं के मत को जानने के लिये करते हैं, बादरायण का मत जानने के लिये नहीं। बादरायण ही बड़े या आदरणीय हों, ऐसा आग्रह हमारा नहीं हैं, जिसके लेख में महत्त्वपूर्ण विचार हों वही बड़ा है। परंतु पुराने विचारों के अद्वैती और विशिष्टाद्वैतियों के लिये उक्त प्रश्न बड़े महत्त्व का है। उपनिषदों के अध्याय में हम देख चुके हैं कि उनमें ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं। इन विरोधी वर्णनों का सामंजस्य कैसे किया जाय? शंकर ने उपनिषदों के 'परा और अपरा विद्या के भेद की अपने अनुकूल व्याख्या करके इस समस्या को हल कर लिया। जहां ब्रह्म को सगुण कहा गया है, वह व्यावहारिक दृष्टि से, वास्तव में ब्रह्म निर्गुण है। निर्गुणता की प्रतिपादक श्रुतियां भी बहुत हैं (अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्-ब्रह्मसूत्र)। 'व्यावहारिक' और 'पारमार्थिक' का यह भेद रामानुज को स्वीकार नहीं है। ब्रह्म एक ही है, 'पर' 'अपर' भेद से दो प्रकार का नहीं। ब्रह्म निर्गुण नहीं, सगुण है। जब श्रुति ब्रह्म को

---

[1] विशिष्टाद्वैत मत को 'श्रीसंप्रदाय' भी कहते हैं।

निर्गुण कहती है तब उसका तात्पर्य ब्रह्म को दोष या दुष्ट-गुण-हीन कथन करना होता है। ब्रह्म में प्रकृति के गुण नहीं हैं, बद्धजीवों के विशेष गुण भी नहीं है। श्रुति के सगुण वर्णनों से पता चलता है कि ब्रह्म अशेष कल्याणमय गुणों का आकार है। ब्रह्म में अनंत ज्ञान, अनंत सौंदर्य और अनंत करुणा है। ब्रह्म और ईश्वर में भेद नहीं है; माया में संसक्त ब्रह्म को ईश्वर नहीं कहते। जिस ईश्वर की भक्ति और शरणागति का उपदेश आर्ष-ग्रंथों में मिलता है वह ब्रह्म से भिन्न या नीची कोटि का नहीं। ईश्वर की केवल व्यावहारिक सत्ता ही नहीं है, वह परमार्थ-तत्त्व है। इसी प्रकार जगत् तथा जीवों की सत्ता भी केवल 'व्यावहारिक' नहीं है। अद्वैत-वेदांत का सबसे बड़ा दोष यही है कि वह ईश्वर, जीव और जगत् से वास्तविक सत्ता छीन कर उन्हें ब्रह्म का 'विवर्त्तमात्र' बतला डालता है।

अद्वैत मत की बौद्धिकता रामानुज को सह्य नहीं है। उन्होंने साधारण जनता के मनोभावों को दार्शनिक भाषा में अभिव्यक्त करने की चेष्टा की। मनुष्य के व्यक्तित्व में बुद्धि के अतिरिक्त हृदय का भी स्थान है। मनुष्य प्रेम, और भक्ति, पूजा और उपासना, आकांक्षा और प्रयत्न करनेवाला है। उसके प्रेम, भक्ति, पूजा और उपासना से संबद्ध भाव झूठे हैं, उसके प्रयत्नों में वास्तविक बल नहीं है, उसके बंधन और मोक्ष सच्चे नहीं केवल व्यावहारिक हैं, उसको आत्मा और परमात्मा पारमार्थिक सत्ताएं नहीं हैं, यह सिद्धांत मानव बुद्धि को व्याकुल और स्तब्ध करनेवाले हैं। हमारे जीवन में जो अच्छे और बुरे, पाप और पुण्य का संघर्ष चलता रहता है वह क्या झूठा है? हमारे 'व्यक्तित्व' को 'केवल व्यावहारिक' कहना उसे 'कुछ नहीं यह मिथ्या' कहने का ही शिष्ट ढंग है। शंकर का व्यावहारिक और मिथ्या का भेद मनुष्यों के सामान्य बुद्धि में नहीं धँसता; जगत् को मिथ्या कहना शून्यवाद का अवलंबन करना है। जन-साधा-

रण मिथ्या का अर्थ 'शून्य' ही समझते हैं। विज्ञानभिक्षु जैसे विद्वान् भी शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध (छिपा हुआ शून्यवादी) कहने से नहीं चूके। शंकर का मायावाद हमारे प्रबलतम नैतिक प्रयत्नों और गूढ़तम भक्ति-भावनाओं को मदारी के खेल जैसा झूठा करार दे देता है। शंकर की दृष्टि में जीवन की जटिल समस्याओं में कोई गंभीरता नहीं है, जीवन एक बाजीगर का तमाशा है, ब्रह्म के मनोविनोद की सामग्री है। हमारे सुख, दुख और आकांक्षाएं, हमारा व्यक्तित्व, हमारा बौद्धिक और नैतिक जीवन, हमारे विचार और भावनाएं किसी में कोई तत्त्व नहीं है; सब मिथ्या हैं, सब कुछ माया है, केवल ब्रह्म ही सत्य है।

लेकिन ऐसे निर्गुण, निर्मम और निष्ठुर ब्रह्म को लेकर हम क्या करें? वह ब्रह्म जो हमारे दुख-दर्द से विचलित नहीं होता, जिस तक हमारी आहों की गर्मी नहीं पहुँचती, जो हमारी प्रार्थना नहीं सुन सकता, जिसके न कान हैं न आँखें, न बुद्धि है, न हृदय, उस ब्रह्म का हम क्या करें? ऐसे ब्रह्म से किसी प्रकार का संबंध जोड़ना संभव नहीं है। यदि हम माया के पुतले हैं तो हम जो कुछ करें सब माया ही है। फिर श्रुति के विधि-निषेध अच्छे बुरे का उपदेश किस लिए है? श्रुति की आज्ञाओं का क्या अर्थ है? ज्ञान की खोज भी किस लिए? बंधन, मोक्ष और मोक्ष की इच्छा, साधक, और साधना सभी तो मिथ्या हैं।

रामानुज का मत है कि जीव और जगत् की वास्तविक, पारमार्थिक, सत्ता माने बिना काम नहीं चल सकता। यदि हमारे जीवन का कोई मूल्य है, यदि सृष्टि-प्रक्रिया विडंबना-मात्र नहीं है, तो हमारे प्रयत्नों का क्षेत्र जगत् भी सत्य होना चाहिये। तो क्या रामानुज अनेकवादी हैं? नहीं वे अद्वैतवादी हैं; किंतु उनका अद्वैत शंकर से भिन्न है; वह विशिष्टाद्वैत है। विशिष्टाद्वैत का अर्थ है 'विशिष्ट का विशिष्टरूप से अद्वैत'

(विशिष्टस्य विशिष्टरूपेणाद्वैतम्—वेदांत देशिक)। अद्वितीय ब्रह्म विशिष्ट पदार्थ है, जीव और प्रकृति उनके विशेषण हैं, इस विशिष्ट-रूप में ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है।

साहित्य

वैष्णव-धर्म का इतिहास और साहित्य तो बहुत प्राचीन है, यद्यपि उसे दार्शनिक आधार देने का बहुत-कुछ श्रेय श्रीरामानुजाचार्य को है। ऋग्वेद में विष्णु एक साधारण सौर देवता थे। धीरे-धीरे उनका महत्व बढ़ा। साथ ही एक 'भाग' नामक देवता भी 'भगवत्' या भगवान् में परिवर्तित होकर प्रसिद्ध हो गए और भागवत धर्म की नींव पड़ी। महाभारत में भागवत-धर्म का वर्णन है। भागवत धर्म का विकसित रूप वैष्णव धर्म बन गया, विष्णु और भगवान् एक हो गये। कुछ काल बाद, कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया जाने पर, कृष्ण-पूजा भी वैष्णव-संप्रदाय का अंग बन गई। ईसा से पहले-पहले भागवत धर्म दक्षिण में प्रवेश कर चुका था। भगवान् कृष्ण की भक्ति तो उत्तर भारत में भी बहुत प्रसिद्ध है और इस प्रकार भारतवर्ष में वैष्णव-संप्रदाय का प्रभाव बहुत व्यापक हो गया है। भारत की साधारण जनता राम और कृष्ण की उपासक है; शिव तथा अन्य देवी-देवताओं का स्थान बाद को है। कम से कम उत्तर भारत में इस समय शैवों और वैष्णवों का विरोध नहीं है। इस विरोध को मिटाने में तुलसी दास जी का काफी हाथ रहा है। उनकी 'शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहु मोहिं न पावा' जैसी उक्तियों का उत्तर भारत के धार्मिक हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

रामानुज के पहले के वैष्णव-शिक्षकों में दक्षिण के यामुनाचार्य और नाथमुनि के नाम मुख्य हैं। वैष्णव-संप्रदाय के माननीय ग्रंथ दो प्रकार के हैं, इसी से वैष्णवों का साहित्य 'उभय वेदांत' कहलाता है। वैष्णव लोग

वेद, उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और भगवद् गीता को तो मानते ही हैं; इनके अतिरिक्त वे पुराणों और तामिल भाषा के कुछ ग्रंथों को भी प्रमाण मानते हैं। यही वैष्णवों के 'आगम' हैं। यामुनाचार्य ने 'आगमों' का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये 'आगम प्रामाण्य' और 'महापुरुष-निर्णय' लिखे। 'सिद्धित्रय' और 'गीतार्थ-संग्रह' भी उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। रामानुज का 'श्री भाष्य' वेदांत सूत्रों की प्रसिद्ध व्याख्या है। सुदर्शन भट्ट ने भाष्य पर 'श्रुतिप्रकाशिका' लिखी। इसके अतिरिक्त रामानुज ने गीता-भाष्य, वेदार्थ-संग्रह, वेदांत-सार, वेदांत-दीप आदि भी लिखे हैं। रामानुज के बाद विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का प्रचार करनेवालों में श्री वेंकटनाथ या वेदांतदेशिक (१३५० ई०) का नाम सब से प्रसिद्ध है, वेदांत-देशिक अनेक विषयों के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने अद्वैत मत का बड़ा युक्ति-पूर्ण खण्डन किया और विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों की शृंखलित व्याख्या की। उनके मुख्य ग्रंथ तत्त्व-टीका ('श्री भाष्य' की असम्पूर्ण व्याख्या), तात्पर्य-चंद्रिका (गीता-भाष्य पर टीका) 'तत्त्व मुक्ता कलाप' और 'शतदूषणी' हैं। अंतिम ग्रंथ में अद्वैत-वेदांत की कड़ी समीक्षा है। वेदांत-देशिक ने 'सेश्वर मीमांसा' ग्रंथ भी लिखा है। श्री. निवासाचार्य (१७०० ई०) की 'यतीन्द्र-मत-दीपिका' में रामानुज के सिद्धांतों का संक्षिप्त और सरल वर्णन है। रामानुज ने उपनिषदों पर भाष्य नहीं लिखा। अठारहवीं शताब्दी में रंग रामानुज ने कुछ उपनिषदों पर विशिष्टाद्वैत के अनुकूल टीका की।

हिंदू-धर्म के इतिहास पर रामानुज का व्यक्त और विस्तृत प्रभाव पड़ा है। अद्वैतवाद के आलोचक और भक्ति-मार्ग के प्रचारक रामानुज के विशेष रूप से ऋणी हैं। मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य, चैतन्य, रामानंद आदि पर रामानुज के विशिष्टाद्वैत का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

रामानुज के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम यह तीन ही प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रकरण

हैं। अनुमान-वाक्य में पांच नहीं तीन ही अवयव होने चाहिए, पहले तीन या बाद के तीन। सांख्य और वेदांत की भाँति यहां भी 'प्रत्यक्ष' का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। रामानुज का निश्चित सिद्धांत है कि निर्विशेष या निर्गुण वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि अद्वैत-वेदांत की तरह ब्रह्म को निर्गुण माना जाय तो ब्रह्म अज्ञेय हो जायगा। जानने का अर्थ है वस्तु को किसी 'विशेष' या 'गुण' से संबद्ध समझना। नैयायिकों के मत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु की जाति आदि विशेषताओं का अनुभव नहीं होता। रामानुज का मत इससे भिन्न है। वे भी निर्विकल्पक और सविकल्पक का भेद मानते हैं, परंतु दूसरी प्रकार। केवल वस्तु की सत्ता (सन्मात्रता) का ग्रहण नहीं हो सकता, इसलिये मानना चाहिए कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी पदार्थों के गुणों का कुछ बोध अवश्य होता है। गाय के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में 'यह गाय है' ऐसा ज्ञान होता है। यह ज्ञान सविकल्पक से भिन्न किस प्रकार है? सविकल्पक प्रत्यक्ष में 'यह भी गाय है, यह (अनेकों में से) एक गाय है' इस प्रकार का ज्ञान होता है। प्रत्येक वस्तु का जो पहली बार प्रत्यक्ष होता है वह निर्विकल्पक होता है। निर्विकल्पक ज्ञान भी जटिल है। रामानुज जाति या सामान्य को अलग पदार्थ नहीं मानते। व्यक्तियों में सादृश्य होता है जिसे देखकर हम 'जाति' या 'सामान्य' की धारणा बनाते हैं। जाति केवल बौद्धिक पदार्थ है।

जब श्रुतियां ब्रह्म को निर्गुण बताती हैं तब वे ब्रह्म में कुछ गुणों का अभाव कथन करती हैं, उनका अभिप्राय यही होता है कि ब्रह्म में अन्य गुण हैं। ब्रह्म-साक्षात्कार बिना भक्ति और उपासना के नहीं हो सकता। तत्त्व-ज्ञान भी बिना भगवान् की कृपा के नहीं होता और भगवान् की कृपा बिना भक्ति तथा उपासना असंभव है।

रामानुज का भ्रम-विषयक सिद्धांत 'सत्ख्याति' कहलाता है।

सत्ख्याति ख्यातियों के विषय में दो श्लोक स्मरणीय हैं।

आत्म-ख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचन-ख्यातिरित्येतत्ख्यातिपंचकम्॥
योगाचारा माध्यमिकास्तथा मीमांसका अपि।
नैयायिका मायिनश्च प्रायः ख्यातीः क्रमाज्जगुः॥

अर्थात् योगाचार, माध्यमिक, मीमांसक, नैयायिक और वेदांती क्रमशः आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथा-ख्याति और अनिर्वचनीय-ख्याति के समर्थक हैं। रामानुज के अनुयायी इन सब ख्यातियों को दोषपूर्ण मानते हैं और अपनी सत्ख्याति का प्रतिपादन करते हैं।

पाठकों को याद होगा कि अद्वैत-वेदांती हर ज्ञान को सविषयक मानते हैं। परंतु ज्ञान के विषय की सत्ता प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक भेद से तीन प्रकार की हो सकती है। रामानुज सत्ताओं के इस वर्गीकरण को स्वीकार नहीं करते। सत्ता एक ही प्रकार की है। परंतु वे भी अद्वैत के इस सिद्धांत को मानते हैं कि प्रत्येक ज्ञान का विषय होता है। यही नहीं, प्रत्येक विषय सविशेष या गुणवाला भी होना चाहिए, अन्यथा उसकी प्रतीति न होगी। इसका यह अर्थ हुआ भ्रमज्ञान का भी विषय सत् होता है, वास्तविक होता है। शुक्ति में जो रजत दीखती है उसकी वास्तविक सत्ता होती है।

यहां पाठक संक्षेप में वेदांत का 'पंचीकरण' सिद्धांत समझ लें। जिन महाभूतों (स्थूल भूतों) का प्रत्यक्ष होता है उनमें से प्रत्येक में दूसरे भूत मिले रहते हैं। स्थूल पृथ्वी में आठवां-आठवां भाग जल, वायु आदि का है और शेष अपना। इस प्रकार प्रत्येक भौतिक पदार्थ में पांचों भूत

वर्त्तमान हैं। यही पंचीकरण-प्रक्रिया है। शुक्ति में रजत के परमाणु वर्त्तमान हैं, इसलिये रजत का प्रत्यक्ष भी 'सत्पदार्थ' का प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार रेते में जल-कण उपस्थित है और मृग-मरीचिका असत् का ज्ञान नहीं हैं। यतीन्द्रमत दीपिका कहती है,

अतः सर्वं ज्ञानं सत्यं सविशेषविषयंच, निर्विशेष वस्तुनोऽग्रहणात्।

अर्थात् सब ज्ञान (ज्ञानमात्र) सच्चा और सविशेष पदार्थ का होता है, निर्विशेष वस्तु का ग्रहण नहीं होता। इसका सीधा अर्थ यह है कि भ्रम या मिथ्या ज्ञान की वास्तव में सत्ता ही नहीं है। भ्रम की यह व्याख्या सर्वथा असंतोषजनक मालूम होती है। पंचीकरण सिद्धांत क्या हुआ, जादू हुआ, जो किसी वस्तु को कुछ दिखला सकता है। यदि पंची-करण इतना व्यापक और प्रभावशाली है तो रस्सी में हाथी का भ्रम क्यों नहीं होता, सांप का ही क्यों होता है? और शुक्ति से सर्प का भ्रम क्यों नहीं होता? सत्ख्याति भ्रम की व्याख्या नहीं करती उसकी सत्ता ही उड़ा देती है। यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान में भेद किये बिना काम नहीं चल सकता। सत्ख्यातिवादियों से एक रोचक प्रश्न किया जा सकता है—क्या भ्रम से बचने की कोशिश करनी चाहिए? यदि हां, तो वह कोशिश सफल कैसे हो सकती है?

रामानुज के मत में प्रमा उस यथार्थ (वस्तु-संवादी) ज्ञान को कहते हैं, जो व्यवहारानुग भी है अर्थात् जिसके अनुसार व्यवहार करने से सफलता हो सकती है (यथावस्थित व्यवहारानुगुणज्ञानं प्रमा)। स्वप्न के पदार्थ भी सत् होते हैं परंतु स्वप्न-ज्ञान व्यवहार में काम नहीं आता। रामानुज के अनुसार स्वप्न के पदार्थों का स्रष्टा ईश्वर है, जीव नहीं। फिर विभिन्न व्यक्तियों के स्वप्न भिन्न-भिन्न क्यों होते हैं? क्योंकि स्वप्न के पदार्थों की सृष्टि जीवों के कर्मानुसार होती है। अपने शुभाशुभ कर्मों

के अनुरूप ही जीव अच्छे बुरे स्वप्न देखता है। यह मत मनोविज्ञान के प्रतिकूल है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड के मतानुसार मनुष्य की अव्यक्त चेतना या अनभिव्यक्त मानसिक जीवन की गुप्त वासनाएँ ही स्वप्नों का कारण होती हैं। अद्वैतमत में भी स्वप्न जीव की सृष्टि होते हैं परंतु रामानुज का कट्टर यथार्थवाद उन्हें स्वप्न-पदार्थों को काल्पनिक कहने से रोकता है।

रामानुज की सम्मति में पूर्व और उत्तर मीमांसा में कोई विरोध नहीं है। वेद के कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञान-कांड सभी का महत्त्व है। रामानुज का मत कोई नवीन मत नहीं है; उनका दावा है कि व्यास, बोधायन, गुहदेव, भारुचि, ब्रह्मानंद, द्रविडार्य, पराङ्कुश नाथ, यामुनाचार्य आदि प्राचीन शिक्षकों ने जो श्रुति की व्याख्याएं की हैं, वे उनके मत अनुकूल हैं। उन्होंने प्राचीनों की शिक्षा को पुनरुज्जीवित मात्र किया है।

भास्कार और यादव प्रकाश

रामानुज के कुछ ही पहले के वेदांत के व्याख्याताओं में यह दो नाम उल्लेखनीय हैं। भास्कर का समय ९०० ई० समझना चाहिए। वे भेदाभेदवादी और ब्रह्मपरिणामवाद के समर्थक थे। ब्रह्म एक ही काल में भेदावान् और भेद-रहित, एक और अनेक दोनों है। एक ब्रह्म में से जगत् का बहुत्त्व विकसित होता है। भास्कराचार्य ने मायावाद का खंडन किया है। जड़ जगत् की वास्तविक सत्ता है। जीव और ईश्वर में स्फुलिंग और अग्नि का संबंध है। साधना के विषय में भास्कर का ज्ञान और कर्म के समुच्चय में विश्वास है।

यादव प्रकाश कुछ काल तक रामानुज के गुरु रहे थे, उनका समय ग्यारहवीं सदी है। रामानुज का समय भी यही शताब्दी है। थोड़े

समय बाद उनका यादवप्रकाश से मतभेद हो गया। यादव भी ब्रह्म-परिणाम-वाद के प्रचारक थे। ब्रह्म चित्, अचित्, और ईश्वर बन जाता है और अपने शुद्ध रूप में भी स्थित रहता है। ब्रह्म जगत् से भिन्न भी है और अभिन्न भी। यादव ने ब्रह्म और ईश्वर में भेद किया जो रामानुज को स्वीकार नहीं है। भेदाभेदवाद भी ठीक नहीं, एक ही ब्रह्म में विरोध गुण नहीं रह सकते। फिर ब्रह्म, जीव और जगत् में क्या संबंध है? रामानुज का अपना उत्तर कुछ जटिल है, अब हम उसी को समझने की चेष्टा करेंगे।

प्रकार-प्रकारी भाव

रामानुज के मत में ब्रह्म प्रकारी है और जीव तथा जगत् उसके प्रकार प्रकार का अर्थ कुछ-कुछ जैन-दर्शन के 'पर्याय' शब्द के समान है। जैनियों के अनुसार द्रव्य ध्रुव या परिवर्तन-शून्य है और उसके पर्याय बदलते रहते हैं। इस प्रकार जैनों के द्रव्य में स्थिरता और परिवर्तन दोनों साथ चलते हैं। प्रकार-प्रकारी-भाव को अनेक दृष्टियों से समझा जा सकता है। रामानुज सत्कार्य-वाद के समर्थक हैं। कारणता-विचार की दृष्टि से प्रकारी को उपादान और प्रकार को उपादेय (उपादान कारण का कार्य) कहना चाहिये। जीव और जगत् ब्रह्म के उपादेय हैं, ब्रह्म की परिणामन-क्रिया के फल हैं। ब्रह्म का जगत् और जीवों के रूप में परिणाम होता है, फिर भी ब्रह्म निर्विकार रहता है, यह श्रुति के अनुरोध से मानना चाहिए (श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्)। ब्रह्म में विचित्र शक्तियां हैं, उसे कुछ भी अशक्य नहीं है।

ईश्वर तथा जगत् और जीवों में आत्मा और शरीर जैसा संबंध है। ईश्वर सब की आत्मा है। जैसे भौतिक-शरीर की आत्मा जीव है, वैसे ही जीव की आत्मा ईश्वर है। ईश्वर जीव का अंतर्यामी है (अन्तर्याम्यमृतः)।

मीमांसा की परिभाषा में कहें तो जीव और ईश्वर में शेष-शेषी-भाव

संबंध है।[1] मुख्य यज्ञ-विधान को शेषी कहते हैं और उसके साधन-भूत सहकारी विधान को शेष। मीमांसा में शेष का अर्थ है 'उपकारी' अथवा पराए उद्देश्य से प्रवृत्त होनेवाला। जब मनुष्य अपना और ईश्वर का संबंध ठीक-ठीक समझ लेता है तब वह अपनी अहंता और व्यक्तित्व भगवान् के अर्पण कर देता है, उसके अपने उद्देश्य नहीं रहते और वह सिर्फ़ भगवत्-अर्पण बुद्धि से कर्मों में प्रवृत्त होता है। ऐसा करने में ही व्यक्तित्व की सार्थकता और असली स्वतंत्रता है।

भगवान् की उद्देश्य-पूर्ति का साधन जीव उनका दास है। इस तरह प्रकार-प्रकारी-भाव का अर्थ सेवक और स्वामी का संबंध भी है।

प्रकार और प्रकारी में गुण और द्रव्य का संबंध भी बताया जाता है। रामानुज का द्रव्य और गुण का संबंध-विषयक मत ध्यान देने योग्य है। उनके अनुसार द्रव्य और गुण में तादात्य संबंध नहीं है। 'देवदत्त मनुष्य है' यह वाक्य देवदत्त और मनुष्यता का तादात्म्य कथन नहीं करता, जैसा कि सांख्य का मत है। गुणी गुण नहीं होता, और गुण गुणी (गुणवान् पदार्थ) से भिन्न है। रामानुज के मत में द्रव्य और गुण, प्रकारी और प्रकार में अत्यंत भेद होता है।[2] गुण और गुणी में तादात्म्य नहीं, बल्कि सामानाधिकरण (एक अधिकरण में रहने का भाव) मानना चाहिए। प्रकार को प्रकारी का अपृथक्सिद्ध विशेषण समझना चाहिये। जीव और जगत् ईश्वर (प्रकारी) के प्रकार हैं, वे ईश्वर से अलग नहीं किये जा सकते, पर वे ईश्वर से भिन्न हैं। जीवों और जगत् की स्वतंत्र सत्ता है पर उन्हें ईश्वर से वियुक्त नहीं किया जा सकता; वे ईश्वर के

---

[1] 'रामानुज' ज आइडिया आफ द फाइनाइट सेल्फ़, पृ० ४०

[2] वही, पृ० १८

ही अंग हैं, शरीर हैं, कभी पृथक् न होनेवाले विशेषण हैं। ईश्वर उनका विशेष्य और आधार है।

रामानुज के दर्शन में द्रव्य और गुण आपेक्षिक शब्द है। यों तो जड़ और चेतन जगत् द्रव्य हैं जिनमें विभिन्न गुण पाये जाते हैं। परंतु ईश्वर की अपेक्षा से जीव और प्रकृति विशेषण या गुणात्मक है। ईश्वर ही विशेष्य या गुणी है जिसे प्रकृति और जीवगण विशेषित करते हैं। ईश्वर के द्रव्यत्व की अपेक्षा से जीव और प्रकृति द्रव्य नहीं, गुण हैं।

ज्ञान भी ज्ञाता का गुण होता है, इसलिये ज्ञाता और ज्ञान में भेद है। ज्ञाता को, अद्वैत-वेदांत के समान, ज्ञान-स्वरूप कहना ठीक नहीं। रामानुज-दर्शन में ज्ञान को 'धर्मभूत ज्ञान' कहा जाता है। जब जीव कुछ जानता है तब 'धर्मभूत ज्ञान' किसी इंद्रिय-द्वार से निकल कर ज्ञेय विषय से संयुक्त होता है। विषयी (आत्मा, ज्ञाता) और विषय (ज्ञेय, पदार्थ) में संबंध उत्पन्न करनेवाला 'धर्मभूत-ज्ञान' है।

जीव और ईश्वर का संबंध 'अंश' शब्द के प्रयोग से भी बतलाया जाता है। जीव ईश्वर का अंश है। गीता कहती है—ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः, अर्थात् इस शरीर में भगवान् का एक सनातन अंश का कार्य है; ब्रह्म जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों है। ब्रह्म ही जीव बना हुआ है। परंतु यहाँ अंश का अर्थ 'जगह घेरनेवाला टुकड़ा' नहीं समझना चाहिए। ब्रह्म अखंड है, उस के देशात्मक टुकड़े नहीं हो सकते। रामानुज के मत में जीव ईश्वर का अंश है जैसे प्रकाश सूर्य का अंश है। या गुण (गोत्व, गो-पन) गुणी (गौ या गाय) का (ब्रह्म-सूत्र, २।३।४५,४६)।

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत में जीव, जगत् और ब्रह्म का संबंध समझाने की तरह-तरह से चेष्टा की गई है। प्रकार-प्रकारी-भाव एक सामान्य नाम

है जिसके अंतर्गत शेष-शेषी, अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि अनेक संबंध हैं। इस संबंध का तात्पर्य यही है कि प्रकार और प्रकारी दोनों की वास्तविक सत्ता है, दोनों का अलग-अलग व्यक्तित्व है, एक का दूसरे में लय कभी नहीं होता। जीव ईश्वर की भांति ही नित्य है, वह अविद्या-कल्पित नहीं है। मुक्ति में भी जीव ब्रह्म से भिन्न व्यक्तित्ववाला रहता है और ब्रह्म के आनंद-पूर्ण सान्निध्य का उपभोग करता है। जीव ईश्वर का अंश है, शरीर है अथवा विशेषण या प्रकार है। जिस प्रकार शरीर और आत्मा अलग-अलग लक्षण वाले हैं वैसे ही जीव और ईश्वर तथा जगत और ईश्वर भी हैं। ब्रह्म जीव से विजातीय (भिन्न जाति वाला) है, जैसे अश्व और गौ एक दूसरे से विजातीय हैं। परंतु फिर भी ईश्वर तथा जीवों और जगत् में घनिष्ठ संबंध है। एक को दूसरे से जुदा नहीं किया जा सकता। प्रकार और प्रकारी 'अपृथक्सिद्ध' हैं, उनकी पृथक-पृथक् सिद्धि नहीं होती, उनमें विच्छेद संभव नहीं है। यही रामानुज का अद्वैत है। ब्रह्म में जगत संनिविष्ट है जैसे पुष्प में गंध और सोने में पीला-पन। ब्रह्म (विशेष्य) को जीव और जगत् से (विशेषणों) से अलग करके वर्णन नहीं किया जा सकता। ब्रह्म में जगत का अन्तर्भाव हो जाता है। सांख्य के प्रकृति और पुरुष दोनों ब्रह्म की विभूतियां हैं। इसीलिये श्रुति कहती है कि ब्रह्म को जान लेने पर कुछ जानने को शेष नहीं रहता (येनामतं मतं भवति, अविज्ञातं विज्ञातम्)। जगत ब्रह्म ही एक मात्र तत्त्व है पर वह ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष नहीं है, वह सविशेष अर्थात् विशिष्ट है। इस विशिष्ट तत्त्व की एकता के कारण ही रामनुज-दर्शन का नाम 'विशिष्टाद्वैत' है।

अब हम रामानुज के सिद्धांतों का शृङ्खला-बद्ध वर्णन करेंगे। वैशे-षिक, सांख्य और जैनमत की तरह रामानुज ने भी पदार्थों का विभाग किया है। रामानुज का

पदार्थ विभाग

मत अनेक सिद्धांतों का मिश्रण-सा है। इसमें कहीं सांख्य के सिद्धांत अनुस्यूत दिखाई देते हैं, कहीं गीता और वेदांत के। पदार्थों के वर्गीकरण में विशिष्टाद्वैत की कुछ अपनी विशेषताएं भी हैं, जिनकी ओर हम यथा-स्थान इंगित करेंगे। 'सर्वदर्शन संग्रह' में वेंकटनाथ या वेदांतदेशिक कृत पदार्थ-विभाग का सारांश इस प्रकार दिया है:—

द्रव्याद्रव्यप्रभेदामितमुभयविधं तद्विधं तत्त्वमाहुः।
द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जड़मजड़मिति, प्राच्यमव्यक्तकालौ॥
अन्त्यं प्रत्यक् पराक्च प्रथममुभयथा तत्र जीवेशभेदात्।
नित्याभूतिर्मतिश्चेत्यपरमिह, जड़ामादिमां केचिदाहुः॥[1]

अर्थात्—द्रव्य और अद्रव्य के भेद से तत्त्व दो प्रकार का है। द्रव्य दो प्रकार का होता है, जड़ और अजड़। जड़ द्रव्य प्रकृति और काल है। अजड़ द्रव्य प्रत्यक् (चेतन) और पराक् भेद से दो तरह का है। प्रत्यक् अजड़ द्रव्य जीव और ईश्वर हैं; पराक् अजड़ द्रव्य 'नित्यविभूति' और 'धर्मभूत ज्ञान' हैं। नित्यविभूति को कुछ विद्वान् जड़ बतलाते हैं।

पदार्थ के दो भेद द्रव्य और अद्रव्य हैं, यह प्रमेय हैं। प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द) भी पदार्थ हैं। अद्रव्य पदार्थ केवल दस हैं अर्थात् सत्, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध संयोग और शक्ति। मीमांसा का शक्ति-पदार्थ स्वीकार किया गया है। वैशेषिक के कुछ गुणों का अद्रव्यों में संनिवेश है। सांख्य के सत्, रज और तम यहां वैशेषिक के अर्थ में 'गुण' बन गये हैं। विशिष्टाद्वैत की प्रकृति सांख्य के समान ही चौबीस तत्त्वों वाली है। नीचे लिखी तालिका में द्रव्यों का विभाग दिखाया गया है:—

---

[1] सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ४४

- द्रव्य
  - जड़
    - प्रकृति
    - काल
  - अजड़
    - प्रत्यक
      - जीव
        - बद्ध
          - बुभुक्षु
          - मुमुक्षु
        - मुक्त
      - ईश्वर
        - पर
        - व्यूह
          - वासुदेव
          - संकर्षण
          - प्रद्युम्न
          - अनिरुद्ध
        - विभव
        - अंतर्यामी
        - अर्थाव'रता
    - पराक्
      - नित्यविभूति
      - धर्मभूतज्ञान
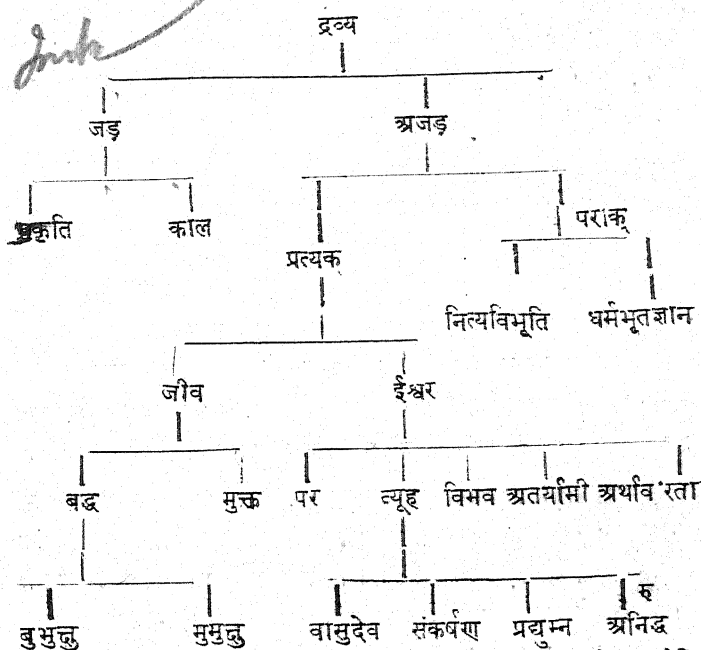
प्रकृति

प्रकृति प्रथम जड़ द्रव्य है, यह जीवों का निवास-स्थान है। क्योंकि स्वयं जीव ईश्वर का शरीर है। इसलिए प्रकृति ईश्वर का भी निवास-स्थान या शरीर है। प्रकृति सांख्य के समान ही 'त्रिगुणमयी' और चौबीस तत्त्वों की जननी है। परंतु यहां सत, रज, तम को द्रव्यात्मक नहीं माना गया है। क्योंकि यह प्रकृति के गुण हैं, इसलिए प्रकृति से भिन्न हैं; प्रकृति और गुणों में 'अपृथक्‌सिद्धता' है। सांख्य और विशिष्टाद्वैत की प्रकृति में कुछ और भी दर्शनीय भेद हैं। (१) सांख्य की प्रकृति असीम या विभु है; रामानुज की प्रकृति नीचे की ओर तो अनंत है परंतु ऊपर की ओर 'नित्यविभूति'

से परिच्छिन्न है। नित्यविभूति का वर्णन कुछ आगे करेंगे। (२) सिद्धांत में सांख्य की प्रकृति पुरुष पर किसी प्रकार निर्भय नहीं है परंतु रामानुज की प्रकृति सर्वथा चेतन-तत्त्व पर अवलंबित है। प्रकृति और ईश्वर में भी 'अपृथक्सिद्धि' संबंध है।

काल

काल प्रकृति से अलग तत्त्व माना गया है, पर ब्रह्म से अलग वह भी नहीं है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत का काल-तत्त्व न्याय और सांख्य दोनों से भिन्न है। प्रकृति की तरह काल का भी परिणाम होता है। क्षण, घंटे, दिन आदि काल के परिणाम हैं। काल की स्वतंत्र-सत्ता है, परंतु अवकाश या शून्य प्रकृति का कार्य है। काल और प्रकृति में कौन पहले था, यह प्रश्न व्यर्थ है। परंतु देश (अवकाश) की अपेक्षा प्रकृति पहले है।

अजड़ तत्त्वों में हम प्रथम 'नित्यविभूति' और 'धर्मभूत ज्ञान' का, पराक्तत्त्वो का, वर्णन करेंगे। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि विशिष्टाद्वैत में जड़ और चेतन का विभाग नहीं माना गया है। प्रायः चेतन तत्त्व से मतलब ज्ञान शक्ति-सम्पन्न जीव और ईश्वर समझा जाता है और जड़तत्त्व से प्रकृति। रामानुज इन दो के बीच में एक प्रकार के तत्त्व मानते हैं जो 'अजड़' हैं' पर चेतन नहीं हैं। 'धर्मभूत ज्ञान' और 'नित्यविभूति' जड़ द्रव्य नहीं हैं, न वे जीव और ईश्वर की भाँति चेतन ही हैं। वे विशिष्टाद्वैत के 'पराक-तत्व' हैं जब कि जीव और ईश्वर 'प्रत्यक्तत्व हैं'। प्रत्यक् और पराक् में क्या भेद है?

अजड़-प्रत्यक् और पराक्

अजड़ का अर्थ है 'स्वयं-प्रकाश' जड़ उससे विरुद्ध को कहा जायगा। शुद्धसत्व(नित्य विभूति) , धर्मभूति ज्ञान, जीव और ईश्वर यह अजड़ अर्थात् स्वयं-प्रकाश द्रव्य हैं।'पराक् तत्व' स्वयं प्रकाश तो होता है, पर स्वयं-ज्ञेय नहीं होता।

पराक्तत्त्व का प्रकाश दूसरों के लिये है (स्वयं प्रकाशत्वे सति परस्मा एव भासमानत्वं-यतीन्द्र मत दीपिका) पराक् तत्त्व अजड़ है, पर साथ ही अचेतन भी है।

सतोगुण-प्रधान नित्यविभूति है, अन्यगुण प्रधान प्रकृति। नित्य-विभूति स्वयं प्रकाशद्रव्य है, योग की सिद्धियों से उसका कोई संबंध नहीं है। वह उर्ध्व देश में, ऊपर की ओर अनन्त है। नीचे की ओर प्रकृति से परिच्छिन्न है। मुक्त जीवों और ईश्वर के शरीर, निवासस्थान, तथा अन्य उपकरण इसी द्रव्य के बने हुये हैं। बैकुण्ठ लोक, गोपुर, वहां के जीवों के शरीर, विमान, कमल, आभूषण आदि नित्यविभूति के कार्य हैं।

नित्य विभूति

ऐसा मालूम होता है कि एक ही सांख्य की प्रकृति गुण-विशेष की प्रधानता के कारण विशिष्टाद्वैत की 'प्रकृति' और 'नित्यविभूति' बन गई है। दोनों मिलकर सब दिशाओं में अनंत भी हो जाती हैं। नित्यविभूति का दूसरा नाम 'शुद्ध-सत्त्व' है जिसका अर्थ यह है कि वैकुण्ठादि लोकों में रजस् और तमस् गुणों का अभाव है। परंतु सतोगुण की प्रधानता या अन्य गुणों के अभाव के कारण ही 'नित्य विभूति' किस प्रकार जड़त्व को छोड़कर 'अजड़' हो जाती है, यह समझ में नहीं आता। हमारी समझ में 'नित्यविभूति' को जड़ मानने वाले विद्वान् अधिक ठीक हैं। यदि सतोगुण संपन्न प्रकृति को 'अजड़' माना जाय तो प्राकृतिक जगत् में ही जड़ और अजड़ का भेद करना पड़ेगा। नित्यविभूति उन पदार्थों का उपादान कारण है जो 'आदर्श जगत्' (मुक्त जीवों के लोक) में पाई जाती हैं। इस जगत् में भी भगवान् की पवित्र मूर्तियां (जैसे श्रीरंगम् में) नित्यविभूति का कार्य कथन की जाती हैं। वास्तव में प्रकृति और नित्यविभूति में भेदक रेखा खींचना कठिन है।

विशिष्टाद्वैत संप्रदाय में ज्ञान द्रव्य माना जाता है, परंतु वह ईश्वर और जीवों का धर्मभूति (गुण) भी है। 'धर्मभूतज्ञान' का यही तात्पर्य है। 'यतीन्द्र मत दीपिका के' अनुसार धर्मभूत ज्ञान,

धर्मभूत ज्ञान

स्वयं प्रकाशाचेतन द्रव्यत्वे सति विषयित्वम्। विभुत्वेसति प्रभावद्रव्य गुणात्मकत्वम्। अर्थप्रकाशो बुद्धिरिति तल्लक्षणम्।

स्वयं-प्रकाश, अचेतन द्रव्य और ज्ञान का विषय है, विभु अर्थात् व्यापक है, प्रभापूर्ण द्रव्य और गुणात्मक है; अर्थ का प्रकाश करनेवाला, बुद्धिरूप है।

धर्मभूत ज्ञान द्रव्य है क्योंकि उसमें परिवतन होता है (द्रव्यं नाना दशावत्—वेदांतदेशिक); अद्वैत के अन्तःकरण के समान धर्मभूत ज्ञान विषयाकार हो जाता है। आत्मा में परिवर्तन नहीं होता, ज्ञान और अनुभव से धर्मभूत ज्ञान में परिवर्तन होता है। धर्मभूत ज्ञान से संसक्त आत्मा में अनुभव की विविधता और एकरसता दोनों संभव है। सुख,दुख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि अलग गुण नहीं हैं जैसा कि, न्याय-वैशेषिक मानते हैं; वे धर्मभूत ज्ञान के ही रूपान्तर हैं। इसी प्रकार काम, संकल्प विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा सब ज्ञानरूप हैं। विशिष्टाद्वैत का मनोविज्ञान बुद्धि प्रधान है, वह रेशनल सइकोलॉजी है। धर्मभूत ज्ञान मन या मन-सहित इंद्रियों से सहचरित होकर ही क्रियमाण होता है और प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, संशय विपर्यय, भ्रम, राग, द्वेष, मोह, मात्सर्य आदि में परिणत हो जाता है। नाना दशावाले को द्रव्य कहते हैं (द्रव्यं नाना दशावत्) इस लक्षण के अनुसार धर्मभूत ज्ञान 'द्रव्य' है।

परंतु वह गुणात्मक भी है;[1] ज्ञान बिना जीव या ईश्वर के अवलंबन

---

[1] हिरियन्ना पृ० ४०४

के कुछ भी नहीं कर सकता। धर्मभूत ज्ञान व्यापक है, इसलिए मुक्त जीव में अणु होने पर भी अपने ज्ञान संभव है। अणुजीव सारे शरीर को जान सकता है, क्योंकि जीव का इस ज्ञान से 'अपृथक्सिद्धि' संबंध है, इसीलिए उपनिषद् कहती है—न विज्ञातुर्विज्ञातेः विपरिलोपोविद्यते, अर्थात् ज्ञाता के ज्ञान का कभी लोप नहीं होता। बद्ध जीवों का ज्ञान तिरोहित रहता है जो कि मुक्तों में अभिव्यक्त हो जाता है। धर्मभूत ज्ञान ज्ञेय है (ज्ञातुर्ज्ञेयावभासा मतिः), परंतु किसी दूसरे ज्ञान द्वारा नहीं, यह स्वयंप्रकाश है। अचेतन होने के कारण धर्मभूतज्ञान में स्वयं ज्ञेयता, अपनी चेतना या अनुभूति, नहीं है। वह स्वयंप्रकाश है, इसीलिए जड़ नही है। अब सचेतन प्रत्यक्तत्त्वों का वर्णन करते हैं।

जीव

जीव अणु है और चेतन है। वह चक्षु, श्रोत्र आदि से भिन्न है। जीव के अणु होने में श्रुति स्मृति ही प्रमाण हैं। जीव की उत्क्रान्ति (शरीर से निर्गमन) सुनी जाती है; उसके प्रमाण (परिमाण) का भी कथन है। जैसे,

अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति (कठ)।

तथा—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्या कल्पते॥

(श्वेताश्वेतर)

यहाँ पहले श्लोक में जीव को अंगुष्ठ-मात्र कथन किया गया है और दूसरे में बाल के अग्रभाग का दसहजारवां अंश। मतलब यह है कि जीव का अणु परिमाण है। धर्मभूतज्ञान से नित्य संबद्ध होने के कारण जीव एक साथ ही अनेक पदार्थों को जान सकता

है। इसी प्रकार एक जीव अनेक शरीरों में भी रह सकता है जैसा कि कुछ सिद्ध लोग करते हैं।

जीवों के कर्मों के अनुसार, अथवा उन कर्मों के फलस्वरूप प्रवृत्तियों के अनुसार ईश्वर उन से कर्म कराता है। ईश्वर ही वास्तविक कर्त्ता है। जीव के अच्छे बुरे कर्मों के लिए ईश्वर उत्तरदायी नहीं है, पूर्व-कर्म और उनसे बना स्वभाव आदि ही उत्तरदायी हैं। कर्म-विपाक ईश्वर के अस्तित्व का ही नियम या स्वभाव है, इसलिए उसे मानने से ईश्वर की स्वतंत्रता और सर्वशक्तिमत्ता में कोई अंतर नहीं पड़ता। जीव कर्म करने में स्वतंत्र है, परंतु बिना ईश्वर की सहायता के वह कर्म नहीं कर सकता। खेत में जैसा बीज डाला जाय वैसा फल उगता है, परंतु पर्जन्य या मेघ की अपेक्षा सब बीजों को रहती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिवाले जीवों को ईश्वर की अपेक्षा रहती है। इसीलिये ईश्वर को कर्माध्यक्ष कहा जाता है।

कहीं-कहीं लंबे वर्गीकरण में विशिष्टाद्वैती जैनियों का अनुकरण करते हैं। जीव मुक्त है, या बद्ध जीवों में कुछ मुमुक्षु (मोक्षार्थी) है, कुछ बुभुक्षु (भोगार्थी)। मुमुक्षुओं में कुछ भक्त होते हैं कुछ प्रपन्न। बुभुक्षु जीवों में कुछ अर्थ (धन) और काम में मग्न रहते हैं, कुछ धार्मिक हैं। धार्मिक जीवों मे कुछ देवताओं के उपासक है, कुछ भगवान् के इत्यादि।

ईश्वर

सूक्ष्म चित् (चेतन जीव, गीता की परा प्रकृति) और अचित् (जड़ प्रकृति) से विशिष्ट ईश्वर जगत् का कारण है, उपादान है; संकल्प-विशिष्ट ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है। सूक्ष्म-चित्-अचित् विशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल-चित्-अचित् विशिष्ट ब्रह्म कार्य है। वेदांत-वाक्यों के समन्वय से ब्रह्म का जगत्कारण होना सिद्ध है। ईश्वर निर्गुण

या निर्विशेष, वह ज्ञान, शक्ति और करुणा का भंडार है। वह सर्वेश्वर, सर्वशेषी, सब कर्मों से आराध्य, सर्व-फल-प्रदाता, सर्व-कार्योत्पादक और सर्वाधार है। सारा जगत् उसका शरीर है, वह जगत के दोषों से मुक्त है। वह सत्य, ज्ञान, आनंद और निर्मलता धर्मवाला है। वह जीवों का अंतर्यामी है और स्वामी है, जीव उसका शरीर है, उसके विशेषण या प्रकार हैं। विशिष्टद्वैत का ईश्वर व्यक्तित्ववान् पुरुष है और अप्राकृत बैकुंठ जैसे स्थानों में रहनेवाला है। ईश्वर का जीव, प्रकृति, काल आदि से 'अपृथक्सिद्धि' संबंध है। तथापि ईश्वर जीव, प्रकृति आदि से अत्यंत भिन्न है, ईश्वर के गुण शेष जड़ और अजड़ पदार्थों से अलग हैं। जीव, प्रकृति आदि ईश्वर के विशेषण हैं, पर वे द्रव्य भी हैं।

उपासकों के अनुरोध से भगवान् पाँच मूर्तियों में रहते हैं। अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अंतर्यामी यह भगवान् के पाँच रूप हैं। यह क्रमशः ईश्वर के ऊँचे रूप हैं। उपासकों की बुद्धि और पवित्रता के अनुसार ही ईश्वर की विशिष्टमूर्त्ति पूजनीय है। देवमूर्तियां भगवान् का अर्चावतार हैं; मत्स्यावतार आदि 'विभव' हैं; वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध 'व्यूह' हैं, 'सूक्ष्म' से मतलब परब्रह्म से है; 'अंतर्यामी' प्रत्येक शरीर में वर्त्तमान है। 'सूक्ष्म' या 'पर' ब्रह्म से मतलब वैकुंठ-वासी भगवान् से भी समझा जाता है। शेष उनकी शय्या है और लक्ष्मी प्रियपत्नी। लक्ष्मी जगत् की माता हैं, वे ईश्वर की सृजन-शक्ति का मूर्त्त-चिह्न हैं। वे दंड देना नहीं जानतीं और पापियों के प्रति करुणामयी हैं।

साधना

साधक के लिये आवश्यक है कि पहले कर्मयोग (गीतोक्त) से अपने हृदय को शुद्ध कर ले। उसके बाद आत्मस्वरूप पर मनन करने का नंबर है। आत्मा या जीव

शरीर और इंद्रियों से भिन्न है। यह मनन या विचार ही ज्ञान-योग है। परंतु अपने आत्मा को जान लेना ही यथेष्ट नहीं है। रामनुज का निश्चित मत है कि भगवान् को जाने बिना मनुष्य अपने को नहीं जान सकता। भगवान् जीव के अंतरात्मा हैं, उन्हें बिना जाने जीव का स्व-रूप ठीक-ठीक नहीं जाना जा सकता।

भगवान् को जानने का उपाय भक्ति-योग है। यह साधनावस्था का सबसे ऊँचा स्टेज है। भक्ति का अभिप्राय भगवान् का प्रीति-पूर्वक ध्यान करना है (स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिः)। इस प्रकार ध्यान करने से ही भगवत्स्वरूप का बोध हो सकता है जो कि मोक्ष का अन्यतम साधन है। भगवान् पर अपनी संपूर्ण-निर्भरता (शेषत्व) की भावना और उससे उत्पन्न अनुरागपूर्णचिंतन ही भक्ति है। भक्ति मोक्ष का साधन नहीं है, भक्ति की अवस्था स्वयं साध्य है। भक्ति फलस्वरूप है। भक्ति की प्राप्ति ही जीवन का चरम उद्देश्य है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार किसी भी काल में मनुष्य को कर्म नहीं त्यागने चाहिए। कुमारिल की भाँति रामानुज का भी मत है कि नित्य कर्मों का सदैव अनुष्ठान करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि विशिष्टाद्वैत संन्यास का समर्थन नहीं करता। मोक्ष के लिए संन्यास आश्यक नहीं है। तथापि कर्म मोक्ष का साक्षात् साधन नहीं है, और न रामानुज 'समुच्चयवाद' के ही समर्थक हैं। मोक्ष का साक्षात् हेतु तो ज्ञान ही है; विशेष प्रकार का परमात्म-विषयक ज्ञान ही भक्ति है जो स्वयं मोक्षस्वरूप है।

ज्ञान और भक्ति केवल द्विजातियों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए हैं। शूद्रों के लिये 'प्रपत्ति' का उपदेश किया जाता है।[1]

---

[1] दे० सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ४७

प्रपत्ति का अर्थ है शरणागति; अपने को सब प्रकार भगवान् के ऊपर छोड़ देना प्रपत्ति है। प्रपत्ति वैष्णव-संप्रदाय की विशेष शिक्षा है रामानुज के मत में तो 'भक्ति' का पर्यवसान 'प्रपत्ति' में ही होना चाहिए। 'प्रपत्ति' भक्ति अंतिम दशा है।[1]

मोक्ष

रामानुज की मोक्ष-विषयक धारणा अन्य दर्शनों से भिन्न है। अन्य दर्शनों में मोक्षावस्था आत्मा और शरीर (प्रकृति जड़तत्त्व) के वियोग का नाम है। बुद्धि, मन, अंतःकरण आदि भौतिक हैं; लिंग-शरीर भौतिक है; उनका आत्मा से संसर्ग न रहना ही मोक्ष है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा के अनुसार मोक्षावस्था ज्ञान और आनंद की अवस्था नहीं है। पर रामानुज के मत में मोक्ष-दशा में शरीर, ज्ञान और आनंद सब का भाव होता है, अभाव नहीं। परंतु मुक्ति का शरीर अप्राकृतिक अथवा 'नित्यविभूति' का कार्य होता है। 'नित्यविभूति' के उपादान वैकुंठ में मुक्तजीव शरीरधारी होकर भगवान् के सान्निध्य का आनंद लूटते हैं। मुक्त जीव भगवान् के अत्यंत समान होता है, परंतु जगत् की उत्पत्ति, प्रलय आदि में उसका कोई नहीं होता।

एक दूसरी प्रकार के मुक्त जीव भी होते हैं, जिन्हें 'केवली' कहते हैं। यह जीव अपने स्वरूप पर मनन करके, जीव प्रकृति आदि से भिन्न हैं, इस पर विचार करके, मुक्त हुये हैं और सबसे अलग रहते हैं। स्पष्ट ही यह सांख्य-योग की मुक्ति विशिष्टाद्वैत को पसंद नहीं है। 'केवली' को मुक्त पुरुष मानना दूसरे दर्शनों के लिये आदर-भाव प्रकट करता है।

रामानुज का दर्शन जनता का दर्शन है। जनता को धार्मिक और

---

[1] दे० हिरियन्ना, पृ० ४१३

रामानुज का महत्त्व नैतिक विश्वासों का जैसा समर्थन रामानुज ने किया वैसा किसी ने नहीं किया । मैक्समूलर ने परिहास में लिखा है कि रामानुज ने हिंदुओं को उनकी आत्माएं वापिस दे दीं। अभिप्राय यह है कि शंकराचार्य ने जीव और व्यक्तित्व को मिथ्या या माया का कार्य बता दिया था जिससे हिंदू-जाति वास्तविक आत्मा की सत्ता में संदेह करने लगी थी, रामानुज ने जीव की पारमार्थिक सत्ता का मंडन किया। जीवात्मा, जगत् और ईश्वर तीनों की पारमार्थिक सत्ता है, न कि केवल व्यावहारिक। इस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन और नैतिक प्रयत्नों का महत्त्व बढ़ जाता है। हमारे कर्तव्य असली कर्तव्य हैं। जिन्हें पाप कहा जाता है वे वास्तव में पाप हैं। पाप-पुण्य, भले-बुरे आदि का भेद काल्पनिक या व्यावहारिक नहीं है। बंधन और मोक्ष वास्तविक हैं। बिना द्वैत को स्वीकार किये प्रेम या भक्ति नहीं हो सकती। प्रेमी और प्रेमास्पद, भक्त और भगवान् दोनों की वास्तविक सत्ता के बिना प्रेम और भक्ति संभव नहीं है।

रामानुज ने द्वैत के साथ अद्वैत की भी रक्षा की। जीव और प्रकृति भगवान् से भिन्न होते हुये भी उनकी विभूति, प्रकार या विशेषण हैं। क्योंकि जीव और प्रकृति दोनों ब्रह्म के प्रकार हैं, इसलिये उनमें अत्यंत विरोध नहीं होना चाहिए। प्रकृति से अत्यंत विच्छेद ही मोक्ष क्यों माना जाय? मुक्त-दशा में शरीर और उसके विषयों का वर्तमान होना इतना बुरा क्यों समझा जाय? रूप, रस, गंध, स्पर्श के अनुभवों से इतनी घृणा क्यों? मुक्त जीव भी 'नित्यविभूति' के शरीर और लोक में रमण करता है। मोक्ष का अर्थ सब प्रकार के अनुभवों का रुक जाना या ज्ञान का सर्वनाश नहीं है जैसा कि न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग मानते हैं। मुक्त जीव की अनुभूति बंद नहीं हो जाती, बढ़ जाती है; वह जड़ नहीं हो जाता, अधिक चेतन हो जाता है। तथापि यह नहीं

कहा जा सकता कि अन्य दर्शनों के घोर द्वैत ने रामानुज को प्रभावित ही नहीं किया। 'प्रकृति' और 'नित्यविभूति' का भेद इसी द्वैत का प्रभाव दिखलाता है। वास्तव में यह भेद स्वयं रामानुज की युक्तियों के अनुकूल नहीं है। यदि इसका यह अर्थ लगाया जाय कि मुक्त जीव प्रकृति से संसक्त होते हुये भी प्रकृति के दोषों से बचा रहता है, प्रकृति में जो शोभन और शुभ है, उसी से मुक्त जीव सहचरित होता है, तो रामानुज का मत निर्दोष है।

विशिष्टाद्वैत-दर्शन ने भक्ति, प्रेम, कर्तव्य आदि के लिए शंकर की अपेक्षा अधिक जगह निकाल ली; वह भगवद्गीता के भी अधिक अनुकूल है। इसीलिए आज भारत की अधिकांश जनता, ज्ञात या अज्ञात रूप से, रामानुज अनुयायिनी है। कुछ बिगड़े दिमाग़ के 'ऊँची कोटि के' पंडितों को छोड़ कर अद्वैत के वास्तविक अनुयायी कम हैं।

दार्शनिक कठिनाइयाँ

रामानुज की फिलॉसफी हृदय को अधिक संतुष्ट करती है, परंतु बुद्धि को वह उतना ही संतुष्ट नहीं कर पाती। हम यह नहीं कहते कि दार्शनिक को हृदय की आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं देना चाहिए, परंतु बुद्धि की मांगों का ख्याल रखना भी कम आवश्यक नहीं है। जो हृदय और बुद्धि दोनों को पूर्ण-रूप से संतुष्ट करे, ऐसे दर्शन का आविष्कार अभी मानव-जाति ने नहीं किया है। शंकर और रामानुज दोनों के दर्शन सदोष हैं। शंकर और रामानुज मनुष्य थे और मनुष्य की प्रत्येक कृति सदोष या अपूर्ण होती है। इस अध्याय के प्रारंभ में हमने शंकर की आलोचना की थी, अध्याय के अंत में हम रामानुज के दोषों का दिग्दर्शन करेंगे। हमें खेद है कि 'दोष-दर्शन' जैसा अप्रिय काम हमारे सिर पर पड़ा है, पर एक निष्पक्ष आलोचक से और क्या आशा की जा सकती है? दार्शनिक लेखक बड़े

प्रयत्न से दूसरे विचारकों के सिद्धांतों की व्याख्या करता है और फिर बने बनाये घर में आलोचना की कुल्हाड़ी लगा देता है। 'ऋषि एक नहीं है जिसका वचन प्रमाण हो' और जब ऋषिगण आपस में झगड़ पड़ें तो ग़रीब अध्येता, जो निष्पक्ष रहना चाहता है, क्या करे?

भक्ति के लिये भगवान् की आवश्यकता है, मानव-हृदय एक आदर्श की खोज में है जिस पर वह अपना प्रेम न्यौछावर कर सके। सत्य, शिव और सुंदर के आदर्श को मानव-बुद्धि ने भगवान या ईश्वर का नाम दिया है। परंतु ऐसे ईश्वर ने दुःखमय संसार की सृष्टि क्यों की, इसका कोई उत्तर नहीं है। जीवों के कर्मों को अनादि बताकर संसार के दुःख का उनके मत्थे मढ़ना बात को टाल देना है। इस सिद्धांत की परीक्षा (वेरीफिकेशन) संभव नहीं है। फिर करुणामय ईश्वर जीव के पाप कर्मों को नष्ट या क्षमा भी तो कर सकता है। किसी ईश्वरवादी ने इन कठिनाइयों का सामना ईमानदारी से नहीं किया है। योग-दर्शन ने ईश्वर को सृष्टि-रचना से अलग करके अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है, परंतु प्रकृति बिना ईश्वर की देख-रेख के विचित्र रचना कैसे करती है, यह भी सरल नहीं है।

रामानुज ईश्वर और जीव को निर्विकार मानते हैं। उन्होंने सारा परिवर्त्तन 'धर्मभूत-ज्ञान' को दे दिया है। परंतु जिस वस्तु के धर्मों (गुणों) में परिवर्त्तन होता रहता है उसे अपरिवर्त्तनीय कहना कहाँ तक ठीक है, यह विचारणीय है। ईश्वर के विशेषण जीव और प्रकृति दोष-ग्रस्त हैं, फिर ईश्वर को निर्दोष कहने का क्या अभिप्राय है?

असीम और ससीम का संबंध बताना दर्शनशास्त्र की प्रमुख समस्या है। जीव तथा जगत् और ईश्वर में क्या संबंध है, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जीव और प्रकृति द्रव्य हैं, उनका विशेषण या प्रकार होना समझ में

नहीं आता। रामानुज ने शंकर के निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म की आलोचना की है, परंतु रामानुज का अपना ब्रह्म उससे विशेष भिन्न नहीं है। यदि परिवर्तित होनेवाले और सदोष विशेषणों को हटा लिया जाय तो रामानुज के ब्रह्म का क्या शेष रह जाता है? यदि गुण और गुणी में अत्यंत भेद है तो ब्रह्म और उसके कल्याण गुणों में अत्यंत भेद है। उस दशा में स्वयं ब्रह्म एक प्रकार से निर्गुण ही रह जाता है।

विभिन्न जीवों में भेद करनेवाला क्या है, यह भी विशिष्टाद्वैत ठीक नहीं बतला सकता। सब जीव एक ही ब्रह्म के प्रकार या विशेषण हैं, फिर उनमें इतना भेद क्यों है? ब्रह्म के 'प्रकार' खंड-खंड क्यों हो रहे हैं? जीव और ज्ञान का संबंध भी विचित्र है। रामानुज के धर्मभूत ज्ञान की अपेक्षा सांख्य का अंतःकरण अधिक सुंदर धारणा है। अंतःकरण की वृत्तियों को पुरुष का चैतन्य प्रकाशित करता है। वृत्तियाँ जड़ हैं। रामानुज के अजड़ धर्मभूत ज्ञान और जीव का संबंध ठीक समझ में नहीं आता। दोनों द्रव्य हैं और एक दूसरे का विशेषण नहीं हो सकते।

ब्रह्म का एक प्रकार (जीव) दूसरे प्रकार (प्रकृति) को जानता है। इन प्रकारों का संबंध किस तरह का है? रामानुज 'परिणामवाद' के समर्थक हैं परतु परिणामवाद की कठिनाइयों से श्रुति की दुहाई देकर ही नहीं बचा जा सकता। दूसरे मतवाले श्रुति का दूसरा अभिप्राय बतलाते हैं। परिणामवाद का युक्ति-पूर्ण मंडन भी होना चाहिए। प्रकार और प्रकारी में अत्यंत भेद मानने पर अभेद श्रुतियों से विरोध होता है, अभेद मानने पर जीवों की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। जीव को स्वतंत्र मामने पर अद्वैत नहीं रह सकता और परतंत्र मानने पर 'उत्तरदायित्व' समझ में नहीं आता। परतंत्र जीव अपने कर्मों के लिए

उत्तरदायी नहीं हो सकता, उसे अच्छा-बुरा फल भी नहीं मिल सकता। अद्वैत-वेदांत ने इन कठिनाइयों से बचने के लिए मायावाद की शरण ली और पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोणों की कल्पना की। द्वैत व्यावहारिक या आपेक्षिक है. अद्वैत पारमार्थिक (माया मात्र मिदं द्वैत-मद्वैतं परमार्थतः) । परंतु रामानुज तो मायावाद के समर्थक नहीं हैं। उनकी कठिनाइयों का कोई दूसरा 'हल' या समाधान भी समझ में नहीं आता। उनका 'प्रकार्यद्वैत' या 'विशिष्टाद्वैत' दार्शनिक दृष्टि से निर्दोष नहीं है।

आठवां अध्याय

अन्य वेदांत तथा वैष्णव संप्रदाय

पिछले दो अध्यायों में वेदांत के दो प्रमुख संप्रदायों—अद्वैत और विशिष्टाद्वैत-का विवेचन किया गया है। श्री शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैतमत वेदांत-संप्रदायों का सिरमौर है। निर्गुण ब्रह्म के दुर्ग्राह्य होते हुये भी अद्वैतवाद का भारतीय विचारधारा पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वेदांत प्रायः शांकरमत का समानार्थक समझा जाने लगा। अद्वैत-बाद के निर्गुण ब्रह्म के विरुद्ध सगुण ब्रह्म अथवा उपास्य परमेश्वर की प्रतिष्ठा करने वालों में श्रीरामानुजाचार्य अग्रगण्य हैं। ऐतिहासिक काल-क्रम की दृष्टि से ही नहीं, वरन् दार्शनिक गंभीरता तथा तार्किक तीव्रता की दृष्टि से भी श्री रामानुज का विशिष्टाद्वैत-मत ही अद्वैतमत का वास्तविक प्रतिस्पर्द्धी गिना जा सकता है। किंतु श्री रामानुज के बाद भी अन्य अनेक आचार्यों ने विविध प्रकार से सगुण परमेश्वर की प्रतिष्ठा कर अद्वैतमत से भिन्न वेदांत-मतों का प्रवर्त्तन किया। इनमें मध्वाचार्य का द्वैतवाद, निंबार्क का द्वैताद्वैत, वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत और चैतन्य का अचिन्त्य भेदाभेदवाद मुख्य हैं। वेदांत के प्रस्थानत्रय—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता—पर आश्रित तथा प्रस्थानत्रय की ही विविधरूप व्याख्या द्वारा विस्तृत होने के कारण ये सभी मत वेदांत-परंपरा के ही अंतर्गत हैं। सगुण ब्रह्म के

रूप में विष्णु को परम-सत्य मानने के कारण इन्हें वैष्णव-संप्रदाय भी कहा जा सकता है ।

१—निंबार्काचार्य

काल-क्रम की दृष्टि से वेदांत के आचार्यों में रामानुज के बाद निंबार्क का नाम प्रथम उल्लेखनीय है। इनका समय रामानुज के कुछ ही बाद ग्यारहवीं शताब्दी समझना चाहिये। यह तेलेगू ब्राह्मण थे। बिलारी प्रांत में निंबपुर नामक ग्राम इनका निवास स्थान था। निंबार्क रचित 'दशश्लोकी' के टीकाकार हरिव्यासदेव के अनुसार इनके पिता का नाम जगन्नाथ और माता का नाम सरस्वती था। इनके रचे हुये कई ग्रंथ कहे जाते हैं जिनमें 'वेदांतपारिजातसौरभ' और 'सिद्धांत रत्न' अधिक प्रसिद्ध तथा महत्त्व-पूर्ण हैं। 'वेदांतपारिजातसौरभ' ब्रह्मसूत्रों के ऊपर निंबार्क-कृत भाष्य है और निंबार्क संप्रदाय का मूल-ग्रंथ है। 'सिद्धांत-रत्न' दश श्लोकों में निंबार्क-मत का सार है और श्लोक-संख्या के कारण 'दश-श्लोकी' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

शंकराचार्य के अद्वैत-वेदांत के निर्गुण ब्रह्म और मायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया-रूप से जिन वेदांत संप्रदायों का उदय हुआ उनमें सामान्य रूप से ब्रह्म को सगुण तथा जीव और जगत् को सत्य माना गया है। उनमें केवल विशेष सिद्धांतों के विषय में मत भेद है। निंबार्क का मत द्वैताद्वैत कहलाता है, जो भास्कराचार्य के भेदाभेदवाद से समानता रखता है। रामानुज के समान निंबार्क के मतानुसार भी तीन चरम तत्त्व हैं अर्थात् चित्, अचित् और ईश्वर। जीव और जगत् की कोई पृथक् सत्ता नहीं है; वे सदा ईश्वर के आश्रित हैं और इस दृष्टि से वे ईश्वर से अभिन्न हैं। यह अभिन्नता निंबार्क मत में अद्वैत का अंश है। किंतु जीव और जगत् का ईश्वर से नितांत एकत्व नहीं है; उनका

ईश्वर से भिन्न एक विविक्त स्वरूप है। यह स्वरूप-भेद द्वैत का अंश है। भेद और अभेद का इस प्रकार समन्वय होने के कारण निंबार्क मत द्वैताद्वैत कहलाता है। रामानुज के समान तत्त्व-त्रय को मानते हुये भी निंबार्क-मत एक अंश में रामानुजमत से भिन्न है—रामानुज का आग्रह अद्वैत के प्रति अधिक है, किंतु निंबार्क-मत में अद्वैत और द्वैत दोनों का समान महत्त्व है। रामानुज के समान भेद अद्वैत का विशेषण मात्र है, अतः गौण नहीं वरन् सम-सत्ताक है।

निंबार्क मत में भी चित्, अचित् और ईश्वर तीन चरम तत्त्व माने गये हैं। अन्य प्रकार से इन्हें भोक्ता, भोग्य और नियंता भी कहा गया है।

१—चित्-चित् तत्त्व-जीव है। जीव ज्ञान-स्वरूप है। किंतु वह ज्ञान का आश्रय अर्थात् ज्ञाता तथा कर्म का आश्रय अर्थात् कर्त्ता है, शंकर के जीव की भाँति ज्ञान-मात्र तथा अकर्त्ता नहीं। ज्ञान जीव का स्वरूप ही नहीं, गुण अथवा धर्म भी है। गुण और गुणी अथवा धर्म और धर्मी का तादात्म्य नहीं होता। उनमें अपृथक्भाव होते हुये भी भेद है। जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय तथा प्रकाश का आश्रय दोनों है, उसी प्रकार जीव भी ज्ञानमय तथा ज्ञानाश्रय दोनों है। जीव कर्त्ता भी है। प्रत्येक अवस्था में जीव का कर्तृत्व वर्त्तमान रहता है। सांसारिक अवस्था में तो जीव का कर्तृत्व सर्वमान्य है। शंकराचार्य की भाँति जो मुक्तावस्था में जीव का कर्तृत्व नहीं मानते उनसे निंबार्क का मतभेद है। जिस प्रकार सांसारिक अवस्था में जीव का कर्तृत्व अनुभवसिद्ध है, उसी प्रकार मुक्तावस्था में जीव का कर्तृत्व श्रुति सम्मत है। जिस प्रकार 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' 'स्वर्गकामो यजेत' आदि श्रुतियाँ संसार अवस्था में आत्मा के कर्तृत्व का प्रतिपादन करती हैं, उसी प्रकार 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत' 'शान्त उपासीत' आदि श्रुतियों से मुक्तावस्था में भी उपा-

सना आदि रूप से जीव का कर्तृत्व सिद्ध होता है। जीव के कर्तृत्व की निषेधक श्रुतियों का तात्पर्य केवल यही है कि जीव का कर्तृत्व स्वतंत्र रूप से नहीं है। जीव ईश्वर के आश्रित है; ईश्वर अंतर्यामी तथा जीव और जगत् का नियंता है। प्रत्येक कर्म में ईश्वर का नियंत्रण रहने के कारण जीव स्वतंत्र कर्त्ता नहीं है।

जीव ज्ञाता तथा कर्त्ता होने के साथ-साथ भोक्ता भी है। किंतु ज्ञान और कर्म की भाँति अपने भोग की प्राप्ति के लिये भी वह ईश्वर के आश्रित है। चैतन्यात्मक और ज्ञानाश्रय रूप से ईश्वर के समान होते हुये भी जीव का ईश्वर से व्यावर्त्तक एक विशेष गुण नियम्यत्व है। ईश्वर नियंता है और जीव सदा नियम्य है। मुक्त अवस्था में भी जीव ईश्वर के अधीन और आश्रित रहता है।

परिमाण में जीव अणु है तथा संख्या में नाना है। अणु होते हुये भी जीव का ज्ञान गुण व्यापक है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश दूर तक व्याप्त रहता है उसी प्रकार जीव का चैतन्य समस्त देह में व्याप्त रहता है। भिन्न-भिन्न देहों में भिन्न-भिन्न जीव हैं। इस प्रकार जीवों की संख्या अनंत है। शंकर के कतिपय अनुयायियों का एक जीववाद निंबार्क को मान्य नहीं। ये अणु और अनंत जीव ईश्वर के अंश हैं। अंश का अर्थ अवयव अथवा विभाग नहीं; ईश्वर कोई अंश-संघात अथवा विभज्य समष्टि नहीं है। अंश का अर्थ शक्तिरूप है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। वह अपनी अनंत शक्ति द्वारा अनंत शक्तिरूपों में व्यक्त होता है। ईश्वर की अनंत शक्ति का रूप होने के कारण जीव ईश्वर का अंश है।

ये जीव दो प्रकार के होते हैं एक जो मुक्त है और परमानंद की अवस्था को प्राप्त है; दूसरे जो संसार चक्र में फंसे हुये हैं। मुक्त जीव भी दो प्रकार के होते हैं—एक जो नित्यमुक्त और सदा परमानंद को प्राप्त हैं जैसे गरुड़, विश्वक्सेन आदि दूसरे जो साधना-द्वारा संसार चक्र

से मुक्त होकर परमानंद की प्राप्ति करते हैं। संसार चक्र में आबद्ध जीव अनादि अज्ञान के परिणाम-भूत कर्म के संसर्ग से अपने मूल स्वरूप से च्युत हो जाते हैं। अज्ञान आवरण से उनका मूल आनंद-रूप तिरोहित हो जाता है। भगवान् के प्रसाद से यह अज्ञान बंधन छिन्न हो सकता है और जीव अपने पूर्णानंद रूप को प्राप्त होता है।

२—अचित्—अचित् तत्त्व का अर्थ चेतना-हीन पदार्थ है। यह तीन प्रकार का होता है (१) प्राकृत, (२) अप्राकृत और (३) काल। (१) प्राकृत पदार्थ से अभिप्राय महत्तत्त्व से लेकर महाभूत पर्यंत जगत् से हैं जो प्रकृति से उत्पन्न है। यह प्रकृति सांख्य की प्रकृति के समान ही त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्व, रजस्, तमस् से युक्त है। किंतु यह प्रकृति सांख्य-प्रकृति के समान स्वतंत्र नहीं वरन् ईश्वर द्वारा नियंत्रित है। (२) अप्राकृत वे पदार्थ कहलाते हैं जो प्राकृतिक अर्थात् प्रकृति के गुणों से निर्मित नहीं हैं। जैसे भगवान् का लोक, भगवान् के अलंकार आदि। निंबार्क का यह अप्राकृत तत्त्व रामानुज के शुद्ध सत्व या नित्य-विभूति के समान ही है। (३) काल प्राकृत तथा अप्राकृत दोनों से भिन्न तत्त्व है। जगत् के समस्त पदार्थों के निरंतर परिणाम का कारण काल ही है। संसार चक्र का नियामक होते हुये भी काल ईश्वर के लिये नियम्य है। काल अखण्डरूप है, यद्यपि उसके औपाधिक भेद हैं। स्वरूप से नित्य होते हुये भी वह कार्य रूप से अनित्य है।

३—ईश्वर—निंबार्क मत में भी ब्रह्म की कल्पना रामानुज-मत की भाँति सगुण रूप से की गई है, यद्यपि दोनों कल्पनाओं में कुछ अंतर है। सगुण ब्रह्म का ही नाम ईश्वर है। निंबार्क ने कृष्ण को परमेश्वर माना है। यह ईश्वर जीव और जगत् का नियंता तथा

अविद्यादि दोषों से रहित और समस्त कल्पना गुणों से युक्त है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार व्यूह उस ईश्वर के अंग हैं। यह व्यूहों की कल्पना पांचरात्रमत तथा रामानुजमत के समान ही है। यह ईश्वर मत्स्य—कूर्मादि रूप से जगत् में अवतरित होता है और जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है। ईश्वर के उपादान कारण होने का अर्थ यह है कि वह चित् और अचित् शक्तियों के सूक्ष्म रूप से स्थूल रूप में अभिव्यक्त होने का कारण है। कर्मानुरूप फल और उनके भोग-साधनों की योजना का व्यवस्थापक होने के कारण वह संसार का निमित्त कारण है। अतः सृष्टि का अर्थ केवल सूक्ष्म की स्थूल रूप में अभिव्यक्ति है। इस प्रकार सृष्टि सूक्ष्म तत्त्व का स्थूल रूप में 'परिणाम' है। शंकराचार्य का 'विवर्त्तवाद' निंबार्क को मान्य नहीं है। ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण जगत मिथ्या विवर्त्तमात्र नहीं है, क्योंकि अन्यत्र वस्तुतः वर्त्तमान पदार्थ का ही अन्य पर अध्यास हो सकता है। रामानुज की जीव-जगत् विशिष्ट ब्रह्म की उपादान-कारण-कल्पना से निंबार्क के ईश्वर की कल्पना कुछ भिन्न है। रामानुज जिसे ब्रह्म का शरीर कहते हैं, उसे निंबार्क शक्ति कहते हैं। रामानुज के अनुसार जगत् ब्रह्म की विशेषणभूत प्रकृति का परिणाम है, निंबार्क के अनुसार वह ब्रह्म की शक्ति का परिणाम है। दोनों के अनुसार यह परिणाम ब्रह्म को नहीं छूते। ब्रह्म नित्य स्वरूप में संस्थित रहता है।

चित्, अचित् और ईश्वर इन तीन तत्त्वों के संबंध की कल्पना निंबार्क मत की मौलिकता है। कहा जा चुका है कि निंबार्क का मत द्वैताद्वैत है। इस मत का आधार उक्त तीन तत्त्वों के संबंध में द्वैत और अद्वैत का समन्वय है। जीव, जगत् और ईश्वर न एक-दूसरे से अत्यंत भिन्न हैं और न उनका पूर्ण तादात्म्य ही है। अतः इस संबंध

को न द्वैत कह सकते हैं और न अद्वैत। किंतु साथ ही यह संबंध द्वैत और अद्वैत दोनों है। द्वैत-परक तथा तथा अद्वैत-परक श्रुतियाँ दोनों समान रूप से सत्य हैं। एक को मानने पर अन्य श्रुतियों का विरोध होगा। श्रुतियों में ईश्वर के उन गुणों का वर्णन किया गया है जो जीव और जगत् में नहीं पाये जाते, अतः भेद अथवा द्वैत अंश का स्वीकरण आवश्यक है। किंतु इस अर्थ में उनमें अद्वैत अथवा अभेद भी है कि चित् और अचित् की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है; वे सदा ईश्वर के आश्रित हैं। ईश्वर और जीव का संबंध दीपक और प्रकाश के समान द्वैताद्वैत है। ईश्वर और जगत् का संबंध अहि-कुण्डल के समान द्वैताद्वैत है।

निंबार्क मत में स्वीकृत तीन तत्त्वों में ईश्वर परम तत्त्व है। रामानुज के नारायण और लक्ष्मी के स्थान पर निंबार्क ने कृष्ण और राधा को स्थापित किया है। जीव के लिये संसार-बंधन से मोक्ष प्राप्त करने के लिये कृष्ण की भक्ति परम मार्ग है। यह भक्ति भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त होती है। प्रपत्ति तथा अन्य गुणों से जीव भगवत्कृपा के योग्य बनता है। भक्ति का अर्थ रामानुज की भांति ध्यान या उपासना नहीं वरन् अनुराग या प्रेम है। प्रपत्ति का अर्थ एक मात्र ईश्वराश्रय की भावना है। भक्ति से भगवत्साक्षात्कार होता है। यही मोक्ष है और यह शरीरावस्था में संभव नहीं है। अतः निंबार्क मत में जीवन्मुक्ति मान्य नहीं है।

२—मध्वाचार्य

शंकर के आलोचक वेदांत के आचार्यों में मध्व का नाम प्रमुख है। मध्व के द्वैतवाद में अद्वैतवाद का विरोध प्रबलतम रूप में व्यक्त हुआ। द्वैतवाद में अद्वैतवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का पर्यवसान-सा

प्रतीत होता है। शंकर ने द्वैत का निराकरण कर अद्वैतवाद का स्थापन किया। रामानुज ने अद्वैत को प्रधान मानते हुये द्वैत को उसका विशेषण मानकर दोनों के समन्वय पूर्वक विशिष्टाद्वैत का मंडन किया। निंबार्क ने अद्वैत और द्वैत दोनों तत्वों को समान महत्त्व देकर द्वैताद्वैत का समर्थन किया और इस प्रकार द्वैत को रामानुज की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया। मध्व ने भेद को मुख्य मान कर अद्वैतवाद के विरुद्ध द्वैतवाद की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार शंकर के अद्वैतवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का पर्यवसान मध्व के द्वैतवाद में हुआ।

दक्षिण देश में 'उडिपी' नामक स्थान आज मध्व संप्रदाय का केंद्र है। उसी के पास रजतपीठ नामक स्थान पर जो वर्त्तमान कल्याणपुर का समस्थानीय माना जा सकता है, सन् ११९९ में मध्वाचार्य का जन्म हुआ। मध्वाचार्य पूर्णप्रज्ञ तथा आनंद तीर्थ के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनके पिता का नाम मध्यगेह भट्ट तथा गुरु का नाम अच्युतप्रेक्ष था।

भारतवर्ष के मुख्य तीर्थों में पर्यटन कर मध्वाचार्य ने अपने द्वैतमत का प्रचार किया। इनके रचे हुये ३७ ग्रंथ कहे जाते हैं जिनमें कुछ प्रमुख ग्रंथों के नाम ये हैं (१) ब्रह्मसूत्र भाष्य; (२) अनुव्याख्यान (भाष्य में मंडित मत की पोषक अल्पाक्षरावृत्ति); (३) दशोपनिषद् भाष्य; (४) गीताभाष्य; (५) महाभारत तात्पर्यनिर्णय; (६) भागवत तात्पर्यनिर्णय; (७) गीतातात्पर्यनिर्णय; (८) उपाधि खण्डन; (९) मायावाद खण्डन; (१०) प्रपंचमिथ्यानुमान खण्डन; (११) तत्त्वविवेक। मध्व के अनुयायियों में जयतीर्थ अपनी प्रतिभा और पाण्डित्य के लिये प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मध्व के भाष्यों पर विद्वत्तापूर्ण वृत्ति ग्रंथों की रचना कर द्वैतसिद्धांत का प्रबल परिपोषण किया। जयतीर्थ की 'वादावली' तथा व्यासराज का 'भेदोज्जीवन' द्वैतवाद के प्रसिद्ध वाद-ग्रंथ हैं।

मध्वाचार्य का सिद्धान्त द्वैतवाद कहलाता है। मध्व मत में अद्वैत का खण्डन करके भेद अथवा द्वैत का स्थापन किया गया है। मध्व और उनके अनुयायियों ने अद्वैतवाद का खण्डन किया है। तथा शंकराचार्य के अध्यास और विवर्त्त सिद्धांत की आलोचना की है। मध्व ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि भ्रम या भ्रांति भी सर्वथा नियम-हीन नहीं होती। रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, शुक्ति में रजत का। यदि भ्रम में वस्तु के आधार का नियम न हो तो रस्सी में ही सर्प का भ्रम क्यों हो,रस्सी में हाथी का भ्रम क्यों न हो ? भ्रम के लिये दो वास्तविक पदार्थों का होना आवश्यक है। सर्प और रजत की वास्तविक सत्ता है, इसलिये उनका भ्रम होता है। यदि जगत् की वास्तविक सत्ता नहीं तो ब्रह्म में उसका अध्यास या भ्रम भी नहीं हो सकता।

मध्व ने निबार्काभिमत अद्वैत और द्वैत के समन्वय को अस्वीकृत कर भेद का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार भेद और अभेद दोनों का एक कोटि में प्रतिपादन व्याघात-दोषयुक्त है। द्वैत और अद्वैत दोनों की एकत्र स्थिति असम्भव है। और न अतद्वैवदियों का अभिमत जगन्मिथ्यावाद मध्व को मान्य है। यदि जगत् में प्रत्येक वस्तु मिथ्या है तो जगन्मिथ्या है अथवा बाध्य है यह कथन भी मिथ्या है। इस प्रकार जगत् की सत्यता ही सिद्ध होती है। जगत् का अंत में बाध हो जाता है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। जगत् की सत्ता का कभी तिरोधान नहीं होता। जगत् मिथ्या नहीं यथार्थ है। यदि भ्रम भी हो तो उससे जगत् की असत्ता सिद्ध नहीं होती वास्तविक सत्ता के आधार के बिना भ्रम अकल्पनीय है। अद्वैतवदियों की इष्ट अनिर्वचनीय कोटि भी मध्व को मान्य नहीं। शंकर की सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय कोटि का मध्व ने खण्डन किया है। सत् और असत् से भिन्न कोई

तीसरी कोटि नहीं है। जगत् सत् है, क्योंकि वह वर्तमान है। उसकी सत्ता का बाध कभी नहीं होता।

इस प्रकार जगत् की सत्ता का समर्थन कर मध्व में द्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। संसार में भेद नहीं है अभेद ही है, अथवा भेद अवास्तविक या मायिक है, यह कहना साहस मात्र है। भेद वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप है। वह साक्षात् अनुभव सिद्ध है। साक्षात् अनुभव की सत्यता का प्रत्याख्यान किसी तर्क द्वारा नहीं किया जा सकता। श्रुति भी भेद का प्रतिपादन करती है। जीव और ईश्वर के स्वरूप का भेद श्रुतियो से स्पष्ट है। ईश्वर जगत् का सृष्टा और सर्वज्ञ तथा सर्व शक्तिमान् है। जीव में ये गुण नहीं हैं। अतः भेद प्रत्यक्ष तथा श्रुति उभयथा सिद्ध है। भेद की वास्तविकता को माने बिना जगत का कोई व्यवहार हीं चल सकता। गुरु और शिष्य, पिता और पुत्र, पति और पत्नी के संबंध भेद की सत्ता सिद्ध करते हैं। यदि भेद न हो तो समाज और उसके व्यवहारों का लोप हो जाय। पाप और पुण्य, ज्ञान और अज्ञान का भेद तो अद्वैत वादियों को भी मानना पड़ेगा। यदि प्रमा और अप्रमा (यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान) में भेद नहीं है तो दार्शनिक चिन्तन की आवश्यकता ही क्या है ?

मध्व के अनुसार पाँच प्रकार के भेद मूल और नित्य हैं :—

१- ईश्वर और जीव का भेद—ईश्वर सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् है, जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्तिमान् है। अतएव उनमें भेद है।

२—ईश्वर और जड़ जगत् का भेद—जीव की भांति जड़ जगत् भी ईश्वर से भिन्न है। एक चेतन है, दूसरा जड़; एक सृष्टा है, दूसरा सृष्टि, एक नियामक है और दूसरा नियम्य।

३— जीव और जगत् का भेद—जीव चेतन है और जगत् जड़। प्राणधारी और प्राण—शून्य पदार्थों की भिन्नता बालक भी

जानते हैं। उसे सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

४—जीव और जीव का भेद—जीव अनेक हैं और उनके अनुभवों में भेद है। अन्यथा सुख, दुःख, हर्ष, शोक आदि अनुभव सबको साथ-साथ होते। मोक्षावस्था में भी जीवों के अनुभव विलक्षण होते हैं।

५—जड़ और जड़ का भेद—जिस प्रकार एक जीव दूसरे जीव से भिन्न है, उसी प्रकार एक जड़ पदार्थ भी दूसरे जड़ पदार्थ से भिन्न है। कुर्सी और मेज़ अलग-अलग है।

इस भेदवाद के आधार पर मध्व ने अपने द्वैत सिद्धांत का निर्माण किया है। उनके अनुसार दो मूल तत्त्व हैं—स्वतंत्र और परतंत्र। केवल विष्णु स्वतन्त्र है शेष सब परतंत्र हैं। परतंत्र पदार्थों के दो भेद हैं—भाव और अभाव। सत्तावान् पदार्थ भाव कोटि में है। प्रागभाव ध्वंसाभावादि अभाव कोटियाँ है। भाव पदार्थ भी दो प्रकार के होते हैं—चेतन, और अचेतन या जड़। चेतन जीव दुःखानुषक्त और दुःखाननुषक्त दो प्रकार के होते हैं। दुःखानुषक्त के मुक्त और दुःखाबद्ध दो भेद हैं। दुःखाबद्ध के मोक्षार्ह और अमोक्षार्ह दो प्रकार हैं। भक्ति-साधना द्वारा ईश्वरानुग्रह के अधिकारी मोक्षार्ह हैं। राक्षस, पिशाचादि नीचजन अमोक्षार्ह और अनंत बंधन के अधिकारी हैं। अचेतन अथवा जड़ पदार्थ भी तीन प्रकार के होते हैं—नित्य, अनित्य तथा नित्यानित्य। वेद नित्य हैं। पदार्थ-जगत् अनित्य है। पुराण, प्रकृति आदि नित्यानित्य हैं; ये स्वरूप से नित्य, किंतु संसार-क्रम में अनित्य हैं।

अन्य प्रकार से मध्व ने कुछ वैशेषिक के समान पदार्थों का विभाजन किया है। माध्व के अनुसार नौ पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव।

द्रव्य बीस हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृताकाश, प्रकृति, त्रिगुण, महत् अहंकार, बुद्धि, मनस, इंद्रिय, भूत, मात्र (तंमात्र) अविद्या, वर्ण, अन्धकार वासना, काल और प्रतिबिम्ब। गुण वैशेषिक के समान ही माने गये हैं, केवल शम, कृपा, तितिक्षादि मानसिक गुणों का समावेश और कर दिया गया है। कर्म वह है जो साक्षात् अथवा आरात् रूप से पुण्य अथवा पाप का कारण होता है। वह तीन प्रकार का होता है—विहित, प्रतिषिद्ध और उदासीन। जाति या सामान्य न्याय वैशेषिक के समान नित्य नहीं है वरन् नित्य द्रव्यगत सामान्य नित्य तथा अनित्यद्रव्यगत सामान्य अनित्य है। विशेष अनंत हैं। शक्ति चार प्रकार की होती है (१) परमात्मा की अचिंत्य शक्ति (२) पदार्थों की सहज शक्ति या कारण शक्ति जो परिणाम का कारण है। (३) प्रतिष्ठा द्वारा देव प्रतिमाओं आदि में संस्कार कार्य द्वारा उत्पन्न आधेय शक्ति। (४) पद-शक्ति। सादृश्य का अर्थ समानता है, जो दो भिन्न पदार्थों के बीच होती है। अभाव तीन प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव।

मध्व मत की उक्त पदार्थ-मीमासा में ईश्वर, जीव, और जगत् तीन पदार्थ मुख्य हैं। इन तीन पदार्थों का भेद और इनकी प्रमुखता सभी अद्वैतेतर वेदांतों में समान है, यद्यपि इनके स्वरूप और संबंध के विषय में उनमें परस्पर भेद है।

ईश्वर—अन्य वैष्णव संप्रदायों की भाँति मध्व ने भी अद्वैत के निर्गुण ब्रह्म का निराकरण कर सगुण परमेश्वर को परम सत्य माना है। मध्व के मतानुसार निर्गुण ब्रह्म शून्य-कल्प ही है सगुण ब्रह्म अथवा परमेश्वर ही परम सत्य है। वह अनंत गुणों का आगार है। निर्गुण सूचक श्रुतियाँ ईश्वर में हेय गुणों का निराकरण करती हैं। वह विश्व का स्रष्टा

और नियंता है। किंतु मध्व परमात्मा को सृष्टि का उपादान कारण नहीं मानते वह केवल निमित्त कारण है। वह जीव और जगत् से भिन्न तथा दोनों का नियामक है। सृष्टि का सृजन, संरक्षण, संहार, नियंत्रण, तथा जीवों के ज्ञान, बंध, मोक्ष आदि ईश्वर के गुण हैं। उसका ज्ञान-रूप अलौकिक शरीर है। वह ईश्वर एक होकर भी अनेक रूपों में व्यक्त होता है; उसके सभी अवतारों में गुण कर्मादि रूप से समान है। लक्ष्मी उसकी सहचरी तथा शक्ति है परमात्मा से अत्यंत भिन्न होकर भी लक्ष्मी उसके पूर्ण आश्रित है। वह नित्य मुक्त है।

जीव—जीव अज्ञान, मोह, दुःख आदि दोषों से युक्त तथा संसरण शील होते हैं। ये संख्या में अनंत तथा एक—दूसरे से भिन्न हैं। मुख्यतया जीव तीन प्रकार के होते हैं—मुक्ति योग्य, नित्यसंसारी तथा तमोयोग्य। मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्त्ती तथा उत्तम मनुष्य रूप पाँच प्रकार के होते हैं। नित्य संसारी जीव कर्मानुसार सदा स्वर्ग-नरकादि लोकों में विचरण करते रहते हैं। वे कभी मुक्ति नहीं पाते। दैत्य राक्षस, पिशाच तथा अधम मनुष्य ये चार तमोयोग्य जीव हैं। संसार दशा की भाँति मुक्तावस्था में जीवों के आनंदानुभव सर्वथा एक से नहीं होते, उनमें कुछ व्यक्तिगत भेद रहता है।

जगत्—जगत् का उपादान कारण प्रकृति है; ईश्वर केवल निमित्त कारण है। सृष्टि की कल्पना माध्व मत में सांख्य के समान ही है।

मोक्ष-साधना—भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। परमेश्वर की पूर्ण और निष्काम भक्ति मोक्ष का एक मात्र साधन है। परमेश्वर के गुण और महिमा के ज्ञान-पूर्वक परम-स्नेह का नाम भक्ति है। परमेश्वर

के गुणों के ज्ञान से उस पर निर्भर होने की भावना उत्पन्न होती है। ज्ञान से भक्ति उत्पन्न होती है। पवित्र जीवन व्यतीत करने से सत्य की उपलब्धि होती है। गुरु के चरणों में बैठ कर नियम-पूर्वक वेदाध्ययन करने से तत्त्व बोध होता है किंतु सब कुछ करने पर भी बिना भगवान् की कृपा के न ज्ञान हो सकता है और न मोक्ष। परमेश्वर कृपा कर अज्ञानियों को ज्ञान और ज्ञानियों को मोक्ष प्रदान करता है। जीव परमात्मा पर अवलम्बित होते हुये भी कर्म करने में स्वतंत्र है, और साधना द्वारा सत्व-शुद्धि कर ज्ञान, भक्ति और मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। ज्ञान के लिये वैराग्य शम, दमादि का संपादन तथा स्वाध्याय, शरणागति, गुरु-सेवा शास्त्र-श्रवण, मनन, ईश्वरार्पण बुद्धि और ईश्वरोपासना आवश्यक हैं।

मध्व-मत के अनुसार मोक्ष ब्रह्म के साथ तादात्म्य की प्राप्ति नहीं है। ब्रह्म-जीव का भेद नित्य है। मुक्तजीव ईश्वर की विभूति और आनद के भागी हो जाते हैं। किंतु रामानुज के मत की भाँति सभी जीव समान रूप से ब्रह्म के पूर्ण-आनंद के अधिकारी नहीं होते। वे-अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसमें भाग लेते हैं। प्रत्येक जीव का मुक्तावस्था में आनंदानुभव भिन्न होता है। उनकी बुद्धियाँ, इच्छायें और उद्देश्य एक हो जाते हैं, यही उनकी एकता है। एकता का अर्थ तादात्म्य नहीं है।

३—वल्लभाचार्य

वल्लभाचार्य का सिद्धांत शुद्धाद्वैत के नाम से विख्यात है। संप्रदाय-परंपारा के अनुसार विष्णुस्वमी इसके मूल प्रवर्त्तक माने जाते हैं। किंतु इस संप्रदाय के प्रचार और प्रसिद्धि का श्रेय वल्लभाचार्य को है। वल्लभ का जन्म सन् १४७६ ई० में हुआ। इनके पिता लक्ष्मण भट्ट

नामक तैलंग ब्राह्मण थे। काशी यात्रा के मार्ग में इनका जन्म हुआ था। इनका जीवन-क्षेत्र भी उत्तर भारत में रहा। मथुरा तथा वृंदावन इनके कार्य-क्षेत्र के केंद्र रहे। 'अणुभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मसूत्र का भाष्य वल्लभ की मुख्य रचना है 'तत्त्वदीप निबंध' में भागवत के सिद्धांतों का प्रतिपादन है। 'सुबोधिनी' नाम भागवत की टीका भी वल्लभमत का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। वल्लभाचार्य के बाद उनके द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी ने पिता के ग्रंथों पर टीका टिप्पणी लिखकर पुष्टिमार्ग की पर्याप्त प्रतिष्ठा की। पुरुषोत्तम जी वल्लभ संप्रदाय के एक विद्वान् टीकाकार हैं। 'भाष्य प्रकाश' नामक टीका लिखकर इन्होंने वल्लभ के 'अणुभाष्य' के गूढ़ार्थ की मार्मिक अभिव्यंजना की है। विट्ठलनाथ जी के पुत्र गिरिधर महाराज का 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' वल्लभमत का विवेचक प्रख्यात ग्रंथ है।

माया से अलिप्त शुद्ध ब्रह्म को परम सत्य मानने के कारण वल्लभ-वेदान्त का नाम 'शुद्धाद्वैत' है। यह ब्रह्म निर्गुण नहीं सगुण है, तथा माया-संबंध-रहित अद्वितीय तत्त्व है। जीव और जगत् सत्य हैं, माया नहीं, फिर भी ब्रह्म के अद्वैत रूप से कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार अन्य वैष्णव-वेदांतों में स्वीकृत तीन तत्त्व—ब्रह्म,, जीव और जगत् —वल्लभ को भी मान्य है। किंतु मध्वमत की भांति उनका भेद नहीं वरन् अद्वैत वल्लभ को इष्ट है। वल्लभ मत में उनकी कल्पना निम्न प्रकार है।

ब्रह्म —एक अद्वैत ब्रह्म ही परम तत्त्व है। वह एक, शुद्ध, अद्वैत, नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वगुण-संपन्न तथा सच्चिदानंद स्वरूप है वह अनंत-ऐश्वर्य-युक्त है तथा उस ऐश्वर्य के कारण परस्पर विरोधी गुणों की भी सत्ता उसमें संभव है। अतः निर्गुण तथा सगुण दोनों

रूपों में ब्रह्म का निरूपण करने वाली श्रुतियाँ समान रूप से सत्य हैं। विरुद्ध धर्मों की सत्ता माया-प्रतिभास नहीं वरन् स्वाभाविक है भगवान् अनेक रूप होकर भी एक हैं; अणोरणीयान् महतोमहीयान् हैं; पूर्ण स्वतंत्र हो कर भी भक्त के पराधीन हैं यह अनंत अलैकिक ऐश्वर्य से संपन्न एक शुद्ध अद्वैत ब्रह्म ही अनेक रूपों में व्यक्त होता है। यह संसार उस की लीला का विलास है। संसार रूप में व्यक्त होने पर भी उसके स्वरूप में कोई भेद नहीं आता। अहि-कुण्डल के समान संसार भी ब्रह्म का ही लीला-रूप है। ब्रह्म जगत् का उपादान तथा निमित्तकारण दोनों हैं। वह जगत् का सृष्टा है और संपुर्ण सृष्टि में व्याप्त है। सृष्टि में व्याप्ति की दृष्टि से वल्लभ उपादान कारण की अपेक्षा ब्रह्म को समवायी कारण कहना अधिक उचित समझते हैं। उपादान कारण की कल्पना में उपादान-पदार्थ के परिणाम या विकार की आपत्ति होती है। समवायी कारण रूप से ब्रह्म संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। अपनी अनंत शक्ति से सच्चिदानंद—ब्रह्म बहुरूप से व्यक्त होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार एकाकी अवस्था में रमण न कर सकने के कारण उसने अनेक रूप से होने की इच्छा को और वह अनेक जीव और बहुरूप जगत् के रूप में व्यक्त होता है। भगवान् के सत् चित् और आनंद रूप के आविर्भाव-तिरोभाव द्वारा सृष्टि और मोक्ष होते हैं। सत् रूप से ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त और वर्तमान है आनंद के तिरोहित होने से जीव की सृष्टि होती है। चित् के भी तिरोहित होने से भौतिक जगत् की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार संपूर्ण सृष्टि ब्रह्मरूप ही है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। इस ब्रह्म के तीन रूप होते हैं—(१) आधिदैविक रूप जो परब्रह्म, परमेश्वर, सच्चिदानंद लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण जो अनंत गुण और ऐश्वर्य संपन्न हैं तथा जो भक्त द्वारा प्राप्य है। (२) आध्यात्मिक रूप जो अक्षर ब्रह्म है तथा जो समस्त गुणों के तिरोभाव के कारण निर्गुण

रूप तथा ज्ञानी द्वारा ज्ञेय है। (३) अंतर्यामिन् रूप जो विष्णु के विविध अवतारों में व्यक्त होता है। जड़ जगत् भी ब्रह्म का आधिभौतिक रूप है।

जीव—जीव ब्रह्म का ही रूप तथा अंश है। जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग प्रकट होते हैं उसी प्रकार जीव ब्रह्म के अंश मात्र हैं। अंश तथा अंशी के समान जीव और ब्रह्म में अभेद है। भगवान् अपने आनंदांश को तिरोहित करके अनेक जीव रूप से व्यक्त हो कर रमण करते हैं। भेद केवल लीला के लिये है, अभेद ही वास्तविक है। सब कुछ वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है। रामानुज आदि की भाँति वल्लभ भेद को भी वास्तविक नहीं मानते। भक्ति और ज्ञान द्वारा जीव के तिरोहित आनंद का मोक्षावस्था में आविर्भाव होता है। जीव ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणु है। वह ब्रह्म का अंश रूप तथा नित्य और सत्य है। अणु होते हुये भी चंदन-गंध की व्याप्ति के समान चैतन्य की व्याप्ति के कारण व्यापक या विभु है। जीव तीन प्रकार का होता है—(१) शुद्ध (२) संसारी और (३) मुक्त। (१) आनंदांश के तिरोधान होने पर अविद्या से संबंध होने के पूर्व जीव 'शुद्ध' कहालाता है। (२) अविद्या के संबंध से जन्म-मरण के चक्र में संसरण करने वाला जीव 'संसारी' कहलाता है। (३) भगवान् के अनुग्रह से जीवों के आनंद अंश का प्रादुर्भाव होता है और मुक्त होकर जीव सच्चिदानंद रूप प्राप्त कर भगवान् से अभिन्न हो जाता है।

जगत्—जगत् के विषय में वल्लभ 'अविकृत परिणामवाद' को मानते हैं। जगत् वस्तुतः ब्रह्मात्मक ही हैं। चित् और आनंद का तिरोधान होने से केवल सत् रूप से ब्रह्म की अभिव्यक्ति ही जगत् है। सृष्टि और प्रलय का अर्थ जगत् रूप से ब्रह्म का आविर्भाव और तिरोभाव है, । ब्रह्म रूप

से जगत् नित्य तथा सत्य है, । माया अथवा मिथ्या नहीं । सृष्टि और प्रलय ब्रह्म की ही शक्तियाँ हैं । शक्ति का शक्तिमान् से अभेद है । अतः जगत् न मिथ्या है, और न ब्रह्म से नितांत भिन्न है । अहि—कुण्डलवत् जगत् का ब्रह्म से अभेद संबंध है। जिस प्रकार कुण्डलादि रूपों में परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता।

पुष्टिमार्ग—इस प्रकार जीव जगत् आदि सब ब्रह्मरूप ही है। एक अद्वैत सच्चिदानंद ब्रह्म ही परम तत्त्व है। समस्त सृष्टि उसी का लीला विलास है। भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। अनंत अलौकिक गुणों से संपन्न होने के कारण वे पुरुषोत्तम हैं। भगवान् के त्रिविध रूप के अनुसार साधन-मार्ग भी तीन हैं—आधिभौतिक कर्म मार्ग, आध्यात्मिक ज्ञान मार्ग और भक्ति का परम मार्ग । ज्ञान द्वारा निर्गुण रूप अक्षर ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है। सच्चिदानंद सगुण रूप लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की प्राप्ति भक्ति द्वारा ही हो सकती है । भक्ति भी दो प्रकार की होती है—मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति । भक्त के प्रयत्न से साध्य भक्ति जिसकी प्राप्ति सचेष्ट यत्न और आचरण द्वारा की जा सकती है मर्यादा-भक्ति कहलाती है। जिसमें शास्त्र विहित नियम, आचार, वैराग्य आदि के द्वारा साधक भगवान् के सायुज्य की साधना करता है वह मर्यादा मार्ग की भक्ति है। एक मात्र भगवान् का आश्रय ग्रहण कर लेने पर अनन्य शरणागत भक्त को भगवत् कृपा से प्राप्त होने वाला भगवद्-नुग्रह पुष्टि भक्ति कहलाती है। इसमें किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती केवल भगवान् के अनन्य प्रेम से वह प्राप्त होती है। भगवद्नुग्रह से प्राप्त होने वाली भक्ति का ही नाम पुष्टि भक्ति है। मर्यादा भक्ति में फल की अपेक्षा बनी रहती है; पुष्टि भक्ति में किसी प्रकार के फल

की आकांक्षा नहीं रहती। मर्यादा भक्ति से सायुज्य की प्राप्ति होती है, पुष्टिभक्ति का साध्य अभेद बोधन ही है। इस संसार से उद्धार पाने का सुगम उपाय पुष्टिभक्ति ही है। बिना भक्ति के भवसागर से पार होने का कोई उपाय नहीं है और बिना भगवद्नुग्रह के भक्ति प्राप्त नहीं होती। मनुष्य को भगवान् का अनन्य आश्रय और अनन्य प्रेम होना चाहिये। भक्ति ज्ञान रूप नहीं है। ज्ञान और भजन दो भिन्न भावनायें हैं। योग, ज्ञान और भक्ति का सहकारी हो सकता है।

भगवद्नुग्रह से भक्ति प्राप्त करने का प्रमुख उपाय अतःकरण की शुद्धता है। शुद्धांतःकरण वालों पर भगवान् की कृपा होती है। अंत:करण को शुद्ध करने के सोलह साधन बताये गये हैं—स्नान, यज्ञ और देवमूर्ति का पूजन तीन बाह्य साधन हैं। सर्वात्मरूप से ईश्वर का ध्यान चतुर्थ है। सत्व गुण का उत्कर्ष पंचम है। सर्वकर्मार्पण और आसक्ति का त्याग षष्ठ है। श्रद्धेय जनों का आदर सप्तम है। दीन-दया अष्टम है। सभी जीवों को अपने समान मानना तथा अपना सखा समझना नवम है। यम और नियम दशम तथा एकादश हैं। गुरु से शास्त्र-श्रवण द्वादश है। भगवन्नाम कीर्तन त्रयोदश है। सार्वभौम स्नेह और सहानुभूति चतुर्दश है। ईश्वर सायुज्य पंचदश है। अहंकाराभाव षोडश है। वल्लभ के अनुसार भगवद्नुग्रह से प्रेम रूप में भक्ति का बीज वर्तमान रहता है। दृढ़ होने पर यह त्याग, भक्ति-शास्त्र-श्रवण और भगवन्नाम कीर्तन से वर्द्धित होता है। भक्ति के विकाश-क्रम के भाव, प्रेम, प्रणय, स्नेह, राग, अनुराग, तथा व्यसन सात पर्व हैं। भक्ति की परमावस्था व्यसन है, जिसमें भगवान् के बिना रहना भक्त के लिये असंभव होता है। इस परम भक्ति में मनुष्य सब कुछ त्याग कर भगवत्प्रेम में निमग्न हो जाता है।

४—चैतन्य-संप्रदाय

चैतन्य—निंबार्क तथा वल्लभ के बाद वैष्णव धर्म के सुधारकों तथा प्रचारकों में चैतन्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वस्तुतः चैतन्य वल्लभाचार्य के सम सामयिक ही थे। आपका समय सन् १४८५-१५३३ ई० है। चैतन्य का जन्म नवद्वीप में हुआ जो उस समय सिलहट तथा भारतवर्ष के अन्य भागों से आये हुये वैष्णवों का केंद्र बन रहा था। इनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र और माता का नाम शचीदेवी था। चैतन्य का बचपन का नाम विश्वंभर था। विश्वरूप जो आगे नित्या-नंद के नाम से प्रसिद्ध हुये तथा जिनका चैतन्य के जीवन में बडा महत्त्व है उनके बड़े भाई थे। चैतन्य की आरंभ से ही भक्ति के गीतों में बड़ी रुचि थी। पिता की मृत्यु के बाद वे पितृ-श्राद्ध के लिये गया गये, वहाँ उनकी बहुत से साधुओं और महात्माओं में भेंट हुई। वहीं पर ईश्वरपुरी से दीक्षा ग्रहण कर उन्होंने संसार-त्याग का निश्चय किया। लौटकर कुछ काल तक भागवत का अध्यापन करते रहे, किंतु शीघ्र ही माता की आज्ञा लेकर संन्यास ग्रहण कर लिया। उन्होंने अपना शेष समय कृष्ण-कीर्तन और नृत्य में बिताया। अधिकांश वे पुरी में रहे। कई बार प्रयत्न करने पर वे एक बार वृंदावन भी गये। वहाँ उनकी श्रीरूपगोस्वामी से भेंट हुई।

चैतन्य पर भागवत, विष्णु पुराण और हरिवंश पुराण का बहुत प्रभाव पड़ा। उनका जीवन भगवत्कीर्तन तन्मय नृत्य में ही व्यतीत हुआ। उनके रचित कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। चैतन्य का मूल-मत उनके अनुयायियों और प्रेमियों द्वारा लिखित जीवन चरितों में अंकित उनके उपदेशों से अनुमित किया जा सकता है। उन जीवनियों में काव्य और कल्पना का बाहुल्य होने के कारण चैतन्य के मल दार्शनिक

सिद्धांतों का निरूपण कठिन है। चैतन्य के युगल शिष्य श्री रूपगोस्वामी तथा श्री सनातन गोस्वामी ने प्रामाणिक ग्रंथों की रचना कर गौडीय वैष्णव मत का प्रतिष्ठापन किया। सनातन के छोटे भाई वल्लभ के पुत्र श्री जीवगोस्वामी चैतन्य-संप्रदाय की उजवल विभूति हैं। उनका विद्वत्ता-पूर्ण ग्रंथरत्न 'षटसंदर्भ' के नाम से विख्यात है। चैतन्य मत के प्रचारकों में श्री जीव गोस्वामी और बलदेव विद्याभूषण दो सबसे महत्त्वपूर्ण नाम हैं। चैतन्य मत की प्रमुख विशेषता उसकी भावुकता है। वल्लभ संप्रदाय में भक्ति में उपासना की विधि और चर्या ने अधिक महत्त्व ग्रहण कर लिया था। चैतन्य ने भावना को अधिक महत्त्व दिया। चैतन्य मत में भावमय प्रेम, कीर्तन आदि विधिवत् उपासना का स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

जीव गोस्वामी—'षट्संदर्भ' के अंतर्गत 'भागवत-संदर्भ' में श्री जीव गोस्वामी ने 'अचिंत्य भेदाभेद' का प्रतिपादन किया है। भगवान् अनंत गुणों के निवास तथा आनंद स्वरूप हैं। वे आनंद विग्रह भी हैं। उनका आनंद उनके स्वरूप से एकाकार ही है। भगवान् के स्वरूप, विग्रह, गुण और शक्ति में किसी प्रकार का भेद या पार्थक्या नहीं है। भगवान् की शक्ति स्वाभाविक तथा अचित्य है। वह भगवान् से भिन्न या अभिन्न रूप से चिंतनीय नहीं है। वह भगवान् से बहिर्भूत या भिन्न भी नहीं हो सकती; स्वरूप से शक्ति का तादात्म्य होने पर परिणाम, सृष्टि, लीला आदि की व्याख्या कठिन है। भगवान् के स्वरूप की कल्पना में विरोधी गुणों का समन्वय 'अचिंत्यत्व' के सिद्धांत का मूल प्रयोजन है। जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् की तीन शक्तियाँ हैं— स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति और बहिरंगमाया शक्ति। स्वरूप शक्ति तो भगवान् के स्वरूप से एकाकार ही है। दूसरी तटस्थ शक्ति की प्रतीक शुद्ध जीव है। तीसरी बहिरंगमाया शक्ति का विकास जगद्रूप में होता

है, जिसका मूल 'प्रधान' है। इस प्रसंग को स्पष्ट करने के लिये सूर्य उसकी किरणें और उसके बर्णों की उपमा दी गई है। भगवान् सूर्य के समान है, जीव उनकी रश्मि रूप हैं, और भूत जगत् सूर्य के वर्ण स्फुरण के समान है। रामानुज तथा पांचरात्र मत में स्वीकृत भगवान् के चार व्यूहों में तीन व्यूह ही गौडीय वैष्णव मत में मान्य हैं। जिन तीन व्यूहों में भगवान् की विभूति को अभिव्यक्ति होती है उनमें प्रथम संकर्षण यह महाविष्णु है जो अखिल जीव-समष्टि और प्रकृति का स्वमी है, द्वितीय प्रद्युम्न है जो अखिल जीव-समष्टि का अंतर्यामी है। और तृतीय व्यष्टि रूप में प्रत्येक जीव का अन्तर्यामी है।

जीव अणु-परिमाण और अनंत हैं। वे ईश्वर के अंश हैं। जगत् ईश्वर की सृष्टि है, अतः सत्य है। सत्य ईश्वर मिथ्या जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता। माया मिथ्या विक्षेप-शक्ति नहीं वरन् भगवान् की अचिंत्य शक्ति है। माया से भगवान् का संबंध तर्कातीत है। सृष्टि अज्ञान या अध्यास का कार्य नहीं वरन् ईश्वर की अचिंत्य शक्ति का कार्य है। परमात्मा जगत् का निमित्त, कारण है; अपनी शक्तियों से युक्त परमात्मा जगत् का उपादान कारण भी है। अपनी अचिंत्य शक्ति से आत्मो-पादान द्वारा ही जगत् की सृष्टि कर परमात्मा अपनी सृष्टि में प्रवेश कर उसका नियंत्रण करता है। अज्ञानी जगत् को दृश्य-विषय-रूप समझ कर भ्रांत होते हैं। शुद्धांतःकरण वाले विश्व में भगवान् का ही स्वरूप देखते हैं। परमेश्वर अपने स्वरूप में सदा अविकृत रहता है। वह सर्वशक्तिमान् है। अपने स्वरूप में स्थित रहते हुये ही अपनी स्वरूप-शक्ति के आविष्करण द्वारा वह भक्तों के सन्तोष के लिये लोक में अवतार ग्रहण करता है। भक्ति, भक्त और भगवान् का संबंध है। वस्तुतः भक्ति भक्त के स्वरूप में भगवान् की शक्ति की एक विशेष अभिव्यक्ति है। भक्ति के द्वारा भक्त भगवान् की स्वरूप शक्ति को

धारण करता है। यह स्वरूप शक्ति ह्लादिनी कहलाती है। ह्लादिनी का सार भक्ति है और वह शुद्ध आनंद स्वरूप है।

चैतन्य मत में भगवान् की भक्ति ही जीवन का परम श्रेय है। ज्ञान भगवान् के अतिरिक्त अन्य विषयों से मन को हटाकर भगवान् में लीन होने में अत्यंत उपयोगी है। भक्ति का एक मात्र लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है, अतः उसे अहेतुकी भक्ति भी कहते हैं। सच्चे भक्त को भगवान् के नाम-कीर्त्तन में स्वाभाविक आनंद आता है और भगवान् की लीलाओं के ध्यान में तन्मयता रहती है। ज्ञान और कर्म के मार्ग उसके लिये अपेक्षित नहीं हैं। केवल भक्ति से ही उसे परम लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। भक्ति को स्वयं मोक्ष भी कहा गया है। भक्तितत्त्व-ज्ञान से कहीं श्रेष्ठ है; तत्त्वज्ञान तो भक्ति का फल है। भगवान् के नाम-कीर्तन और प्रीतिपूर्वक लीला चिंतन से समस्त कर्म-बंधन छिन्न हो जाते हैं। किंतु भक्ति की भावना सरलता से उत्पन्न नहीं होती। भगवान् में रुचि और उनके नाम-कीर्तन तथा लीला-चिंतन में आनंद बड़ी कठिनता से प्राप्त होते हैं। सच्चे भक्तों के सत्संग से धीरे-धीरे भगवान् की ओर भावना उत्पन्न होती है, और वह भागवत आदि के मनन से दृढ़ होती है। वस्तुतः वह भक्ति भगवान् की इच्छा से ही उत्पन्न होती है। भक्त की आत्मा में आत्म लाभ-शक्ति का आविष्करण ही भगवान् का अनुग्रह है। भक्ति के लिये किसी विधि, साधन अथवा चर्या की अपेक्षा नहीं है। भक्ति का सार भावना है। सर्वभूतों में भगवान् का स्वरूप तथा सर्वभूतों को भगवान् का तथा अपनी आत्मा में आविष्कृत परमात्मा का अंश देखने वाला भक्त सर्वोत्तम है। भगवान् में प्रीति, भक्तों में बंधुत्त्व, अज्ञानियों परदया, तथा शत्रुओं के प्रति उदासीनता का भाव रखने वाला भक्त मध्यम है। श्रद्धा और भक्ति से भगवद्मूर्ति की उपासना करने वाला तथा

भक्त और अन्यजनों के प्रति विशेष भावहीन भक्ति मंद श्रेणी का है। भगवान् की प्रीति ही परम पुरुषार्थ है। उसी से आत्यंतिक दुःख निवृत्ति और अनंत आनंद की प्राप्ति होती है। अत्यंत प्रगाढ़ भक्ति को प्रीति कहते हैं। प्रीति एक अत्यंत मार्मिक आंतरिक अनुभव है, उसके बाह्य लक्षण लौकिक श्रृंगार के समान होते हैं। आत्म विस्मृति इस प्रीति की पराकाष्ठा है। उस अवस्था में इसे महाभाव कहते हैं इसमें भगवान् के प्रति तीव्र ममत्त्व का भाव उत्पन्न होता है। भक्ति का एक दूसरा रूप शान्त भक्ति भी है जिसमें "ममत्त्व" के स्थान पर "तवत्त्व" का भाव होता है। भक्त भगवान् को अपना न मानकर अपने को भगवान् का मानता है। शान्त भक्ति में भगवान् के प्रति स्वामी तथा पालक का भाव होता है। भक्त भृत्य रूप से अपने को भगवान् का सेवक मानता है भगवान् को शिशु रूप में मानकर लालन-भाव से जो भक्ति होती है उसे वात्सल्य भक्ति कहते हैं। किंतु यह कहा जाता है कि दाम्पत्य-भाव को भक्ति में ही परम प्रीति और तीव्रतम आनंद की अनुभूति होती है। यद्यपि इसके बाह्य अनुभाव और लक्षण लौकिक काम-रति के ही समान होते हैं किंतु दोनों में एक महान् अंतर है। लौकिक रति में आत्मतृप्ति का लक्ष्य रहता है, तथा भगवद्रति में भगवान् की प्रसन्नता का लक्ष्य रहता है।

बलदेव विद्याभूषण—बलदेव जाति के वैश्य थे। ये उड़ीसा प्रांत के निवासी थे, तथा नित्यानंद की शिष्य परंपरा में थे। ब्रह्मसूत्र पर रचित उनका 'गोविंद भाष्य' उनका प्रमुख ग्रंथ है। 'गोविंद भाष्य' का सार उन्होंने स्वयं 'सिद्धांत-रत्न' नामक ग्रंथ में संगृहीत किया है। बलदेव के विचारों में मध्व का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है अतः उनके संप्रदाय को मध्व-गौडीय-संप्रदाय कहना अधिक उचित है।

बलदेव के अनुसार दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति और अनंत-शाश्वत आनंद की प्राप्ति ही मनुष्य का परम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की सिद्धि स्वज्ञान-पूर्वक, भगवान् के स्वरूपतः तथा सगुणरूपतः ज्ञान द्वारा हो सकती है। भगवान् का स्वरूप सच्चिदानंद है। चित् और आनंद को भगवान् का विग्रह भी कह सकते हैं। एक होकर भी भगवान् अपनी अचिंत्य शक्ति के द्वारा अनेक स्थानों पर तथा अपने अनेक भक्तों के रूप में व्यक्त होता है। किंतु बलदेव अपने मत को भेदाभेद से भिन्न मानते हैं। अभिनेता की भाँति स्वरूपत: एक रहते हुये भी भगवान् अनेक रूपों में व्यक्त होते हैं। अचिंत्य शक्ति होने के कारण वे तर्कातीत हैं। विरुद्ध गुणों का संबंध भी भगवान् में संभव है। जीव भगवान् से भिन्न तथा भगवान् के अंश और आश्रित है। भगवान् का आनंद, स्वरूप और परिमाण दोनों में, जीव के आनंद से भिन्न है। उनका ज्ञान भी भिन्न है। इस प्रकार ब्रह्म स्वरूपतः जीव और जगत् दोनों से भिन्न है। उपनिषदों के ऐक्यपरक वाक्यों का अर्थ तादात्म्य नहीं तदीयत्त्व है। जीव और जगत् ब्रह्म नहीं ब्रह्म के हैं। 'विशेष' की कल्पना बलदेव मत की मौलिक विशेषता है। इसमें भेदांश को जीव गोस्वामी की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। इस 'विशेष' की कल्पना में ही मध्व का प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है। 'विशेष' भेद का प्रतीक है। जहाँ वास्तव में कोई भेद नहीं वहाँ विशेष की सहायता से भेद-प्रत्यय का विधान हो सकता है। फिर भी भेद काल्पनिक या मिथ्या नहीं है। भगवान् और उनके गुणों में, उनके स्वरूप और विग्रह में कोई भेद न होते हुये भी 'विशेषता' के कारण भेद-प्रत्यय भी सत्य है।

ईश्वर जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों हैं।

उसकी तीन प्रधान शक्तियाँ है—परमा-निष्णुशक्ति, क्षेत्रज्ञ-शक्ति और अविद्याशक्ति। परमाशक्ति रूप से ब्रह्म अपने अविकृत स्वरूप में स्थित रहता है। अन्य दो शक्तियाँ जीव और जगत् के रूप में व्यक्त होती है। भगवान् की भक्ति ही आनंद का परम साधन है। बलदेव भक्ति को भी ज्ञान-विशेष ही मानते हैं। भक्ति भगवान् की ह्लादिनी शक्ति का सार है। संतों का सत्संग भक्ति की प्राप्ति का उत्तम साधन है। हमारा बंधन सत्य है तथा मोक्ष भी नित्य और सत्य है। मोक्षावस्था में जीव का ब्रह्म से तादात्म्य नहीं होता; ब्रह्म से विशिष्ट रहकर ही वे परमानंद की प्राप्ति करते हैं।

——

नवाँ अध्याय

शैव और शाक्त संप्रदाय

पिछले अध्याय में वेदांत तथा वैष्णव संप्रदायों के विवेचन के बाद शैव और शाक्त संप्रदायों का भी कुछ परिचय देना आवश्यक है। आरंभ से ही शैव संप्रदाय वैष्णव संप्रदाय का प्रतियोगी रहा है। विष्णु तथा शिव (या रुद्र) दोनों ही देवताओं का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद के पूर्वभाग में वरुण तथा आगे चल कर इंद्र का महत्त्व अधिक है। विष्णु इंद्र के सहायक हैं। रुद्र संहारक तथा पशु और जन के पालक होने के कारण विष्णु से अधिक महत्त्वपूर्ण दिखाई देते हैं। किंतु आगे चल कर ब्राह्मण युग में विष्णु का महत्त्व अधिक बढ़ गया और पौराणिक युग में तो विष्णु ने परमात्मा का स्थान ग्रहण कर लिया। विष्णु की कल्पना के साथ ही साथ शिव की कल्पना का भी विकास होता रहा। वैष्णव संप्रदायों की भाँति अनेक शैव संप्रदायों का भी उदय हुआ। अपने मधुर और कल्याणकर स्वरूप के कारण विष्णु अधिक लोक-प्रिय रहे हैं। किंतु रुद्र के शिव स्वरूप में मंगल-भावना का समावेश हो जाने पर शिवोपासना का भी प्रचार बहुत हुआ। साधारणतः उत्तर भारत में वैष्णव धर्म का तथा दक्षिण भारत में शैव संप्रदाय का अधिक प्रचार है।

वेदों में प्रकृति की प्रमुख शक्तियों को अनुप्राणित कर उन्हें देव-रूप

में प्रतिष्ठित किया गया है। प्रकृति के रुचिर और भयंकर दो रूप हैं। एक कल्याणकर और दूसरा विनाशक है। इनमें प्रकृति की विनाशक शक्ति के प्रतीक देवता का नाम रुद्र था। रुद्र का कोप पशुओं, बालकों आदि का रोगादि से नाश करता था। किंतु क्रुद्ध देवता को उपासना आदि द्वारा प्रसन्न भी किया जा सकता है। प्रसन्न होने पर यह संहारक रुद्र ही मंगलमय शिव बन जाता है। वह रोगों का निवारण तथा पशु-बालकों का पालन करता है। इस प्रकार रुद्र-शिव की कल्पना का आरंभ ऋग्वेद से ही पाया जाता है। यजुर्वेद के शततरुद्रीय अध्याय से उसकी प्रसिद्धि अधिक हुई। अथर्ववेद में इस कल्पना का और भी विकास हुआ। शतपथ ब्राह्मण तथा कौषीतकी ब्राह्मण में अथर्ववेदोक्त सात नामों में एक और जोड़कर आठ नामों से शिव की प्रतिष्ठा हुई। उसमें पहले चार—रुद्र, शर्व, उग्र और अशनि—संहार-सूचक हैं तथा शेष चार—भव, पशुपति, महादेव और ईशान मंगल सूचक हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में समस्त जगत् रुद्र-रूप बतलाया गया है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में शिव की परमेश्वर के रूप में प्रतिष्ठा हुई, किंतु इस उपनिषद् में सांप्रदायिकता का कोई आभास नहीं मिलता। रुद्र जगत् के स्रष्टा, नियंता और लोक के अंतर्यामी हैं। वे सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् हैं। अथर्वशिरस् उपनिषद् में पशु, पाश आदि शैव-तंत्रों के पारिभाषिक पदों का प्रथम परिचय मिलता है। महाभारत में शैव मतों का वर्णन मिलता है। अर्जुन के शिव से पाशुपतास्त्र प्राप्त करने की कथा विख्यात है। वामन-पुराण में शैवों के चार संप्रदाय बतलाये गये हैं :—शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक। शंकर के टीकाकारों ने भी उक्त चार शैव-संप्रदायों का उल्लेख किया है। किंतु 'कालदमन' के स्थान पर 'कारुक सिद्धांती' तृतीय संप्रदाय बतलाया है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने 'कारुक सिद्धांती' को 'कारुणिक सिद्धांती

कहा है। रामानुज और केशव काश्मीरी भी उक्त चार संप्रदायों को मानते हैं किंतु उनके अनुसार तीसरे संप्रदाय का नाम कालामुख है। इस प्रकार शैव संप्रदाय मुख्यतः चार हैं—शैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक। इसके अतिरिक्त उत्तर तथा दक्षिण भारत में दो और शैव संप्रदाय प्रख्यात हैं एक काश्मीर-शैवमत तथा दूसरा वीर-शैवमत कहलाता है। शैव संप्रदायों में शिव को रुद्र, शिव, महेश्वर, महादेव, पशुपति आदि रूपों में परमेश्वर माना जाता है। शिव के साथ-साथ शक्ति को भी उमा, पार्वती, काली, कराली आदि रूपों में विष्णु की लक्ष्मी के समकक्ष माना जाता है। शक्ति को प्रधान मानने वाले संप्रदाय शाक्त-संप्रदाय कहलाते हैं। आगे शैव और शक्त संप्रदायों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१—शैव-सिद्धांत

शैव-सिद्धांत का प्रचार दक्षिण के तामिल प्रदेश में है। तामिल भाषा में रचित शैव भक्तों के रुचिर स्तोत्र और अन्य सिद्धांत-ग्रंथ इस मत की ख्याति के आधार हैं। ये भाषा-ग्रंथ भी श्रुति के समान आदरणीय माने जाते हैं। शैव-सिद्धांत के मूल आधार दो हैं एक वैदिक शैव मत की परंपरा तथा दूसरा 'आगम'। 'आगम' को शैव-सिद्धांत के नाम से भी पुकारते हैं। शैवों का विश्वास है कि भगवान् शंकर ने अपने भक्तों के उद्धार के लिये अपने पाँच मुखों से इन 'आगमों' का आविर्भाव किया। सद्योजात नामक मुख से—(१) कामिक, (२) योगज, (३) चिंत्य, (४) कारण, (५) अजित; वामदेव मुख से—(६) दीप्त, (७) सूक्ष्म, (८) सहस्र, (९) अंशुमान, (१०) सुप्रभेद; अघोर-मुख से-(११) विजय, (१२) निःश्वास, (१३) स्वायंभुव, (१४) अनल (१५) वीर; तत्पुरुष मुख से—(१६) रौरव, (१७) मुकुट, (१८) विमल, (१९)

चंद्रज्ञान, (२०) बिंब; ईशान मुख से -(२१) प्रोद्गीत, (२२) ललित (२३) सिद्ध, (२४) संतान, (२५) सर्वोत्तर, (२६) परमेश्वर, (२७) किरण, (२८) वातुल आगमों का उदय हुआ। इनमें प्रथम 'कामिक' आगम प्रधान है। इसके अतिरिक्त अनेक उपागम हैं। 'कामिक' के उपागमों में 'मृगेंद्र' प्रसिद्ध है। आगमों के साथ-साथ शैवाचार्यों के अनेक ग्रंथ हैं। ईसा की चौदहवीं शताब्दी में नीलकण्ठ ने शैवमत के वैदिक तथा आगम आधार के विधिवत् समन्वय का प्रयत्न किया। नीलकण्ठ का ब्रह्मसूत्र पर रचित शैव-भाष्य प्रख्यात है। उस पर अप्पय दीक्षित द्वारा रचित शिवार्कमणिदीपिका नामक टीका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

शैव सिद्धांत के अनुसार शिव ही परमतत्त्व हैं। शिव अनादि, अनंत, शुद्ध सच्चिदानंद हैं। सच्चिदानंद का अर्थ स्वतंत्र सत्ता, विशुद्धि, अनतप्रतिभा, अनंतज्ञान, सर्वपाश मुक्ति, अनंत प्रेम, अनंत शक्ति और अनंत आनंद है। शिव जीवों (पशुओं) को संसार-माया के 'पाश' से मुक्त करते हैं। वे जीवों के स्वामी हैं अतः उन्हें पशुपति भी कहते हैं। शैव सिद्धांत में तीन पदार्थ माने जाते हैं—पति (शिव), पशु (जीव) और पाश (जीव के बंधन)।

पति—पति से अभिप्राय शिव से है जो परमेश्वर हैं। शिव अनंत ऐश्वर्य से संपन्न, सर्वज्ञ और स्वतंत्र हैं। शिव नित्य मुक्त हैं। उनका कर्मफल रूप शरीर नहीं है। किंतु उनका शरीर शक्ति रूप है। इन शक्तियों को मंत्र कहते हैं। इस प्रकार शिव पंचमंत्रतनु हैं। ये पंच-मंत्र ही उनके शरीर के अंग हैं। ईशामंत्र उनका मस्तक है, तत्पुरुष उनका मुख है, घोर उनका हृदय है, वामदेव उनका गुह्य अंग है, और सद्योजात उनका पाद है। ईशानादि शक्ति से निर्मित शिव का यह शरीर 'शक्ति' कहलाता है। सृजन, पालन, संहार, तिरोभाव और

अनुग्रह करण इन्हीं शक्तियों द्वारा संपादित शिव के पांच कर्म हैं। शिव की दो अवस्थायें होती हैं—लयावस्था और भोगावस्था। जिस समय शक्ति समस्त व्यापारों को समाप्त कर स्वरूप मात्र में अवस्थान करती है वह शिव की लयावस्था है। जिस समय शक्ति उन्मेष को प्राप्त कर बिंदु को कार्योत्पादन के लिये अभिमुख करती है तथा कार्योत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया की समृद्धि करती है, वह शिव की भोगावस्था है।

पशु—पशु से अभिप्राय जीव से है, जो आकार में अणु तथा शक्ति में सीमित है। वह नित्य और व्यापक है। वह कर्ता है, सांख्य पुरुष के समान अकर्त्ता नहीं; और अनेक है, वेदांत के समान एक नहीं। बद्ध-दशा में वह पाश युक्त होने के कारण ज्ञान और शक्ति में सीमित है किंतु पाश से मुक्त होने पर वह शिवत्व की प्राप्ति कर लेता है और उसमें निरतिशय ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का उदय होता है। मुक्त जीव शिव—कल्प होने पर भी स्वतंत्र नहीं होते वरन् शिव के अधीन रहते हैं। पशु (जीव) तीन प्रकार के होते हैं—(१) विज्ञानाकल, (२) प्रलयाकल, और (३) सकल। मल तीन प्रकार के होते हैं—आणव-मल, कार्मण मल तथा मायीय मल। जिन जीवों में विज्ञान योग, संन्यास से या भोग मात्र से कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा जिनमें कर्मक्षय के कारण शरीर बंध का उदय नहीं होता, उन्हें 'विज्ञानाकल' कहते हैं। 'विज्ञानाकल' पशुओं में केवल मल (आणव मल) शेष रह जाता है। दूसरा प्रलय दशा में शरीर पात होने से मायीय मल से रहित किंतु आणव मल तथा कार्मण मल से युक्त 'प्रलयाकल' कहलाता है। तीसरा 'तीनों' मलों से युक्त 'सकल' कहलाता है। इनमें भी प्रथम 'विज्ञानाकल' 'समाप्त कलुष' और 'असमाप्त-कलुष' भेद से दो प्रकार का होता है। जब इन पशुओं का मल पक्व हो जाता है तो परम शिव

अपने अनुग्रह से उन्हें 'विद्येश्वर' पद प्रदान करते हैं। अपक्व मल वाले विज्ञानाकल जीवों को शिव दया से 'मंत्र' का स्वरूप प्रदान करते हैं। 'प्रलयाकल' भी दो प्रकार का होता है—पक्व मल और अपक्व मल। प्रथम मोक्ष को प्राप्त होते हैं। दूसरे पुर्यष्टक युक्त तथा कर्म वश नाना प्रकार के जन्मों में भ्रमण करते हैं। प्रति पुरुष में नियत, सृष्टि से लेकर कल्प अथवा मोक्ष तक रहने वाला, पृथिवी से लेकर कला पर्यंत तीस तत्त्वों से निर्मित सूक्ष्म देह को कहते हैं। 'सकल' 'भी पक्व कलुष' और 'अपक्व कलुष' भेद से दो प्रकार के होते हैं। इनमें 'पक्व कलुष वालों को परमेश्वर अपने शक्तिपात से मंत्रेश्वर पद प्रदान करते हैं। अपक्व-कलुष वाले अपने कर्मानुसार संसार में भ्रमण करते हुये नाना प्रकार के विषयों का उपभोग करते हैं।

पाश—जीवों के बंधन का नाम पाश है। पाश-बद्ध होने के कारण ही जीवों की 'पशु' —संज्ञा है। पाश चार प्रकार होते हैं— (१) मल, (२) कर्म, (३) माया और (४) रोधशक्ति। जो जीव की स्वाभाविक ज्ञान-क्रिया-शक्ति का आच्छादन करता है वह 'मल' कहलाता है। फलार्थी जीवों से सपाद्यमान धर्माधर्म रूप बीजांकुरवत् अनादि प्रवाहशील क्रिया का नाम 'कर्म' है। जिस में प्रलय काल में लीन होकर सर्गकल में जीव उत्पन्न होते हैं उसका नाम 'माया' है। 'रोधशक्ति' साक्षात् शिव की शक्ति है, जो उक्त तीन पाशों का नियमन तथा उसके द्वारा जीव के प्रकृत रूप का तिरोधान करने के कारण स्वयं पाश-रूप मानी जाती है।

मोक्ष और साधन—जीव का स्वाभाविक शिव रूप मलादि से आच्छादित हो जाता है; पाशबद्ध होकर वही 'पशु' कहलाता है। मलादि पाश से मुक्त होकर वह फिर शिवत्व की प्राप्ति कर सकता है।

इस मल-पाश से मुक्ति का क्या उपाय है ? मुक्ति का परम साधन तो शिव का अनुग्रह ही है। शिव के अनुग्रह से जीव में 'शक्तिपात' होता है जिस से मलक्षय होता है। इस अनुग्रह-शक्ति को 'दीक्षा' कहते हैं। आचार्य रूप से स्वयं भगवान् शंकर ही 'दीक्षा' द्वारा शिष्य का संसार-बंधन से उद्धार करते हैं। शिव अनुग्रह परम साधन होते हुये भी नैतिक गुणों का अनुशीलन, योगादि साधन उपकारक हैं। मुक्त जीव का शिव से तादात्मय नहीं होता, वह शिव-रूप अथवा शिव-कल्प हो जाता है। सृजनादि पंच कर्मों को छोड़ कर वह सब प्रकार शिव के समान होता है।

२—पाशुपत-मत

पाशुपत-मत प्रायः नकुलीश-पाशुपत-मत के नाम से प्रसिद्ध है। कदाचित् इसका यह नामकरण इसके प्रवर्तक के नाम के कारण हुआ है। नकुलीश या लकुलीश इसके आदि संस्थापक माने जाते हैं। भगवान् शंकर के १८ अवतारों में लकुलीश प्रथम अवतार माने जाते हैं। लगुड धारण करने के कारण इनका नाम लकुडेश या लकुलीश हुआ प्रतीत होता है। इनकी जो मूर्त्तियाँ मिलती हैं उनमें इनके एक हाथ में लगुड या दण्ड रहता है। लिंगपुराण तथा वायुपुराण में महेश्वर के लकुलीश अवतार की कथा है। महाभारत के नारायणीय खण्ड में पाशुपत मत का उल्लेख है। इससे इस मत की प्राचीनता प्रमाणित होती है। प्रशस्तपाद ने अपने पदार्थ धर्मसंग्रह के आरंभ में वैशेषिक सूत्र के रचयिता कणाद के महेश्वर की कृपा से सूत्र रचने का उल्लेख किया है। हरिभद्र के टीकाकार गुणरत्न ने वैशेषिक दर्शन के अनुयायियों को पाशुपत कहा है। इस से प्रतीत होता है कि एक समय पाशुपत मत का बहुत प्रचार था। शैव और पाशुपत मतों में समानता होने के कारण

उनका भेद कभी-कभी भ्रांत भी हो जाता है। गुण रत्न ने नैयायिकों को शैव कहा है। किंतु न्यायवार्तिक के रचयिता उद्योतकर ने 'पाशुपताचार्य' की उपाधि से अपना परिचय दिया है।

पाशुपतों का साहित्य बहुत कम उपलब्ध होता है। माधवाचार्य-रचित 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में प्राप्य 'नकुलीश पाशुपत' नाम से इस सिद्धांत का परिचय सबसे अधिक प्रामाणिक है। सौभाग्य से पाशुपतों का मूल सूत्र ग्रंथ महेश्वर-रचित पाशुपत 'सूत्र' हाल ही में प्राप्त तथा प्रकाशित हुआ है।

सिद्धांत की दृष्टि से पशु, पाश और पति की कल्पना शैव-सिद्धांत की भाँति पाशुपत मत का भी आधार है। यद्यपि दोनों मतों में सूक्ष्म तत्त्वों के विषय में कुछ भेद है। शैव सिद्धांत में पशु, पाश और पति तीन ही पदार्थ माने जाते हैं। पाशुपत मत के अनुसार पाँच पदार्थ हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखांत।

१—कार्य — जो स्वातंत्र्य शक्ति से रहित हो वह सब कार्य है। कार्य के तीन भेद हैं— विद्या, कला और पशु। इनमें विद्या जीव या पशु का गुण है और दो प्रकार की होती है—बोध और अबोध। बोध-स्वभावा विद्या भी विवेक तथा अविवेक युक्त दो प्रकार की होती है और उसको 'चित्त' कहते हैं। पशुत्त्व को प्राप्त कराने वाले धर्माधर्म से युक्त विद्या अबोध रूप है। चेतन के अधीन स्वयं अचेतन पदार्थ 'कला' है। 'कला' के दो भेद हैं—कार्य और कारण। कार्य रूप कला में पृथिव्यादि पंचतत्त्वों और रूपादि पंच गुणों का समावेश है। कारण रूप कला में त्रयोदश इंद्रियाँ अंतर्भूत हैं। जीव का नाम 'पशु' है। कार्य-कारण-रुपी कला से बद्ध होकर सदा विषयों में परवश रहने के कारण जीव 'पशु' कहलाता है। पशु दो प्रकार का होता है—साञ्जन और निरञ्जन। शरीर

और इंद्रिय से संबद्ध जीव साञ्जन पशु तथा इनसे रहित जीव निरञ्जन पशु कहलाता है।

(२) कारण—समस्त विश्व की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह का हेतु होने के कारण महेश्वर 'कारण' कहलाते हैं। इनकी शास्त्रीय संज्ञा 'पति' है। निरतिशय ज्ञान-क्रिया-शक्ति से युक्त होना पतित्व का लक्षण है। वह पशुओं का पालक और परमेश्वर है। वह एक होकर भी अनेक गुण और क्रिया के संबंध से कई रूपों में व्यक्त होता है। निरतिशय ज्ञान और क्रियाशक्ति से युक्त तथा अनंत ऐश्वर्य से नित्य संपन्नरूप 'पति' है; तथा अनागंतुक अर्थात् नित्य ऐश्वर्य से युक्त रूप 'आद्य' कहलाता है।

(३) योग—चित्त के द्वारा आत्मा के ईश्वर के साथ संबंध का हेतु 'योग' कहलाता है। योग दो प्रकार का होता है—क्रिया लक्षण तथा क्रियोपरमलक्षण। जप, ध्यान आदि रूप योग क्रियालक्षण है। निष्ठा, संवित् गति आदि क्रियोपरमलक्षण योग की संज्ञायें हैं। इसमें क्रिया की निवृत्ति होकर परमेश्वर में एक निष्ठ भक्ति, उनके स्वरूप का ज्ञान तथा परमेश्वर की गति प्राप्त होती है।

(४) विधि— धर्म का साधक व्यापार विधि कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है—प्रधान और गौण। प्रधान विधि 'चर्या' है जो साक्षात् धर्म का हेतु है। 'चर्या' दो प्रकार की होती है—व्रत और द्वार। भस्म-स्नान, शयन, उपहार, जप और प्रदक्षिणा व्रत कहलाते हैं। साधक को भस्म से स्नान और भस्म में शयन करना चाहिये। उपहार नियम को कहते हैं। नियम ६ प्रकार का होता है—हसित, गीत, नृत्य, हुडुक्कार, नमस्कार और जप्य। कण्ठ और ओष्ठ के विस्फूर्जन-द्वारा 'अहहह !' शब्दपूर्वक अट्टहास 'हसित' है। गांधर्व-शास्त्र के अनुसार

महेश्वर संबंधी गुणों का चिंतन 'गीत' है। नाट्यशास्त्र के अनुसार भावपूर्वक हस्तपादादि का उत्क्षेपण 'नृत्य' है। जीभ और तालु के संयोग से निष्पाद्यमान वृषभ के नाद समान 'हुड्हुड्' शब्द करना 'हुड्डुक्कार' है। क्राथन, स्पंदन, मंदन, शृंगारण, अवितत्करण, अवितद्भाषण ये ६ 'द्वार' कहलाते हैं। असुप्त पुरुष का सुप्त पुरुष के तुल्य चिन्ह दिखाना 'क्राथन' है। वात-ग्रस्त पुरुष के समान शरीर के अंगों का कंपन 'स्पंदन' है। उपहत चरण के समान लगड़ाते हुये चलना 'मंदन' है। कामिनी को देखकर कामुक के समान चेष्टा करना 'शृंगारण' है। कार्याकार्य विवेक हीन पुरुष के समान लोक-निंदित कर्म करना 'अवितत्करण' है। अनर्गल और अनर्थक भाषण करना 'अवितद्भाषण' है। अनुस्नान, भैक्ष्य, उच्छिष्ट भोजन आदि 'चर्या' के अनुग्राहक कर्म गौण विधि के अंतर्गत हैं।

(५) दुःखांत—दुःख की अत्यंत निवृत्ति का नाम दुःखांत है। यही चरम पदार्थ परम पुरुषार्थ और मोक्ष कहलाता है। उक्त योग तथा विधि द्वारा मिथ्याज्ञान, अधर्म, शक्तिहेतु, च्युति और पशुत्व इन पांच मलों के नाश-पूर्वक दुःखांत-रूप मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष का परम उपाय शिव की शरणागति है। भगवान् पशुपति के प्रसाद से मलों का नाश होता है और जीव मुक्ति लाभ करता है। यह दुःखांत दो प्रकार का होता है—अनात्मक और सात्मक। अनात्मक दुःखांत का लक्षण दुःखों की आत्यंतिकी निवृत्ति है। सात्मक में पारमेश्वर्य की प्राप्ति होती है। पारमेश्वर्य की अवस्था में अद्भुत ज्ञान और क्रिया-शक्ति का उदय होता है। यह अद्भुत ज्ञान शक्ति पांच प्रकार की होती है—दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान और सर्वज्ञत्व। सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान 'दर्शन' है। सर्वविध शब्दों का ज्ञान 'श्रवण' तथा सर्वविषयों का ज्ञान 'मनन' है। समस्त शास्त्रों का ग्रंथतः और

अर्थतः परिज्ञान 'विज्ञान' है। 'सर्वज्ञत्व' इस ज्ञानशक्ति की पराकाष्ठा है और इसके अंतगत समस्त ज्ञान-विषय हैं। अद्भुत क्रिया शक्ति तीन प्रकार की होती है--मनोजवित्त्व, काम-रूपित्व और विकरण धर्मित्व। किसी कार्य को मनोगति से शीघ्र करना 'मनोजवित्व' है। बिना यत्न के अनायास ही अभीप्सित रूप धारण करना 'काम रूपित्व' है। इंद्रियों के सहायता के बिना सब पदार्थों का जानना और सब कार्य करना 'विकरण-धर्मित्व' है। इस प्रकार दुःखांत में अर्थात् मोक्ष में अद्भुत ज्ञान-क्रिया-शक्ति विशिष्ट पारमेश्वर्य की प्राप्ति होती है।

३-४-कालामुख और कापालिक मत

कालामुख और कापालिक संप्रदायों का अधिक परिचय प्राप्त करने के साधन उपलब्ध नहीं हैं। ये संप्रदाय बड़े रहस्यमय रहे हैं; इनके सिद्धांत, साधन आदि सब बड़े गुप्त रक्खे गये हैं। इसी कारण इनके परंपरा का एक प्रकार से उच्छेदसा हो गया। ये दोनों शैव मत के अत्यंत भयंकर रूप हैं। सामान्यतः इन दोनों में कोई स्पष्ट भेद प्रतीत नहीं होता। रामानुज के अनुसार कापालिकों के मत में छः मुद्राओं के धारण से अपवर्ग की प्राप्ति होती है। वे छः मुद्रायें कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म और यज्ञोपवीत हैं। जो शरीर में इन छः मुद्राओं को धारण करता है उसका संसार-चक्र से मोक्ष हो जाता है। कालामुखों के अनुसार समस्त लौकिक और पारलौकिक कामनाओं की पूर्ति के छः साधन इस प्रकार हैं—कपाल-पात्र में भोजन, शव के भस्म से स्नान, लगुड़-धारण, सुरा-कुंभ का स्थापन, तथा तंत्रस्थित देवो-पासना। रुद्राक्ष माला, जटाजूट, कपाल, भस्म आदि इन संप्रदायों के विशेष और पवित्र चिन्ह हैं। इन संप्रदायों में गुप्त क्रियाओं द्वारा अनेक अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति संभव मानी जाती है। जन्म-जात ब्राह्मणत्व

को ये लोग नहीं मानते । कोई भी मनुष्य कापाल-व्रत धारण करने पर तत्काल ब्राह्मण हो जाता है ।

कापालिक लोग भैरव के भक्त होते हैं । माधवाचार्य-कृत शंकर दिग्विजय में एक स्थान पर श्री शंकराचार्य की कापालिकों से भेंट होने का वर्णन है ! एक टीकाकार के अनुसार उज्जयिनी में श्री शंकराचार्य की कापालिकों से भेंट हुई । कापालिकों का गुरु शंकराचार्य के पास आया । वह शरीर में श्मशान का भस्म धारण किये हुये था और उसके एक हाथ में कपाल तथा दूसरे में त्रिशूल था । उसने शंकराचार्य से कहा—तुमने शरीर में भस्म धारण किया है, यह उचित है । किंतु तुम पवित्र कपाल के स्थान पर यह अपवित्र कमण्डलु क्यों लिये हो ? तुम कपाली भैरव की उपासना क्यों नहीं करते ? बिना सुरा-रक्त-पूर्ण कपालों की भेंट के भैरव प्रसन्न नहीं होते । इस पर राजा सुधन्वा, जो शंकर के साथ थे, और कापालिकों में युद्ध होने लगा । शंकराचार्य ने कापालिकों को शाप दिया और वे सब नष्ट हो गये । तब कापालिकों का गुरु क्रकच शंकराचार्य की ओर बढ़ा । उसने सुरा से कपाल भरा और उसमें से आधा पीकर आधे से भैरव का आवाहन किया । भैरव के प्रकट होने पर उसने शत्रुनाश का निवेदन किया । किंतु शंकर स्वयं भैरव के अवतार थे । अतः भैरव ने शंकर का वध न कर स्वयं क्रकच का ही वध कर डाला । आनंद गिरि के अनुसार जिन कापालिकों से उज्जयिनी में श्री शंकराचार्य की भेंट हुई थी वे भैरव को परमेश्वर तथा सृष्टि का उत्पादक और संहारक मानते थे । वे यह विश्वास करते थे कि सुरापान तथा अभक्ष्य भोजन से ज्ञान-शक्ति का उदय होता है । वे अपने को सदा कपाली अर्थात् भैरव की शक्ति से सुरक्षित मानते थे । भवभूति ने अपने मालतीमाधव में श्री शैल को कापालिकों का केंद्र बताया है । योग-द्वारा वे शीघ्रगमन आदि की अद्भुत

शक्तियाँ प्राप्त करते थे। कपाल कुण्डला मानव-मुण्डों की माला धारण करती है। वह निशीथ-काल में अपने पिता के महल में सोती हुई मालती को उठाकर ले जाती है और श्मशान में ले जाकर कराला-चामुण्डा के सामने अपने गुरु अघोरघण्ट द्वारा भेंट चढ़ाये जाने के लिये समर्पित कर देती है।

इससे विदित होता है कि कापालिक-संप्रदाय कितना भयंकर संप्रदाय था। प्रकृति की कुछ भयंकर शक्तियों से उद्भावित भय से वैदिक रुद्र की प्रतिष्ठा हुई। भैरव और चण्डिका की कपाल-मालिका-मण्डित मूर्ति में इस कल्पना की पराकाष्ठा हुई। सुरा, रक्त और मानवबलि की भेंट ही इन देवताओं को प्रसन्न कर सकती थी। भैरव के उपासक कापालिक और कालामुखों की क्रियायें बड़ी वीभत्स और भयंकर प्रतीत होती हैं। किसी किसी अवस्था में तो नृशंसता का नग्न रूप दिखाई देता है। धर्म का इतना वीभत्स और अमानुषिक रूप बर्बर जातियों में ही देखा जा सकता है। कापालिक और कालामुख दोनों संप्रदायों का भेद सदा स्पष्ट नहीं रहता। रामानुज के अनुसार कालामुख अधिक उग्र संप्रदाय है। शिव- पुराण में उन्हें महाव्रतधर कहा है। महाव्रत की महत्ता कपाल-पात्र-भोजन, शव-भस्म-स्नान, आदि महान् और विचित्र क्रियाओं में है। मालतीमाधव के टीकाकार जगद्धर ने कापालिकों को महाव्रत नाम दिया है। नाम और लक्षणों से कापालिक भी अत्यंत उग्र संप्रदाय जान पड़ता है। दोनों ही संप्रदायों में अनेक वीभत्स क्रियाओं का प्रचार था। उनमें से कौन संप्रदाय उग्रतर था इस निर्णय का कोई अधिक महत्त्व नहीं जब दोनों ही संप्रदाय वीभत्सता की असाधारण सीमा के निकट थे। दोनों संप्रदायों का पूर्ण स्वरूप क्या था और उनमें विशेष सिद्धांतों तथा क्रियाओं में क्या भेद था, यह जानने का आज कोई प्रामाणिक आधार प्राप्त नहीं।

५—काश्मीर-शैव-मत

प्राचीन काल में काश्मीर देश साहित्य, संस्कृति और दर्शन का केंद्र रहा है। यह देश शैव-दर्शन का पुरातन पीठ है। काश्मीर में प्रचलित शैव मत की दो शाखायें हैं—स्पंदशास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र। इस मत का मूल आविर्भाव स्वयं भगवान् शिव से माना जाता है। आचार्य वसुगुप्त ने इसका लोक में प्रथम प्रवर्तन किया। शिवसूत्र काश्मीर-शैवमत का मूल आधार है। शिवसूत्र विमर्शिणी के आरंभ में क्षेमराज ने वसुगुप्त द्वारा शिवसूत्रों के उद्धार की परंपरा का उल्लेख किया है। भगवान् श्री कण्ठ ने स्वयं स्वप्न में वसुगुप्त को महादेवगिरि की शिला पर अंकित शिवसूत्रों के उद्धार तथा प्रचार का आदेश दिया। ये ७७ सूत्र ही काश्मीर शैवमत की सिद्धांत-मालिका के आधार-सूत्र हैं। वसुगुप्त-रचित स्पंद-कारिका में शिवसूत्रों के सिद्धांतों का ही विशदीकरण है। वसुगुप्त के दो प्रधान शिष्यों कल्लट और सोमानंद ने क्रमशः स्पंदशास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र नाम से काश्मीर शैव मत का दो धाराओं का प्रवर्तन किया। इन दोनों मतों के दार्शनिक-दृष्टिकोण में बहुत समानता है; विशेष सिद्धांतों में कुछ मतभेद भी है।

(क) स्पंदशास्त्र

वसुगुप्त की स्पंदकारिका से इस शास्त्र और संप्रदाय का नाम-करण हुआ। वसुगुप्त के शिष्य कल्लट इसके प्रथम आचार्य हैं। स्पंदकारिका पर 'स्पंद सर्वस्व' नामक वृत्ति कल्लट की सब से महत्त्व-शाली कृति है। 'स्पंदसर्वस्व' वस्तुतः स्पंद-शास्त्र का सर्वस्व ही है। स्पंद-शास्त्र के अनुसार परमेश्वर पूर्ण स्वतंत्र और सर्वशक्तिमान् है। वह केवल अपनी इच्छा-शक्ति से जगत् की उत्पत्ति करता है। उसे न प्रेरणा के लिये कर्म का आधार अपेक्षित है और न प्रधानादि उपा-

दान कारणों की अपेक्षा होती है। न वह स्वयं ही उपादान कारण है। इस प्रकार सृष्टि का न कोई प्रेरक कारण है और न उपादान कारण। सृष्टि चित्रपट तथा चित्रण सामग्री बिना चित्रित एक दिव्य चित्र है। दर्पण में प्रतिबिंब के समान परमेश्वर में सृष्टि का आभास होता है, किंतु दर्पण के समान ही परमेश्वर नित्य अस्पृष्ट रहता है। इस प्रकार स्पंद शास्त्र में एक परमेश्वर ही परम सत्य है। स्पंद-शास्त्र एक प्रकार का अद्वैतवाद है। जीव परमेश्वर से अभिन्न है, यद्यपि मलावरण के कारण इस तादात्म्य का उसे सामान्यतः बोध नहीं होता। यह मल तीन प्रकार का होता है—आणव, मायीय और कार्मण। जब आत्मा अज्ञान से अपने शुद्ध, स्वतंत्र और व्यापक स्वरूप को भुला कर अपने को अपूर्ण, अशुद्ध मानती है तथा देहादि को आत्मरूप मानती है तो यह आत्मा की परिच्छिन्नता का कारणभूत 'मल आणवमल' कहलाता है। जीव का देहरूप में संसार में भ्रमण मायीय मल के कारण होता है। अंतःकरण आदि की प्रेरणा से जब इंद्रियाँ सचेष्ट होती हैं तो कार्मण मल की उत्पत्ति होती है। नाद-द्वारा इन त्रिविध मल की क्रिया प्रवर्तित होती है। नाद शिव की मूल शक्ति का स्त्री तत्त्व है, उसीसे शब्द की उत्पत्ति होती है। शब्द के बिना कर्म के आधारभूत भाव कारक या प्रेरक नहीं हो सकते। अतः शब्द (नाद) मल का मूल है। गंभीर ध्यान और दृढ़ योग के द्वारा जब भक्त के मानस में परमेश्वर का स्वरूप प्रस्फुटित होता है तथा समस्त परिच्छिन्न रूप और भाव विलय हो जाते हैं तब इन मलों का नाश होता है। जब यह अवस्था स्थिर हो जाती है, तभी जीवात्मा मुक्त होकर परमात्म-स्वरूप हो जाती है। परमेश्वर का यह साक्षात्कार 'भैरव' कहलाता है।

(ख) प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र

वसुगुप्त के द्वितीय शिष्य सोमानंद ने प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का प्रवर्तन

किया। सोमानंद कृत 'शिव दृष्टि' प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का मूल ग्रंथ है। उत्पलाचार्य का 'प्रत्यभिज्ञासूत्र', जो वस्तुतः कारिका है, संप्रदाय का सबसे महत्त्व पूर्ण ग्रंथ और इसके नामकरण का आधार है। उत्पलाचार्य के प्रशिष्य अभिनव गुप्त ने 'प्रत्यभिज्ञा सूत्र' पर 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिणी' नामक टीका तथा 'तंत्रालोक' 'तंत्रसार' 'परमार्थसार' आदि अनेक महत्त्व पूर्ण ग्रंथ रच प्रत्यभिज्ञा मत का भाण्डार भरा। अभिनव गुप्त का स्थान भारतीय साहित्य और दर्शन में अत्यंत गौरव-मय है। अभिनव गुप्त के शिष्य क्षेमराज ने भी 'शिवसूत्र विमर्शिणी' 'प्रत्यभिज्ञा-हृदय' आदि ग्रंथ रच योग्य गुरु के योग्य शिष्य की भांति दर्शन-क्षेत्र में अपना महत्त्व-पूर्ण स्थान बनाया।

सिद्धांत की दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र की स्पंद-शास्त्र के साथ बहुत कुछ समानता है। स्पंद शास्त्र की भाँति प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र भी एक प्रकार का अद्वैतवाद है। इसमें भी परमेश्वर के साथ जीवात्मा का तादात्म्य अभीष्ट है। सृष्टि भी ईश्वर की स्वतंत्र इच्छा मात्र से होती है। इसके सिद्धांत में इसकी 'प्रत्यभिज्ञा' संज्ञा का विशेष महत्त्व है। इस मत के अनुसार मोक्षावस्था में परमेश्वर का 'प्रत्यभिज्ञान' होता है। लौकिक प्रयोग में यह 'वही' व्यक्ति है, यह 'वही' वस्तु है, ऐसे ज्ञान और व्यवहार को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर का साक्षात्कार होने पर 'मैं वही परमेश्वर हूँ' ऐसा ज्ञान 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' है।

उपनिषदों में एक पाठ है 'तमेव भांतमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (का०२-२) अर्थात् परमेश्वर के आलोक से ही विश्व में सब कुछ आलोकित है। हमारे अंतर्गत ज्ञान शक्ति परमेश्वर की ही शक्ति है। शक्ति के एकत्त्व के साथ-साथ स्वरूप के तादात्म्य की भी कल्पना संभव है। इस प्रकार शिव ही एक मात्र सत्य है।

जीव साक्षात् शिव स्वरूप है। जगत् शिव से अभिन्न और उनकी इच्छाशक्ति का स्फुरण मात्र है। अज्ञानावरण के कारण जीव का शिव रूप आवृत रहता है। साधना-द्वारा उस शिव स्वरूप का साक्षात्कार होने पर आत्मा को अपने वास्तविक पारमेश्वर-स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान होता है, इसीलिये इस शास्त्र का नाम प्रत्यभिज्ञा शास्त्र है। परमेश्वर अनंत शक्ति संपन्न है। उसकी अनंत शक्तियों में पाँच शक्तियाँ विशेष रूप से विख्यात हैं—चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। चित् शक्ति प्रकाशस्वरूप है, जिससे परमशिव का स्वरूप स्वतः प्रकाशित होता है। आनंद शक्ति द्वारा वे स्वाभाविक आह्लाद का निरपेक्ष अनुभव करते हैं। इच्छा शक्ति से वे स्वतंत्र और अविघात इच्छा-संपन्न हैं। ज्ञान शक्ति से वे अनंत ज्ञानसंपन्न हैं। क्रिया-शक्ति से उनमें सर्वाकार-ग्रहण की योग्यता है। इन पाँच प्रमुख शक्तियों द्वारा परम शिव का अपनी स्वतंत्र इच्छा मात्र से जगद्रूपसे परिणाम होता है।

जीव वस्तुतः परमेश्वर ही है। अज्ञान के कारण उसका पारमेश्वर्य स्वरूप अंतर्हित रहता है। अज्ञान परम शिव की स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का विजृंभन-मात्र है। शिव अपने रूप को तिरोहित तथा प्रकट करने में पूर्ण समर्थ और स्वतंत्र हैं। जीव में परमेश्वर के गुणों का आभास होने पर भी उनका पूर्ण परामर्श न होने के कारण तादात्म्य के पूर्णानंद का उल्लास नहीं होता। जिस प्रकार एक कामिनी किसी नायक के गुण गणों से परिचित होने पर भी, अज्ञात रूप से नायक के निकट होने पर भी, प्रत्यभिज्ञान के बिना मदन-विह्वल नहीं होती, किंतु दूती द्वारा यह कहे जाने पर कि 'यह वही नायक है' नायक के प्रत्यभिज्ञान पर प्रेमाकुल होकर आत्मसमर्पण कर देती है, उसी प्रकार स्वयं परमेश्वर

३२

होते हुये भी आत्मा को अपने पारमेश्वर्य का अभिज्ञान नहीं होता, किंतु गुरु के द्वारा अपने स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराने पर वह आत्मानुभव के आनन्द में विभोर हो जाती है। पारमेश्वर्य प्राप्त होने पर अन्य कुछ भी अपेक्षित नहीं रहता। अभिनवगुप्त का यह ईश्वराद्वयवाद शंकर के ब्रह्माद्वैत के बहुत कुछ समान है। दोनों में एक मुख्य भेद यह है कि शंकर का ब्रह्म निष्क्रिय है, अभिनवगुप्त का ईश्वर-ज्ञान क्रिया-शक्ति-संपन्न है।

६—वीर-शैव-मत

दक्षिण देश में प्रचलित शैव धर्म वीर-शैव-मत कहलाता है। इस मत के अनुयायियों को लिङ्गायत भी कहते हैं; क्योंकि ये लोग अपने गले में शिवलिङ्ग की मूर्ति धारण करते हैं। इस मत के आदि प्रवर्तक का नाम बसव कहा जाता है। बसव-पुराण नाम से प्रकाशित वीर-शैव ग्रंथ से इस मत और इसके प्रवर्तक बसव का परिचय मिलता है। वीर शैवों का विश्वास है कि उनका मत अत्यंत प्राचीन है। बसव पुराण से ज्ञात होता है कि बसव इस मत के आदि प्रवर्त्तक नहीं वरन् प्रबल प्रचारक थे। बसव पुराण के आदि में कथा है कि किस प्रकार नारद के अनुरोध से भगवान् शंकर ने अपने नंदी को अवतार लेकर शैवमत के प्रचार की आज्ञा दी। बसव कलचुरी नरेश बिज्जल के मंत्री थे। उनका जीवन राजनीतिक चक्रों में बीता। ऐसा प्रतीत होता है कि बसव ने वीरशैव मत के प्रचार के लिये अपने राजनीतिक प्रभुत्व का उपयोग किया इसी लिये इस मत में उनका इतना मान है। एकांत रामय्य ने भी जैन धर्म का उच्छेद कर वीर शैव मत के प्रतिष्ठापन के लिये बड़े विलक्षण कृत्य किये। पाँच महापुरुषों ने भिन्न भिन्न समय पर इस मत का उपदेश दिया है। इनके नाम रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डताराध्य तथा विश्वाराध्य हैं; इन्होंने क्रमशः सोमेश्वर, सिद्धेश्वर,

रामनाथ, मल्लिकार्जुन तथा विश्वनाथ नामक शिवलिङ्गों से आविर्भूत होकर शैवधर्म का प्रचार किया। इन्होंने क्रमशः 'वीर' सिंहासन को रम्भापुरी (मैसूर) में, 'सद्धर्म' सिंहासन को उज्जयिनी में, 'वैराग्य' सिंहासन को केदारनाथ के पास अश्वी मठ में, 'सूर्य' सिंहासन को 'श्रीशैल' में तथा 'ज्ञान' सिंहासन को काशी में स्थापित किया।

सिद्धांत की दृष्टि से वीर-शैवमत एक प्रकार का विशिष्टाद्वैत है। शक्ति-विशिष्ट एक शिव को परम सत्य मानने के कारण इसे 'शक्ति-विशिष्टाद्वैत' भी कहते हैं। एक सच्चिदानंद स्वरूप परमब्रह्म ही परम शिव तत्त्व है। उसकी पारिभाषिकी संज्ञा 'स्थल' है। परम शिव की 'स्थल' संज्ञा की व्याख्या कुछ कृत्रिम व्युत्पत्ति के आधार पर की जाती है। शिव जगत् की स्थिति का आधार है, इसका द्योतन पूर्वांश 'स्थ' से होता है। 'ल' लय का बोधक है। शिव से ही उत्पन्न होकर प्रकृति, महत् आदि जगत्तत्व शिव में ही लीन हो जाते हैं। समस्त चराचर जगत् का आश्रय तथा परमानंद के साधकों का परम लक्ष्य-स्थल होने के कारण भी शिव की 'स्थल' संज्ञा है।

इस 'स्थल' संज्ञक शिव की स्वरूपावास्था शक्ति के साथ सामरस्य है। जब इन शिव को लीला करने की इच्छा उत्पन्न होती है तो शान्त समुद्र के समान स्थित 'स्थल' में कंपन उत्पन्न होता है। इस कंपन से 'स्थल' के स्वाभाविक सामरस्य का विभेद होकर उसके द्विविधरूप हो जाते हैं जिनमें एक को 'लिङ्गस्थल' और दूसरे को 'अङ्गस्थल' कहते हैं। 'लिङ्गस्थल' स्वयं शिव तथा उपास्य हैं, 'अङ्गस्थल' उपासक तथा जीव है। इसी प्रकार शक्ति में भी दो रूप उत्पन्न होते हैं। जिनमें एक का नाम 'कला' और दूसरे का 'भक्ति' है। 'लिंग' की शक्ति का नाम कला है जो प्रवृत्ति उत्पन्न करती है तथा अंग की शक्ति भक्ति

है जिससे निवृत्ति और मोक्ष उत्पन्न होते हैं। शक्ति लिंग को उपास्य बनाती है तथा भक्ति अंग को उपासक। अंत में भक्ति के द्वारा ही अंग शिव (लिङ्ग) से एकीभूत हो जाता है।

लिङ्ग स्वयं भगवान् शिव हैं, यह शिव का वाह्य चिह्न मात्र नहीं। लिङ्ग स्थल तीन प्रकार का होता है—(१) भाव लिङ्ग, (२) प्राण लिङ्ग और (३) इष्ट लिङ्ग। प्रथम भाव लिङ्ग कला-विहीन है और उसका श्रद्धा द्वारा साक्षात्कार होता है। वह केवल सत् है, वह काल तथा दिक् से अपरिच्छिन्न तथा परात्पर है। द्वितीय प्राण लिङ्ग कला-विहीन तथा कला-युक्त दोनों है। बुद्धि द्वारा उसका अवगम होता है। तृतीय इष्ट लिङ्ग कला-युक्त है और चक्षु द्वारा उसका दर्शन होता है। वह समस्त इष्ट फलों का देने वाला है, अथवा इष्ट उपास्य है, इसी से इसकी इष्ट संज्ञा है। भाव लिङ्ग परमात्मा का सत्स्वरूप है, प्राण लिङ्ग चित् है और इष्ट लिङ्ग आनंद है। भाव लिङ्ग परम तत्त्व है। प्राण लिङ्ग उसका सूक्ष्म तथा इष्ट लिङ्ग उसका स्थूल रूप है। ये तीन लिङ्ग आत्मा, प्राण और स्थूल देह के सांगतिक हैं और प्रयोग, मंत्र और क्रिया से युक्त होने पर कला, नाद और विन्दु कहलाते हैं।

भक्ति जीव का लक्षण है। भक्ति शिव के प्रति उपासना की भावना है। इसकी तीन अवस्थाएं होती हैं और तीन अवस्थाओं के अनुरूप 'अंगस्थल' के तीन विभाग होते हैं जिन्हें क्रमशः (१) योगाङ्ग (२) भोगाङ्ग और (३) त्यागाङ्ग कहते हैं। प्रथम से जीव शिव से एकीभाव प्राप्त कर आनंद की उपलब्धि करता है; दूसरे के द्वारा जीव शिव के साथ आनंद का उपभोग करता है; और तीसरे के द्वारा संसार को मिथ्या और क्षणभंगुर मान कर जीव उसका त्याग कर देता है। प्रथम कारण-लय के समान तथा सुषुप्ति-कल्प है; द्वितीय सूक्ष्म शरीर के समान

और स्वप्न-तुल्य है। और तृतीय स्थूल शरीर के समान तथा जागृति तुल्य है। प्रथम योगांग के दो भेद होते हैं ऐक्य और शरण। संसार के मिथ्यात्व का विश्वास होने पर शिव के आनन्द का भागी बनना 'ऐक्य' कहलाता है। यह 'ऐक्य' की अवस्था समरसा भक्ति कहलाती है, क्योंकि इसमें जीव और शिव का आनंद में एकीभाव हो जाता है। जब जीव अपने और प्रत्येक वस्तु में लिङ्ग के दर्शन करने लगता है तो इसे 'शरणभक्ति' कहते हैं। यह आत्मानंद की अवस्था है। इसके दो भेद हैं—(१) प्राण लिङ्गी और (२) प्रसादी। प्रथम के लक्षण जीवन से निरपेक्षता, अहंकार त्याग और शिव का ध्यान है। समस्त भोग विषयों का शिवार्पण करने पर 'प्रसाद भक्ति' प्राप्त होती है। जीव का भक्ति द्वारा एकीभाव ही मुक्ति है। 'अंग' के मलापनयन द्वारा मुक्ति प्राप्ति का परम साधन 'भक्त' ही है। परम शिव के अनुग्रह से 'अंग' (जीव) भक्ति प्राप्त कर सकता है। गुरु की कृपारूपिणी दीक्षा भक्ति में बड़ी सहायक होती है और वीर शैवों में एक प्रकार से आवश्यक मानी जाती है। वीर शैवों का दीक्षा-संस्कार वैदिक उपनयन संस्कार के समकक्ष ही है। गायत्री मंत्र के स्थान पर शैव 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र का उच्चारण करते हैं, और यज्ञोपवीत के स्थान पर शिवलिङ्ग धारण करते हैं। दीक्षा के समय गुरु शिवलिङ्ग को अपने वाम कर में ग्रहण कर षोडश संस्कार-पूर्वक उसे शिष्य को दिखाता है। फिर शिष्य के वाम कर में उसे रख कर शिष्यों को उस लिङ्ग को अपने आत्मस्वरूप से देखने का आदेश देकर उसे शिष्य के गले में एक रेशमी डोरे से बाँध देता है। इसे "लिङ्गस्वायत्तदीक्षा" कहते हैं। भक्ति के लिये दीक्षा आवश्यक है। दीक्षा प्राप्त कर लेने पर ही जीव शिवत्त्व को प्राप्त कर सकता है।

यह शिवत्त्व की प्राप्ति शिव के साथ सामरस्य की प्राप्ति है। पृथकत्व-

भाव का अभाव होने के कारण इसे तादात्म्य या अद्वैत कहा जा सकता है। किंतु यह अद्वैत शंकर के ब्रह्माद्वैत से भिन्न माना जाता है। इसे केवलाद्वैत न कह कर विशिष्टाद्वैत कहना अधिक उचित है। शक्ति विशिष्ट शिव इसके अनुसार परम तत्त्व है। अपनी शक्ति से ही शिव से 'अंग' का आविर्भाव होता है। शंकर के समान न केवल 'ब्रह्म' परम तत्त्व है, और न रामानुज के समान जीव और जगत् ब्रह्म के विशेष रूप से वर्तमान नहीं रहते वरन् केवल शिव की शक्ति रूप से। इस भेद को छोड़ अन्यथा शिवाद्वैत रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अधिक निकट है। मुक्ति प्राप्ति का परम साधन भक्ति भी शैव और रामानुज सम्प्रदायों की एक और मुख्य समानता है। श्रीकण्ठ शिवाचार्य ने अपने 'वेदांतसूत्र-भाष्य' में शिवाद्वैत का दार्शनिक निरूपण किया है।

७—शाक्त-मत

शैव मत का सूत्र वेदों तक मिलता है। रुद्र-शिव की कल्पना का आरंभ ऋग्वेद से ही हो जाता है। किंतु वेदों से लेकर गृह्य सूत्रों तक रुद्र-शिव के साथ किसी स्त्री देवता की प्रमुखता दृष्टिगोचर नहीं होती। रुद्राणी, भवानी आदि नामों का उल्लेख अवश्य मिलता है, किंतु ये कोई स्वतंत्र शक्ति संपन्न देवता नहीं हैं। उमा शिव की पत्नी हैं और शिव के प्रभुत्त्व को पराभूत नहीं करती। 'महाभारत' में एक स्तोत्र में अर्जुन ने दुर्गा की वंदना की है। उस मंत्र में दुर्गा के कुमारी, काली कपाली, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कराला, विजया, कौशकी, उमा, कांतारवासिनी नामों का उल्लेख है। 'हरिवंशपुराण' में महिषासुरनाशनी, शुंभ-निशुंभ-मर्दिनी का उल्लेख है। 'मार्कण्डेय-पुराण' में चण्डी के उद्भव की कथा है। शुंभ-निशुंभ से त्रस्त होकर देवता हिमालय पर गये और देवी की वंदना की। पार्वती जी गंगा

में स्नान करने आईं। तब शिवा अथवा अंबिका पार्वती के तनु से प्रकट हुई। पार्वती के देह-कोश से प्रकट होने के कारण उसका नाम कौशिकी हुआ। जब अंबिका पार्वती के देह से प्रकट हुईं तो पार्वती का वर्ण काला हो गया इसी से उसका नाम कालिका हुआ। जब शुंभ और निशुंभ उस पर दौड़े तो उसका मस्तक कोप से काला हो गया उससे मुण्ड-मालिका काली प्रकट हुई। उसने चण्ड और मुण्ड राक्षसों का वध किया इससे उसका नाम चामुण्डा हुआ। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही और ऐंद्री नामक सात शक्तियाँ उसकी विभूतियाँ हैं।

उक्त विवरण से विदित होता है कि वस्तुतः एक ही देवी अनेक रूप से प्रख्यात हैं। किंतु विवेक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि ये केवल एक ही देवी के अनेक नाम अथवा रूप नहीं हैं, वरन् ये भिन्न-भिन्न देवियाँ हैं जिनकी कल्पना भिन्न भिन्न ऐतिहासिक परिस्थियों में प्रतिष्ठित हुई। भारतवासियों की जिस एकत्वाभिमुखी विचार-प्रवृत्ति से अनेक वैदिक देवताओं के समवाय से एक ब्रह्म या परमेश्वर की कल्पना प्रसूत हुई उसी प्रवृत्ति से ये अनेक देवियाँ एकीभूत हो कर एक ही शक्ति के अनेक नाम-रूप की द्योतक बन गईं। सबसे पहले शिव की पत्नी उमा है। उसके बाद हैमवता या पार्वती है, क्योंकि शिव गिरीश या पर्वतवासी हैं और उमा की उत्पत्ति भी हिमवान् पर्वत पर हुई। उसके बाद अरण्य और विंध्य पर्वत पर निवास करने वाली देवियाँ हैं, जो पुलिंद, शबर, बर्बर आदि की उपास्या हैं तथा भयंकर होने के कारण कराली, काली, चण्डी, चामुण्डा आदि कहलाती हैं। शक्ति की भावना भी देवी की कल्पना का एक प्रमुख अंग है। ऊपर वर्णित सात देवियों की कल्पना सात देवताओं की शक्ति के रूप में उदित हुई। कापालिक और कालमुखों के संप्रदाय में इस शक्ति-

उपासना ने बड़ा भयंकर रूप ग्रहण कर लिया। स्त्री देवता की उपासना करने वालों में शक्ति की भावना सामान्यतः वर्तमान होने के कारण वे सभी शाक्त कहलाते हैं।

शाक्त-तंत्रों की संख्या बहुत अधिक है। शाक्त-उपासना विधि अत्यंत रहस्यमय तथा गोपनीय है। शाक्त-तंत्रों का प्रकाशन बहुत कम हुआ। उनकी भाषा अत्यंत सांकेतिक प्रतीकात्मक तथा रहस्यमय होने के कारण प्राप्य ग्रंथ सहज अवगम्य नहीं हैं। शाक्तों का विश्वास है कि विद्या गुरुमुख से ही प्राप्त हो सकती है। संकेतों और प्रतीकों का रहस्य संप्रदाय की परंपरा में प्रवेश करने पर ही ज्ञात हो सकता है।

शाक्त संप्रदाय के अनुसार शिव और शक्ति परम तत्त्व हैं। ज्योतिः स्वरूप शिव विमर्श अथवा स्फूर्ति रूप शक्ति में प्रवेश करता है तथा बिंदु रूप ग्रहण करता है। शक्ति भी इसी प्रकार शिव में प्रवेश करती है, इससे बिंदु का विकास होता है। और उसमें से एक स्त्री तत्त्व का उदय होता है जिसे 'नाद' कहते हैं। इन नाद और बिंदु के संयोग से एक ऐसे तत्त्व की उत्पत्ति होती है जो पुरुष और स्त्री शक्तियों की गहन समानता प्रदर्शित करता है और जिसे 'काम' कहते हैं। इसके अतिरिक्त दो श्वेत और रक्त बिंदु जो पुरुष और स्त्री शक्ति के प्रतीक होते हैं, मिलकर 'कला' की उत्पत्ति करते हैं। काम में संयुक्त नाद-बिंदु तथा 'कला' के संयोग से 'काम-कला' का आविर्भाव होता है। इस प्रकार चार शक्तियों का समागम होता है—(१) मूल बिंदु जो सृष्टि के उपादान का प्रतीक है; (२) नाद अथवा शब्द जिस पर पदार्थों का नामकरण निर्भर है; और जो बिंदु से उद्भूत होता है; ये वस्तुओं और वाक् के उपादान मात्र हैं; अतः उनके साथ एक उत्पादक शक्ति का संयोग आवश्यक है;(३)श्वेत बिंदु (वीर्य) जो पुरुष शक्ति का सूचक है।

और स्वतः उत्पादन में समर्थ नहीं, तथा (४) रक्त बिंदु (रज) जो स्त्री शक्ति का सूचक है। जब एक तत्त्व 'काम-कला' में इन चारों शक्तियों का समागम होता है तो उससे यह नाम रूप-मय वस्तु जगत् उत्पन्न होता है।

'सौंदर्यलहरी' के अनुसार शक्ति के संयोग से ही शिव सृष्टि कर सकते हैं। अतः शक्ति ही मूल क्रिया शक्ति तथा सृजन-शक्ति है। परम शक्ति होने के कारण वह परा, ललिता, त्रिपुर सुंदरी आदि नामों से विख्यात है। समस्त जीव त्रिपुर सुंदरी के ही रूप हैं और समस्त वस्तु जगत् उसी के उन्मेष से उदित है। त्रिपुर सुंदरी की उपासना एक दीक्षा-पूर्वक होती है। यह दीक्षा तीन प्रकार की होती है। पहली दीक्षा में महा-पद्मवन में शिव के अंक में आसीन देवी के आनंदमय स्वरूप का ध्यान करना होता है। दूसरी दीक्षा चक्र रूपा होती है। इसमें श्रीचक्रों के रूप में उपासना की जाती है। तीसरी दीक्षा शाक्त तंत्रों के गुरु सकाश से अध्ययन और तत्त्व के अवगमन में हैं। दूसरीचक्र रूपा दीक्षा शाक्तों की मुख्य उपासना विधि है। श्रीचक्र के केंद्र में स्थित योनि का ध्यान और उपासना का मुख्य अंग है। यह श्रीचक्र भोजपत्र, रेशमीवस्त्र या स्वर्ण-पत्र पर अंकित किया जाता है। इस उपासना के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि शाक्तों के दो मुख्य वर्ग होते हैं—(१) कौलिक और (२) समयी। पहले स्थूल विषय की उपासना करते हैं और दूसरे चित्र की। शाक्त तंत्र बड़े रहस्यमय माने जाते हैं। शक्ति-संप्रदाय में योग का बड़ा महत्त्व है। योग और मंत्र साधना से मनुष्य की अंतर्निहित शक्तियों जागृत होती है। सिद्धि की अवस्था में षट्चक्रों को भेद कर कुण्डलिनी शक्ति का उदय होता है।

त्रिपुरा सिद्धांत के अतिरिक्त शक्ति संप्रदाय की अन्य अनेक शाखायें हैं और शक्ति-उपासना के अनेक रूप है। तंत्रों के रहस्य-उद्घाटन के बाद ही उनका कुछ स्पष्ट परिचय प्रात हो सकता है।

दसवां अध्याय

(परिशिष्ट)

वेदांत के अन्य आचार्य

पुस्तक की भूमिका में हमने वेदांत को 'बारह दर्शनों' में से एक समझ कर गिना था। वास्तव में वेदांत के अंतर्गत अनेक दर्शन हैं और भारतीय दार्शनिक संप्रदायों की संख्या बारह से कहीं अधिक है। रामानुज और शंकर के सिद्धांतों में महत्त्वपूर्ण भेद हैं; यही अन्य आचार्यों के विषय में भी कहा जा सकता है। प्रायः वेदांत के सभी दूसरे आचार्यों ने शांकर मत की आलोचना की है। इन सब आचार्यों के मतों और आलोचनाओं का श्रृङ्खलित वर्णन इस छोटी पुस्तक में संभव नहीं है। यहां हम दो तीन आचार्यों की शिक्षा का दिङ्‌मात्र प्रदर्शित करेंगे।

निंबार्काचार्य[1]

इनका समय रामानुज के कुछ ही बाद ग्यारहवीं शताब्दी समझना चाहिए। यह तेलगू ब्राह्मण थे और वैष्णव मत के अनुयायी, इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर 'वेदांत पारिजात- सौरभ' नामक भाष्य लिखा है। इनका मत द्वैताद्वैत कहलाता है जो भास्कराचार्य के भेदाभेदवाद से समानता रखता है। प्रसिद्ध केशव कश्मीरी जिन्होंने गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे हैं, निंबार्क के ही अनुयायी थे।

---

[1] राधाकृष्णन्, भाग २, पृ० ७५१

जीव ज्ञान-स्वरूप है और ज्ञान जीव का गुण भी है। गुण और गुणी में तादात्म्य नहीं होता, पर उनका भेद देखा नहीं जा सकता। आकार में जीव अणु है, परंतु उसका ज्ञान गुण व्यापक है। प्रत्येक दशा में जीव में आनंद रहता है। अचेतन तत्त्व तीन हैं, अप्राकृत (रामानुज का शुद्ध सत्त्व या नित्यविभूति), प्रकृति और काल। ईश्वर का नियंता होना नित्य धर्म है। वह जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों है। निंबार्क ने विवर्त्तवाद का खंडन करके परिणामवाद का पक्ष लिया है। ईश्वर, जीव और प्रकृति में अत्यंत अभेद या भेद नहीं है। जीव और प्रकृति परतंत्र सत्ताएं हैं और ब्रह्म स्वतंत्र। ब्रह्म की शक्ति जगत् की रचना करती है। जिसे रामानुज ब्रह्म का शरीर कहते हैं उसे निंबार्क ब्रह्म की शक्ति पुकारते हैं। शक्ति के परिवर्तन ब्रह्म को नहीं छूते।

निंबार्क भक्ति-मार्गी हैं। नारायण और लक्ष्मी के स्थान पर उन्होंने कृष्ण और राधा को स्थापित किया। भक्ति का अर्थ उपासना नहीं, प्रेम है। भक्ति अनन्य होनी चाहिये। दूसरे देवताओं की भक्ति वर्जित है। जीव और अजीव की ब्रह्म पर निर्भरता ही निंबार्क का अद्वैत है। उनके दर्शन में द्वैत की भावना प्रबल है। निंबार्क ने रामानुज की आलोचना की है। विशेषण का काम विशिष्ट पदार्थ को अन्य पदार्थों से भिन्न करना होता है। चित् और अचित् विशेषण ईश्वर को किससे भिन्न करेंगे? अतएव चित् को ईश्वर का विशेषण मानना ठीक नहीं।

शंकर के आलोचक वेदांत के आचार्यों में मध्व का नाम प्रमुख है।

मध्वाचार्य[1]

वे द्वैतवादी थे। मध्वाचार्य पूर्णप्रज्ञ और आनंद-तीर्थ के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, उनके दर्शन को

---

[1] मध्वाचार्य के सिद्धांतों के लिए देखिए, नागराजकृत, रेन आफ रिअलिज़्म इन इण्डियन फ़िलासफ़ी।

पूर्णप्रज्ञ-दर्शन भी कहते हैं। मध्व का जन्म ११९९ ई० में हुआ। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा और अपने 'अनुव्याख्यान' में उसी की पुष्टि की। 'अनुव्याख्यान' पर जयतीर्थ ने 'न्यायसुधा' टीका लिखी। जयतीर्थ की 'वादावली' भी प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें श्रीहर्ष के टीकाकार चित्सुख की आलोचना है। व्यासराज का 'भेदोज्जीवन' भेद की वास्तविकता सिद्ध करता है। उसी लेखक का 'न्यायामृत' प्रसिद्ध ग्रंथ है। मधुसूदन सरस्वती की 'अद्वैत-सिद्धि में 'न्यायामृत' की आलोचना की गई जिसका उत्तर रामाचार्य की 'न्यायामृत-तरंगिणी' में दिया गया। 'गुरुचन्द्रिका' ने तरंगिणीकार का खंडन किया, जिसके प्रत्युत्तर में 'न्याय-तरंगिणी-सौरभ' लिखा गया। 'न्याय-रत्नालंकार' में द्वैत और अद्वैत के इस रोचक शास्त्रार्थ का सारांश इकट्ठा किया गया है।

अद्वैतवाद की आलोचना

शंकराचार्य के अध्यास और विवर्त्त सिद्धांत की मध्व और उनके अनुयायियों ने कड़ी आलोचना की है। मध्व ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि भ्रम या भ्रांत ज्ञान भी सर्वथा-नियम हीन नहीं होता। रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, शुक्ति में रजत का। रस्सी में रजत या हाथी का भ्रम क्यों नहीं होता? भ्रम के लिए दो सत्य पदार्थों का होना आवश्यक है। सर्प और रजत की वास्तविक सत्ता है, इसलिए उनका भ्रम होता है। यदि जगत् की वास्तविक सत्ता नहीं है तो ब्रह्म में उसका अध्यास या भ्रम भी नहीं हो सकता।

संसार में भेद नहीं है अभेद ही है, या भेद अवास्तविक अथवा मायिक है, यह कहना साहस-मात्र है। भेद की वास्तविकता को माने बिना जगत् का कोई व्यवहार नहीं चल सकता। गुरु और शिष्य, पिता और पुत्र, पति और पत्नी के संबंध भेद की सत्ता सिद्ध करते हैं। यदि

भेद न हो तो समाज और उसके व्यवहारों का लोप हो जाय। पाप और पुण्य, ज्ञान और अज्ञान का भेद तो अद्वैती को भी मानना पड़ेगा। यदि प्रमा और अप्रमा (यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान) में भेद नहीं है तो दार्शनिक चिंतन की आवश्यकता ही क्या है? मध्व के अनुसार पांच प्रकार का भेद बहुत ही स्पष्ट है :—

१—जड़ और जड़ का भेद—एक जड़ पदार्थ दूसरे जड़ पदार्थ से भिन्न है। कुर्सी और मेज अलग-अलग हैं।

२—जड़ और चेतन का भेद—जीव और अजीव का भेद बिल्कुल स्पष्ट है। प्राणधारी और प्राण-शून्य पदार्थों की भिन्नता बालक भी जानते हैं। उसे सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

३—जीव और जीव का भेद—जीव बहुत से हैं, यह भी स्पष्ट है। अन्यथा सुख, दुःख आदि सब को साथ ही साथ होते।

४—जीव और ईश्वर का भेद—ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाला। अतएव उनमें भेद है।

५—जड़ और ईश्वर—जीव की तरह ईश्वर भी जड़ से भिन्न है।

इन भेदों की वास्तविकता के पक्ष में सब से बड़ी युक्ति व्यावहारिक है। उक्त भेदों को माने बिना व्यवहार नहीं चल सकता। यदि जीव और जीव का भेद न मानें तो नैतिक जीवन नष्ट हो जायगा। कोई सुखी कोई दुःखी क्यों है, इसका उत्तर देते न बन पड़ेगा। इसी प्रकार अन्य भेदों को भी मानना चाहिए।

परंतु भेदों की व्यावहारिक सत्ता से तो अद्वैत वेदांत को भी इन्कार नहीं है। मध्व के मत में भेद व्यावहारिक ही नहीं, पारमार्थिक है। भेद

की सत्ता ही नहीं है। यह सिद्ध करने की कोशिश कुछ अन्य वेदांतियों ने की थी।

मध्वाचार्य के सिद्धांत

भारत के अधिकांश दार्शनिकों की तरह मध्व तीन प्रमाण मानते हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुति। उपमान अनुमान में अंतर्भूत है। केवल प्रत्यक्ष और अनुमान की सहायता से हम विश्व की पहेली को नहीं समझ सकते, श्रुति की सहायता आवश्यक है। मध्व स्वतःप्रामाण्यवादी हैं। ज्ञाता और ज्ञेय के बिना ज्ञान संभव नहीं है, इसलिये अद्वैतवाद व्यर्थ है। ज्ञाता और ज्ञेय में सीधा संबंध होता है। ज्ञाता एकदम ज्ञेय को जान लेता है। सत्ताएं दो प्रकार की हैं, स्वतंत्र और परतंत्र। परम पुरुष परमात्मा की ही एकमात्र स्वतंत्र सत्ता है। परतंत्र सत्ता जीव और जड़-तत्त्व की है। अभाव भी परतंत्र पदार्थ है।

जीव, जगत् और ब्रह्म तीनों अलग-अलग हैं। श्रुति जब ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयम्' (एक अद्वितीय) कहती है तो उसका तात्पर्य ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करना होता है। ब्रह्म से बढ़कर और कुछ नहीं है। ब्रह्म में पर अपर का भेद नहीं है, ब्रह्म एक ही है जिसमें अशेष अच्छे गुण पाए जाते हैं। ब्रह्म का अलौकिक शरीर है और लक्ष्मी सहचरी हैं। लक्ष्मी नित्य मुक्त हैं।

जैनियों की तरह मध्व भी प्रत्येक भौतिक पदार्थ को आत्मा या जीव-युक्त समझते हैं। एक परमाणु के बराबर स्थान में अनंत जीव रहते हैं (परमाणु-प्रदेशेष्वनंताः प्राणिराशयः)।[1] ब्रह्म पर अवलंबित होने पर भी जीव कर्म करने में स्वतंत्र हैं। जीव स्वभावतः आनंदमय है, जड़-तत्त्व

---

[1] राधाकृष्णन्, भाग २ पृ० ७४३।

का संयोग ही उसके दुःख का कारण है। मोक्षावस्था में जीव का आनंद अभिव्यक्त हो जाता है।

मध्व सांख्य की प्रकृति को स्वीकार करते हैं। महत्, अहंकार, बुद्धि, मन, दस इंद्रियां, पांच विषय और पांच भूत यह चौबीस प्रकृति के विकार हैं।

ज्ञान से ईश्वर पर निर्भर होने की भावना उत्पन्न होती है। विश्व को समझ लेने से ब्रह्म या ईश्वर का ज्ञान होता है। ईश्वर को जानने से उसमें भक्ति उत्पन्न होती है। पवित्र जीवन व्यतीत करने से सत्य की उपलब्धि होती है। गुरु के चरणों में बैठकर नियमपूर्वक वेदाध्ययन करने से तत्त्व-बोध होता है। वेद पढ़ने का अधिकार शूद्रों और स्त्रियों को नहीं है, परंतु वेदांत का अध्ययन सब बुद्धिमान पुरुष कर सकते हैं। सब कुछ करने पर भी बिना भगवान् की कृपा के न ज्ञान हो सकता है न मोक्ष। मुक्त पुरुषों की बुद्धियां, इच्छाएं और उद्देश्य एक हो जाते हैं, यही उनकी एकता है। एकता का अर्थ तादात्म्य नहीं है। 'स आत्मा तत्त्वमसि' का पदच्छेद मध्व 'स आत्मा अतत् त्वम् असि' करते हैं, जिसका अर्थ है, वह आत्मा तू नहीं है। मुक्त जीव और ईश्वर की एकता मध्व को स्वीकार नहीं है।

वल्लभाचार्य[1]

शुद्धाद्वैत के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य का समय पंद्रहवीं शताब्दी समझना चाहिए। वे विष्णु स्वामी के अनुयायी थे। उनके कार्य का क्षेत्र उत्तर भारत रहा, यद्यपि वे जन्म से दक्षिणी बतलाए जाते हैं। श्री वल्लभाचार्य ने वेदांत-सूत्रों पर 'अणुभाष्य' लिखा है और भागवत पुराण पर 'सुबोधिनी' की

---

[1] वल्लभाचार्य के सिद्धांतों के लिए देखिए, 'श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनके सिद्धांत' भट्ट श्री व्रजनाथ शर्मा कृत।

रचना की है। 'प्रस्थानत्रयी' के साथ ही वे भागवत को भी प्रमाण मानते थे। उनके संप्रदाय को 'ब्रह्मवाद' और 'पुष्टि मार्ग' भी कहते हैं। पुष्टि का अर्थ है पोषण अथवा अनुग्रह अर्थात् भगवत्कृपा। अपने को हीन मानकर जो भगवान् की दया पर निर्भर रहते हैं उन्हीं का कल्याण होता है।

एक ब्रह्म ही तत्त्वपदार्थ है और श्रुति ही उसके विषय में प्रमाण है। ब्रह्म निर्गुण नहीं, सगुण है। जहां श्रुति ने ब्रह्म को निर्गुण कहा है वहां उसका तात्पर्य ब्रह्म को सत्, रज, तम आदि से रहित कथन करना है। ईश्वर या ब्रह्म या कृष्ण सृष्टिकर्त्ता हैं। कर्तव्य के लिए शरीर की आवश्यकता नहीं है। फिर भी भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए भगवान् का अवतार होता है। भगवान् सत्, चित् और आनंद-स्वरूप हैं। जीव का आनंद बद्ध दशा में तिरोहित हो रहा है। भगवान् अपनी शक्ति से जगत् की सृष्टि और प्रलय करते हैं; वे जगत् के उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं। जगत् मिथ्या या मायामय नहीं है। माया ब्रह्म की ही शक्ति है, इसलिए जगत् सत्य है। अविद्या के कारण जीव बंधन में पड़ा है। यह अविद्या माया से भिन्न है और इसका आश्रय जीव है। वल्लभ शंकर के मायावाद का समर्थन नहीं करते, उन्होंने विशिष्टाद्वैत को भी स्वीकार नहीं किया है। सांख्य की प्रकृति की स्वतंत्र-सत्ता भी उन्हें अभिमत नहीं है। जीव और जगत् दोनों सत्य हैं, मिथ्या नहीं हैं, पर वे ब्रह्म के विशेषण नहीं, अंश हैं। वास्तव में जीव और ब्रह्म एक ही हैं। वल्लभाचार्य की सब से प्रिय उपमा अग्नि और स्फुलिंग का संबंध है। जैसे अग्नि से स्फुलिंग या चिनगारियां निकलती हैं वैसे ही ब्रह्म से चित् और अचित्, जीव और जगत्, उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार द्वैत कहीं है ही नहीं, अद्वैत ही परमार्थ सत्य है। 'ब्रह्म ने इच्छा की कि मैं एक से बहुत

हो जाऊँ'; अपने को अभिव्यक्त करना ब्रह्म का स्वभाव है, वही सृष्टि का हेतु है।

जीव अणु है। मुक्ति का अर्थ भगवान् के साथ रहकर उनकी लीलाओं का आनंद लेना है। भक्ति मोक्ष का मुख्य साधन है और ज्ञान गौण। शरीर भगवान् का मंदिर है, उसे दुःख देने से कोई लाभ नहीं है। वल्लभ चार व्यूहों का सिद्धांत मानते हैं। सब कुछ ब्रह्म से उत्पन्न होता है, 'तत्वमसि' (वह तू है) का अक्षरार्थ ही वास्तविक अर्थ है। तिलक और तुलसी का धारण, वर्णाश्रम धर्म का पालन और सेवा, पुष्टि-मार्ग की मुख्य शिक्षाएं हैं। भगवान् के अनुग्रह में विश्वास रखना चाहिए। शुद्धाद्वैत-मार्त्तण्ड में लिखा है—

ये तु ज्ञानैक संनिष्ठास्तेषां लय एव हि,

भक्तानामेव भवति लीलास्वादः अति दुर्लभः।

अर्थात् जो केवल ज्ञानी हैं उनका भगवान् में लय हो जाता है। अपने व्यक्तित्व को बनाए रख कर भगवान् की लीलाओं का अति दुर्लभ आस्वाद भक्तों के लिए ही है।

वल्लभाचार्य का प्रभाव

वल्लभ के पुष्टि मार्ग का उत्तर-भारत पर बहुत प्रभाव पड़ा। कृष्ण-भक्तिका उपदेश इस सम्प्रदाय की प्रसिद्धि का मुख्य कारण हुआ। बहुत से श्रेष्ठ कवि, जिनमें सूर-दास और मीरा का नाम मुख्य है, इस मत के अनुयायी बन गये और उन्होंने अपनी सरस काव्यसृष्टि से उत्तर-भारत को कृष्ण-भक्ति में डुबा दिया। हिंदी-साहित्य में जिन्हें 'अष्टछाप' के कवि कहते हैं वे वल्लभाचार्य के ही अनुयायी थे।[१] वल्लभ से पहले मध्व-संप्रदाय ने भी कवियों को

---

[१] देखिये श्यामसुंदर दास-कृत 'हिंदी भाषा और साहित्य' पृ० ४०७

प्रभावित किया था। मध्व संप्रदाय से प्रभावित होने वाले हिंदी-कवियों में विद्यापति मुख्य हैं।[1]

बंगाल में वैष्णव-धर्म और भक्ति-मार्ग का प्रचार करनेवालों

श्री चैतन्य महाप्रभु

में चैतन्यदेव का नाम मुख्य है। उनका जन्म १४८५ ई० में हुआ। श्री चैतन्य पर विष्णु-पुराण, हरिवंश-पुराण और भागवत का बहुत प्रभाव पड़ा और वे राधा-कृष्ण के अनन्य भक्त बन गए। उनकी शिक्षा को दार्शनिक आधार जीव गोस्वामी (सोलहवीं शताब्दी) ने दिया। चैतन्य का व्यक्तित्व आकर्षक था। वे जाति-पाँति के भेदों से ऊपर थे। उन्होंने कई मुसल्मानों को अपना शिष्य बनाया। जीव गोस्वामी का 'शत-सन्दर्भ' और बलदेव का वेदांत पर 'गोविन्दभाष्य' उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। भक्ति-साहित्य वास्तव में प्रांतीय भाषाओं में विकसित और परिवर्द्धित हुआ है।

चैतन्य-संप्रदाय में विष्णु ही अंतिम तत्त्व है। विष्णु या कृष्ण की तीन शक्तियां हैं चित्, माया और जीव। चित्-शक्ति से भगवान् अपने गुणों को अभिव्यक्ति करते हैं। उनकी आनंद-शक्ति (ह्लादिनी) का व्यक्तस्वरूप राधिका (कृष्ण-प्रिया) हैं। माया-शक्ति से भगवान् जड़-जगत् को उत्पन्न करते हैं और जीव-शक्ति से आत्माओं को। जीव भगवान् से भिन्न है और अणुपरिमाण वाला है। जीव और जगत् भगवान् के विशेषण नहीं हैं, उनकी शक्ति की अभिव्यक्तियां हैं। बलदेव ने माया को प्रकृति वर्णन किया है जिसमें भगवान् के ईक्षणमात्र से गति उत्पन्न होती है।

मोक्ष का अर्थ है भगवान् की प्रीति का निरंतर अनुभव। प्रेम ही मुक्ति है, भक्ति ही वास्तविक मोक्ष है। भगवद्-भक्ति की प्राप्ति ही

---

[1] वही, पृ०४०६

जीवन का लक्ष्य है। विशुद्ध प्रेम और काम-वासना में ज़मीन-आस्मान का अंतर है। ज्ञान की अपेक्षा भी भक्ति श्रेष्ठ है; भक्ति के बिना भगवान नहीं मिल सकते।

सिंहावलोकन

अपनी पहले और दूसरे भाग की भूमिकाओं में हमने इस बात पर ज़ोर दिया था कि विभिन्न दार्शनिकों और आचार्यों में मतभेद है; यही नहीं हमने यह भी कहा था कि मतभेद अच्छी चीज़ है और किसी राष्ट्र या जाति की उन्नति का अन्यतम कारण है। क्योंकि हमें भारत के दार्शनिक इतिहास का खण्ड-खण्ड करके वर्णन करना था, इसलिये इस 'भेद' पर गौरव देना आवश्यक था। अन्यथा इस बात का भय था कि पाठक विभिन्न संप्रदायों की विशेषताओं और सूक्ष्मताओं पर ध्यान देने के कष्ट से बचने की चेष्टा करते। अब जब कि हम विभिन्न मतों का अलग-अलग अध्ययन कर चुके हैं, यह आवश्यक है कि हम संपूर्ण भारतीय-दर्शन पर एक विहंगम-दृष्टि डालें और सब दर्शनों की सामान्य विशेषताओं को समझने की कोशिश करें। भारत में प्राचीन काल से राजनीतिक नहीं, किंतु धार्मिक और सांस्कृतिक एकता रही है; भारत के सारे हिंदुओं में यह एकता आज भी अक्षुण्ण है। इस सांस्कृतिक और धार्मिक एकता का दार्शनिक आधार क्या है, यह जानने योग्य बात है।

जैसा कि हम कह चुके हैं भारतीय दार्शनिक ससीम से असंतुष्ट होकर असीम की खोज में रहे हैं। शास्त्रीय भाषा में वे मोक्षार्थी थे। मोक्ष का अर्थ देश-काल के बंधनों से छुटकारा पाना है। भारतीय-दर्शन का विश्वास है कि बंधन और दुःख आत्मा का स्वभाव नहीं है और यदि उन्हें स्वभाव मान लिया जाय तो मुक्ति संभव न हो सकेगी। आत्मा अजर, अमर और शुद्ध-बुद्ध है, सब प्रकार का बंधन अज्ञानकृत है और

ज्ञान से नष्ट हो सकता है। बंधन और बंधन का हेतु तथा आत्मा की यह द्वैत भारतीय-दर्शन की मूल धारणा है। आलोचकों का यह कथन कि भारतीय-दर्शन इस लोक से विमुख और परलोक में अनुरक्त है, बहुत हद तक ठीक है। परंतु साधनावस्था इस लोक की ही चीज़ है, इसलिए लौकिक व्यवहारों को भी महत्त्व देना पड़ता है।

उपर्युक्त 'द्वैत' भारत के सभी दर्शनों में वर्त्तमान है। जैन-दर्शन 'कार्मण-वर्गणा' या कर्म-परमाणुओं से अलग होने को मोक्ष कहता है; सांख्य-योग में प्रकृति का संसर्ग छूटना ही कैवल्य है। न्याय-वैशेषिक के जीव की मोक्ष ज्ञान-शून्य अवस्था है; यही मीमांसा का मत है। परंतु यदि प्रकृति और पुरुष दोनों को समान रूप से पारमार्थिक माना जाय तो मोक्ष-दशा में उनमें संबंध होना अनिवार्य है। इसलिए वेदांत का कहना है कि 'बंधन और बंधन के हेतु' की वास्तविक सत्ता नहीं है। जगत् माया का प्रपंच है, उसकी केवल व्यावहारिक सत्ता है जो मुक्त पुरुष के लिए नहीं रहती। ऐसी दशा में मुक्त पुरुष और प्रकृति के संबंध का प्रश्न ही नहीं उठता।

वेदांत को 'अद्वैतवाद' कहा जाता है परंतु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वेदांत भी द्वैत-दर्शन है। तीन प्रकार की सत्ताएं, सत्, असत् और अनिर्वचनीय, व्यावहारिक सत्य और परमार्थ सत्य आदि की धारणाएं द्वैत-मूलक हैं। यह द्वैत बंधन और मोक्ष के ही मूल में वर्त्तमान हैं। यदि वास्तव में किसी दर्शन को अद्वैतवाद कहा जा सकता है तो वह भक्ति-मार्गियों का दर्शन है। भगवद्गीता और रामानुज के सिद्धांत वास्तविक अद्वैत हैं; वहां जीव और जगत् को ब्रह्म की दो प्रकृतियां (परा और अपरा) या विशेषण अथवा प्रकार कथन किया गया है। वल्लभाचार्य के मत में चित् माया और जीव ब्रह्म की शक्तियां हैं। रामानुज की फिलॉसफी तो हीगल फिलॉसफी से मिलती-जुलती है। भेद वास्तविक

है; चरम-तत्त्व की एकता भेदों में अभिव्यक्त हो रही है। भेद ही 'एक' का जीवन है। भेदों का सामानाधिकरण्य (एक अधिकरण में रहने का स्वभाव) ही रामानुज के विशिष्टाद्वैत का मूल-मंत्र है। रामानुज के मत में शरीर और जीव दोनों ब्रह्म के विशेषण हैं; वे उन दोनों में अन्य की तरह घोर द्वैत नहीं मानते। मुक्ति में भी जीव का शरीर होता है। रामानुज ने जीवों को स्पिनोज़ा की अपेक्षा अधिक व्यक्तित्व और स्वतंत्रता देने की कोशिश की है।

परंतु इससे पाठक यह न समझ लें कि द्वैतवाद कोई बुरी चीज़ है या रामानुज शंकर से बड़े दार्शनिक हैं। हर प्रकार के अद्वैतवाद में कठिनाइयां हैं। 'एक' से 'अनेक' की उत्पत्ति कैसे होती है? विश्व-तत्त्व एक साथ ही 'सम' और 'विषम' कैसे हो सकता है? सारे दार्शनिक अंतिम तत्त्व को निरञ्जन, निर्विकार और निर्द्वंद कथन करते हैं, फिर संसार में विकार और द्वंद्व कहां से आ जाते हैं? संसार में दुःख, निराशा, भय, घृणा, द्वेष क्यों हैं? विशुद्ध ब्रह्म इन सब का कारण हो सकता है, यह समझ में नहीं आता। अपने जीवन की सब मूल्यवान् वस्तुओं—विद्या, प्रेम, महत्त्वाकाङ्क्षा, पाप, पुण्य आदि—को माया कहने को भी जी नहीं चाहता। ऐसे ब्रह्म को हम क्या करें जिसे हमारे तुच्छ जीवन से कोई सहानुभूति नहीं है?

जड़ और चेतन का भेद मानकर भारतीय-दर्शनों ने चेतन-तत्त्व पर बड़े मनोयोग से विचार किया है। 'बहुदेववाद' और 'तटस्थेश्वरवाद' को ठुकरा कर वे चैतन्य-तत्त्व की एकता के सिद्धांत पर उपनिषत्काल में ही पहुँच गये। उपनिषदों में ही ब्रह्म-परिणामवाद अथवा 'माया-शून्याद्वैत' भी पाया जाता है। चेतन-संबंधी विचारों में इतनी जल्दी किसी देश में विकास नहीं हुआ।

साधना-संबंधी विचारों में भारतीय दर्शन काफ़ी विचित्रता उपस्थित करता है। वैदिक-काल की साधना देवस्तुति और सरल यज्ञ थे। इसके बाद 'कर्मकाण्ड' का अभ्युदय हुआ और वर्णाश्रम-धर्म की शिक्षा शुरू हुई। यह शिक्षा अथवा आदर्श अपने विकृत रूप में आज भी चला जाता है। 'यौगिक क्रियाओं' की शिक्षा सर्व साधारण के लिये न थी, वह गृहस्थ-धर्म के अनुकूल भी न थी। इसलिए 'कर्मयोग' और 'ज्ञानयोग' का जन्म हुआ जिनके संमिश्रण से 'समुच्चयवाद' (ज्ञान और कर्म दोनों से मोक्ष-प्राप्ति के विश्वास) का उदय हुआ। इन सब के साथ ही भागवत-धर्म की भक्ति-विषयक शिक्षा भी चलती रही जिसने बाद को भारत पर पूरा आधिपत्य जमा लिया।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के क्रिश्चियन(ईसाई) आलोचक इस बात पर बहुत जोर देते हैं कि भारत के लोग जगत् को मिथ्या और सामाजिक व्यवहारों को झूठ समझते हैं। उनकी सम्मति में 'वेदांत-दर्शन' ही भारत का प्रतिनिधि दर्शन है और उसमें मायावाद की शिक्षा है। इस प्रकार की आलोचना आलोचकों के पक्षपात और मूर्खता की परिचायक हैं। हम कह चुके हैं कि वेदांत ने नैतिक जीवन की आवश्यकता से कभी इनकार नहीं किया। चरित्र की शुद्धता पर जितना भारतीय दर्शन ने ज़ोर दिया है उतना किसी ने नहीं दिया। इसका कारण यहां पर धर्म और दर्शन में भेद न करना था। भारत में वेदांत के अतिरिक्त अन्य दर्शनों का भी यथेष्ट प्रचार रहा है। न्याय और मीमांसा समय-समय पर प्रसिद्ध दर्शन रह चुके हैं। वस्तुतः शंकर का 'ज्ञानयोग' मीमांसा के बढ़े हुए प्रभाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। शंकर का मायावाद जनता में कभी प्रसिद्ध नहीं हुआ। भारतीय जनता के धार्मिक और दार्शनिक विचारों का स्रोत पुराण-ग्रंथ रहे हैं। प्रायः सभी पुराण जीव और प्रकृति के ईश्वर से अलग तथा ईश्वर पर निर्भर होने की शिक्षा

देते हैं। पुराणों के दर्शन को हम 'सेश्वर सांख्य' कह सकते हैं। भिन्न-भिन्न पुराणों में ईश्वर को शिव, विष्णु, देवी आदि नामों से अभिहित किया गया है। मतलब एक ही परम-तत्व से है जो जगत् का आधार है।

प्राचीन काल से भगवद्गीता हिंदुओं का प्रिय ग्रंथ रहा है और उस में स्पष्ट ही कर्मयोग तथा भक्ति का प्रतिपादन है। रामानुज के बाद से तो भारतीय स्पष्टरूप से भक्ति-मार्गी बन गये। अद्वैत-वेदांत के शिक्षक भी भक्ति-मार्ग के प्रभाव से वंचित न थे। शंकराचार्य कहते हैं,

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः।

अर्थात हे भगवन्! भेद मिट जाने पर भी मैं आप का कहलाउँगा न कि आप मेरे। तरंग को 'समुद्र की' बतलाया जाता है; समुद्र 'तरंग का' है, ऐसा कोई नहीं कहता।

आश्चर्य की बात है कि रामानुज से प्रारंभ करके निंबार्क, मध्वाचार्य, कबीर, दादू, नानक, वल्लभाचार्य, तुलसीदास, सूरदास, चैतन्यदेव, तुकाराम, समर्थ स्वामी (शिवाजी के गुरु) आदि ने जो भारत के कोने-कोने में भक्ति की धारा प्रवाहित की उसे भारत के यह धुरंधर आलोचक देख ही नहीं सकते। शिव, विष्णु, राम और कृष्ण पर लिखे गये भारतीय भक्ति-काव्य के सामने योरुप का सारा ईसाई-साहित्य तुच्छ और नीरस है। हम ऐसा पक्षपात-वश नहीं कहते, यह ऐतिहासिक तथ्य है। शिव संबंधी भक्ति-काव्य के विषय में बार्नेट कहता है—

'संसार के किसी धर्म ने इतना समृद्ध तथा कल्पना, चमत्कार, भाव, और सौष्ठव-युक्त भक्ति-काव्य उत्पन्न नहीं किया है।'[1]

---

[1] दी हार्ट आफ इण्डिया, पृ० ८२

यह एक निष्पक्ष विद्वान् के भारतीय भक्ति-काव्य के एक अंश के विषय में उद्‌गार हैं। बार्नेट ने हिंदी के सूरसागर, विनय-पत्रिका आदि का अध्ययन नहीं किया होगा अन्यथा वह शैव-भक्ति-काव्य को ही इतना महत्त्व न दे देता। भक्ति-काव्य भारतीय साहित्य की स्पृहणीय विशेषता है। आज भी वैष्णव-साहित्य से प्रभावित रवींद्रनाथ की 'गीताञ्जलि' ने सहज ही पश्चिम को मोह लिया।

आधुनिक काल में श्री लोकमान्य तिलक ने 'गीता रहस्य' लिखकर 'कर्मयोग' को प्रसिद्धि देने की कोशिश की है। संसार के सब से बड़े कर्मयोगी महात्मा गांधी को उत्पन्न करने का श्रेय आज भारत को ही है। गीता का 'कर्मयोग' साधना-क्षेत्र में भारतवर्ष का सब से बड़ा आविष्कार है। जड़वाद और प्रतिद्वन्द्विता से पीड़ित योरुप को भी आज उसी की आवश्यकता है। आल्डुअस हक्सले नामक लेखक का विचार है कि "संसार का त्राण 'निष्काम कर्म' के आदर्श से ही हो सकता है।"

आधुनिक स्थिति

राजनीतिक स्वतंत्रता और बौद्धिक साहस साथ-साथ चलते हैं। यह ठीक है कि हम मुसलमानों के राजत्व काल में सत्रहवीं शताब्दी तक भिन्न-भिन्न विषयों पर संस्कृत में ग्रंथ-रचना होती हुई पाते हैं, फिर भी उस की प्रगति मंद अवश्य पड़ गई। भारतीय इतिहास के पूर्वार्द्ध में जैसे उच्चकोटि के विचारक उत्पन्न हुये वैसे उत्तरार्द्ध में दिखलाई नहीं देते। दर्शनों के प्रणेता, शंकर, रामानुज, प्रशस्तपाद, उद्योतकर, वाचस्पति, उदयन और गंगेश जैसे मौलिक विचारकों की संख्या दिन-प्रति-दिन कम होती गई। यह मानना ही पड़ेगा कि भक्ति मार्ग के शिक्षकों में दार्शनिक प्रौढ़ता कम है। मध्व, वल्लभ, निंबार्क आदि की तुलना पहले आचार्यों से नहीं की जा सकती। उत्तर काल के लेखकों में तार्किकता तो है, पर मौलिकता नहीं है। साथ ही उसकी रचनाओं में एक विशेष

कट्टरपन का भाव है जो आंशिक निर्जीवता का लक्षण है। हिन्दू धर्म और दर्शन की इस कट्टरता का भी ऐतिहासिक कारण है। कड़े सामाजिक, धार्मिक और व्यावहारिक नियम बना कर हिंदुओं ने अपने धर्म और संस्कृति को विदेशियों के प्रभाव से बचाने की कोशिश की। कट्टरता के अभाव में, संभव है कि हिंदू-सभ्यता और संस्कृति मुस्लिम-सभ्यता में लीन होकर नष्ट हो जाती। भक्ति-काव्य की करुणा और भगवान् के सम्मुख दीनता का भाव भी कुछ-कुछ हिंदुओं की राजनीतिक हीनता का परिचायक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी जाति के सामाजिक और धार्मिक जीवन तथा विचारों पर राजनीतिक स्थिति का निश्चित प्रभाव पड़ता है।

मुसलमानों के शासन-काल में हमारी दार्शनिक प्रगति रुकी रही, इसका एक और भी कारण था। यवन-विजेता अपने साथ प्रौढ़ एवं नवीन दार्शनिक विचार नहीं लाये जिनके संघर्ष एवं प्रतिक्रिया में यहाँ दार्शनिक-प्रगति होती। ब्रिटिश राज्य के आने पर भारतीय पहले की भाँति परतंत्र तो रहे, किंतु परिस्थितियों में बहुत परिवर्तन हो गया। अब भारतीयों को धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता मिली। इसके साथ ही उनका धीरे-धीरे पश्चिमी साहित्य से गहरा संपर्क हुआ। इस संपर्क ने यहाँ के शिक्षितों को जाग्रत और सचेत कर दिया। अधिकांश शिक्षित अथवा अर्द्ध शिक्षित लोग पश्चिम के प्रवाह में बह गये, और अपने देश की सभ्यता एवं संस्कृति को हीन-दृष्टि से देखने लगे। किंतु अधिक बुद्धिमान तथा सुशिक्षित लोगों में दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। एक ओर जहाँ वे स्वतन्त्रचेता पश्चिमी विचारकों के बुद्धिवैभव से चकित हुये वाँह दूसरी ओर अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये, उनमें यह भावना भी उत्पन्न हुई कि भारत के प्राचीन सांस्कृतिक वैभव को प्रशंसनीय रूप में योरोपीयों के सामने प्रस्तुत करें। इस भावना को योरुप के पण्डितों से

भी प्रोत्साहन मिला। जहाँ ब्रिटिश शासक सत्ता के गर्व से चूर रहे, वहाँ योरुप के श्रेष्ठ विद्वान्, जिन्होंने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया, भारतीय संस्कृति, यहाँ के साहित्य, दर्शन आदि की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगे। मैक्समूलर, कोलब्रुक, माँनियर विलियम्स, आदि इसी कोटि के विद्वान् थे। योरुप के दूसरे पंडितों ने प्रच्छन्न रूप से यह सिद्ध करने की चेष्टा भी की कि भारतीयों ने बहुत कुछ यूनानियों से ग्रहण किया, और कुल मिलाकर, उनकी सभ्यता एवं संस्कृति योरुप से कहीं हीन है। ऐसे पंडितों में गार्बे, कीथ आदि का नाम लिया जा सकता है। भारत के सचेत देशभक्त युवक बहुत-कुछ इन दूसरी कोट के योरुपीय विद्वानों के खण्डन एवं उनके विरुद्ध भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता प्रमाणित करने में लग गये। राजा राममोहनराय, श्री रमेशचंद्र दत्त, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, कवि रवीन्द्रनाथ, डा० गंगानाथ झा, डा० राधाकृष्णन्, डा० दासगुप्त, डा० रानाडे आदि ने यही करने का प्रयत्न किया है।

विदेशियों की प्रशंसा का कुछ भारतीयों पर, जिनमें से अधिकांश योरुपीय साहित्य से अपरिचित थे, उलटा प्रभाव पड़ा। वे समझने लगे कि भारत की तुलना में योरुप कुछ है ही नहीं और, कम से कम दर्शन के क्षेत्र में, योरुप को भारत से बहुत कुछ सीखना है। किंतु इस प्रकार की धारणायें योरुपीयन पंडितों की गुण-ग्राहकता का दुरुपयोग और हमारी अनुग्राहकता की द्योतक हैं। वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञान के सब क्षेत्रों में इस समय हमें योरोप से बहुत कुछ सीखना है।

हममें स्वाभिमान हो यह अच्छी बात है; प्रत्येक स्वतंत्र देश के नागरिकों को स्वाभिमानी होना चाहिये। हमने बाहर वालों को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि हमारे पूर्वज महान् थे वह

भी उचित ही हुआ। किंतु इतना यथेष्ट नहीं है। अब प्रश्न यह है कि हमारे इस स्वाभिमान की रक्षा किस प्रकार की जाय? हमारा स्वाभिमान तभी रक्षित रह सकता है जब कि हम स्वयं वैसा ही मौलिक एवं साहसपूर्ण चिंतन करने लग जाँय जैसा कि हमारे पूर्वज विचार करते थे।

दर्शन का अर्थ दार्शनिक साहित्य नहीं है। वह प्राचीन विचारकों की शिक्षाओं का अध्ययन एवं आवृत्तिमात्र भी नहीं है। प्राचीन दर्शनों का अध्ययन साधन है, साध्य नहीं। दर्शन का वास्तविक अर्थ है दार्शनिक चिंतन, दार्शनिक समस्याओं में जीवित अभिरुचि, ऐसी अभिरुचि जो प्रतिदिन उन समस्याओं के नये समाधान खोजने को प्रेरित करती हैं। एक दार्शनिक-जाति या राष्ट्र हम उसे कहेंगे जिसके सुशिक्षित सदस्य जीवन के संबंध में नित्य नये प्रश्न उठाते और उन पर नई दृष्टियों से विचार करते हैं; साथ ही जहां की साधारण जनता उन प्रश्नों तथा उनसे संबंद्ध आलोना-प्रत्यालोचना में गहरी अभिरुचि लेती है। इस दृष्टि से जाँचने पर हम पाते हैं कि आज इंगलैंड, अमरीका आदि में दर्शन जीवित दशा में है, जब कि हमारे देश में वह मृतप्राय हैं। योरुप अपने जीवन के प्रत्येक दशाब्द में दो एक नये वादों अथवा सिद्धांतों की सृष्टि करता रहता है; इसके विपरीत हमारे देश में किसी नवीन स्वदेशीवाद की चर्चा नहीं सुनाई देती। हमारे अधिकांश युवक बड़े उत्साह और कट्टरता से अपने को विभिन्न विदेशी विचारकों—जैसे बर्ट्रेंड रसेल अथवा कार्लमार्क्स—का अनुयायी घोषित करते फिरते हैं, उनके मस्तिष्क में यह बात कभी नहीं आती की वे जीवन के संबंध में स्वयं सोच कर नये वादों का प्रचार करें। भारतीय मस्तिष्क के इस दैन्य और साहसहीनता पर आश्चर्य और दुख: होता है। इस दीनता

के वातावरण में संभवतः, गांधी जी के नैतिक,सामाजिक एवं राजनीतिक विचार ही मौलिकता एवं साहस का ज्वलंत प्रतीक रहे हैं।

तो, भारत में फिर से स्वतंत्र दर्शन अथवा दार्शनिक चिंतन का उदय कैसे हो ? पहली शर्त है कि हम अपने विचारों, अपने अन्वेषण फलों आदि को अपनी भाषा में व्यक्त करने के अभ्यस्त बनें। इस प्रकार हम भारतीय जनता के निकट हो सकेंगे और हमारे चिंतन को जनता के जीवन स्पन्दन से प्रेरणा मिल सकेगी। दूसरा, हम इस बात का लोभ छोड़ दें कि हमारे विचारों की योरुप तक पहुँच हो और उन्हें वहाँ सम्मान मिले। शंकर और वाचस्पति ने दूसरे देश वालों की प्रशंसा के लिए नहीं लिखा, उनकी कृतियों अथवा विचारों में बल था, इसी से उनकी ख्याति आज दूर-दूर पहुँच गई। यदि हमारे विचारों में शक्ति होगी तो कभी न कभी दूसरे देशों की दृष्टि उन पर पड़ेगी। अतः हमें चाहिये कि हम अपने देश के वातावरण एवं जीवन से संपर्क रखते हुए देशवासियों के लिए ही लिखें।

हमारे सामने कुछ दूसरी बाधायें भी हैं; अभी हमारे देशवासी, विशेषतः हिंदी पाठक, उच्चतम विचारों का स्वागत करने के लिए तैयार नहीं हैं। उनमें से अधिकांश पश्चिमी विचारों से अनभिज्ञ भी हैं। आवश्यकता यह है कि देशी भाषाओं में योरुप की समस्त विचार-राशि को ठीक से अनूदित कर लिया जाय, जिससे हिंदी पाठकों का आधुनिक विचारों की पृष्ठभूमि से परिचय हो जाय। इस परिचय के बाद ही हमारे देश के शिक्षित पाठक और विचारक नवीन दृष्टियों अथवा सिद्धांतों की सृष्टि में परस्पर सहयोग कर सकेंगे। हमारी समझ में देश की सरकार का सबसे बड़ा कर्तव्य

देशी भाषाओं में विश्व साहित्य को अनूदित कराना है। इस पृष्ठ-भूमि के तैयार हो जाने तथा शिक्षा का माध्यम देशी भाषायें बन जाने पर भारतीय प्रतिभा स्वतः ही मौलिक विचारकों को उत्पन्न करने लगेगी।

—०*०—